

एम.ए. (हिंदी)

सेमेस्टर-IV

विकल्प (ग) : नाटक एवं रंगमंच
प्रश्नपत्र 4011 : रंगमंच : सिद्धान्त और इतिहास

अध्ययन-सामग्री : इकाई-1-4



मुक्त शिक्षा विद्यालय
दिल्ली विश्वविद्यालय

हिंदी-विभाग
संपादक : डॉ. सुधीर कुमार शर्मा

स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम

विकल्प (ग) : नाटक एवं रंगमंच प्रश्नपत्र 4011: रंगमंच : सिद्धांत और इतिहास अध्ययन-सामग्री: इकाई 1-4

अनुक्रम

| | | |
|--------|--|--|
| इकाई-1 | पारम्परिक रंगमंच एवं नाट्यरूप (क) पारंपरिक रंगमंच की सामान्य विशेषताएँ (ख) प्रमुख पारम्परिक नाट्य रूप | डॉ. इन्दुजा अवस्थी |
| इकाई-2 | भरत, स्तानस्लॉवस्की, बर्तोल्त ब्रेख्त के अभिनय-सिद्धांत (क) ब्रेख्त के नाट्य सिद्धान्त और भारतीय परंपरा (ख) भरत, स्तानिस्लाव्स्की और ब्रेख्त के अभिनय सिद्धांत | डॉ. सुरेश अवस्थी डॉ. राधावल्लभ त्रिपाठी |
| इकाई-3 | हिन्दी रंग-चिन्तन (क) भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का रंग-चिन्तन (ख) जयशंकर प्रसाद: रंग-चिन्तन (ग) मोहन राकेश का रंग-चिन्तन | डॉ. रमेशकुमारी खनेजा |
| इकाई-4 | हिंदी रंगमंच का अध्ययन (क) अव्यावसायिक रंगमंच (ख) व्यावसायिक रंगमंच (पारसी रंगमंच) (ग) पृथ्वी थिएटर्स (घ) इफ्टा | डॉ. महेश आनंद डॉ. जगमोहन चोपड़ा डॉ. सत्येन्द्र तनेजा डॉ. सत्येन्द्र तनेजा |

सम्पादक

डॉ. सुधीर कुमार शर्मा



मुक्त शिक्षा विद्यालय

दिल्ली विश्वविद्यालय

5, केवेलरी लेन, दिल्ली-110007

पारम्परिक रंगमंच एवं नाट्यरूप

डॉ० इन्दुजा अवस्थी

(क) पारंपरिक रंगमंच की सामान्य विशेषताएँ

अभिप्राय और परम्परा—लोक, परम्परा अथवा पारंपरिक रंगमंच की संज्ञा उन नाट्य रूपों को दी जाती है जो जनसमुदाय के आनन्द-उल्लास की सामूहिक अभिव्यक्ति होते हैं तथा समाज में प्रचलित रूढ़ियों, धार्मिक अनुष्ठानों और लोक-कथाओं से जुड़े हैं। इसके साथ पारम्परिक रंगमंच में एक तरह की अनायासता और अनगढ़पन होता है जिसके कारण उसे नियमित नाटकों की धारा से अलग और शायद हीन भी माना जाता है, परन्तु भारतीय नाट्यरूपों में एक तो महाकाव्यों, पुराणों अथवा गाथा काव्यों से जुड़े होने के कारण साहित्यिकता का गुण है। दूसरे प्रदर्शन और संरचना के नियमों और अनुशासनों का निश्चित पालन किया जाता है, (वास्तव में भरत के नाट्य शास्त्र में बताये गये अनेक नियम व्यवहारों तथा विशेषताओं की पहचान हमारे लोक रंगमंच में ही मिलती है) इसी से भारतीय लोकनाटकीय विधाओं को पारंपरिक अथवा परम्पराशील रंगमंच कहना ही अधिक उपयुक्त है। परम्पराशील रंगमंच नाम देने पर इसके अधिक परम्परावादी अथवा रूढ़िग्रस्त होने का एहसास होता है, जबकि हमारे लोक रंगमंच में परंपरा तो है परन्तु एक निश्चित खुलापन भी है, इसी से लंबे समय से चले आने वाले इन नाट्यरूपों को पारंपरिक रंगमंच का नाम देना अधिक उपयुक्त है। भारतीय नाट्य की हजारों वर्ष पुरानी परंपरा की प्रारंभिक कड़ियाँ स्पष्ट नहीं हैं। संस्कृत के निश्चित नियमानुशासित नाटकों को प्राथमिक कहना संगत नहीं लगता। नाट्यशास्त्र में जितने विस्तार के साथ नाट्य प्रस्तुति के विधानों और प्रयोगात्मक अनुष्ठानों की चर्चा की गई है उसके आधार पर यह कहना संगत लगता है कि उसके पहले नाट्य प्रस्तुतियाँ होती थीं, इसके अतिरिक्त संस्कृत नाटकों की प्रस्तुतीकरण के संबंध में जो भी संकेत मिले हैं उनमें आज के पारम्परिक रंगमंच के कई-तत्त्व स्पष्ट हैं। अतः यह मान लेना शायद उचित हो कि संस्कृत नाट्य परंपरा के पहले भी लोक-प्रचलित कोई सम्पन्न नाट्य परंपरा थी जो एक ओर संस्कारित होकर संस्कृत के महान् नाटकों के रूप में प्रतिफलित हुई और दूसरी ओर अनेक रूपों और शैलियों में भारत के विभिन्न प्रदेशों के पारंपरिक रंगमंच के रूप में प्रवाहित होती रही।

परम्परा—वैदिक साहित्य में स्वतंत्र विद्या के रूप में नाटक का अस्तित्व नहीं मिलता परन्तु ऋग्वेद में लगभग एक दर्जन संवाद सूत्र हैं, जिनमें कथानक एवं नाटकीय-कार्यव्यापार की कुछ झलक मिलने के कारण विद्वानों ने नाटक का पूर्व रूप माना है। अधिक प्रसिद्ध एवं नाटकीयता से परिपूर्ण संवाद सूत्र हैं: पुरुरवा उर्वशी संवाद, यम-यमी संवाद, विश्वामित्र नदी, नेमा भार्गव और इन्द्र तथा अगस्त्य, लोपा-मुद्रा संवाद। रामायण और महाभारत दोनों में ही नाट्य प्रदर्शनों का उल्लेख मिलता है और विवरण के आधार पर इन्हें पारंपरिक रंगमंच की प्रस्तुतियों माना जा सकता है। पतंजलि के महाभाष्य में कंस वध एवं बलिवध नामक दो प्रदर्शनों का नाम आया है। बताया गया है कि शौभनिक कंस का वध अथवा

बलि को बाँधने का अभिनय करते हैं और ग्रन्थिक कथा-गायन करते हैं। स्पष्ट है कि प्रस्तुति की यह शैली पारंपरिक रंगमंच की है। जैनों के राउपसेनिय सूत्र (राजप्रश्निक सूत्र) में “तीर्थकर चरित” नामक नाट्य-विधि का उल्लेख मिलता है जिसमें महावीर के देवलोक से अवतर, और उनके सांसारिक जीवन की घटनाओं को नृत्य संगीत के साथ प्रस्तुत किया गया था। आज के रामलीला और रासलीला जैसे धार्मिक नाट्यरूपों के मूल तत्त्व-अवतार के चरित का संगीत के साथ प्रस्तुतीकरण के कारण इसे हमारे पारम्परिक रंगमंच की पूर्वपीठिका कहना उचित होगा।

क्लासिकीय रंगमंच में रूपक एवं उपरूपक इन दो प्रकार की प्रस्तुतियों का उल्लेख है, इनमें से उपरूपक और कई रूपक भेदों में भी पारंपरिक रंगमंच की विशेषताएँ मिलती हैं। उपरूपकों के विवरण में बताया गया है कि कथानक पौराणिक होते थे, संगीत और नृत्य की प्रधानता होती थी, और लोकभाषा का प्रयोग किया जाता था (संस्कृत का नहीं)। श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी का कथन है कि इन उपरूपकों में अधिकांश की एकाध पुस्तक भी नहीं मिल पाती, संभवतः ये लोकनाट्य रूप में जीते हों। साहित्य दर्पण में अठारह उपरूपकों का विवरण है उनमें से नाट्य रासक, हल्लीसक आदि को रास, चर्चरी फागु आदि पारंपरिक नाट्यों का पूर्वरूप मानना संगत लगता है।

वैष्णव भक्ति आन्दोलन—पौराणिक और सामाजिक कथानकों को लेकर नकल, स्वांग आदि निरंतर लोक के बीच प्रचलित रहे। वैष्णव भक्ति का प्रादुर्भाव होने पर उसका प्रभाव संगीत, वस्तुकला, मूर्तिकला एवं साहित्य सभी पर पड़ा। वैष्णव भक्ति धारा में ईश्वर के अवतार राम और कृष्ण की लीलाओं के गान एवं उनका नाटकीय प्रस्तुतीकरण भक्ति के प्रधान भूमिका के रूप में स्वीकृत हो गई। अतः रामलीला एवं रासलीला के प्रादुर्भाव एवं विकास में भक्ति आंदोलन का निश्चित योगदान है।

भाषा नाटक—चौदहवीं शताब्दी तक संस्कृत नाटकों का रूप परिवर्तित होने लगा था, प्रस्तुतियों में गीत और नृत्य का प्रयोग बढ़ गया था। उस समय देश के विभिन्न भागों में ऐसे नाटक लिखे जाने लगे जिनमें संस्कृति संवादों के साथ भाषा गीतों का समावेश है। मिथिला में कीर्तनियाँ नाटकों की रचना हुई और असम में शंकर देव ने अंकिया लिखे। इन नाटकों के कथानक पौराणिक होते हैं और संगीत नृत्य का अत्यधिक प्रयोग होता है। ये नाट्य प्रस्तुतियाँ हमारे पारम्परिक रंगमंच का अंग बनीं।

रास की परंपरा—रास नृत्य का उल्लेख उपरूपकों के प्रकरण में रासक और हल्लीसक के रूप में किया गया है, शारदातनय ने चर्चरी का भी उल्लेख किया है। पन्द्रहवीं शताब्दी तक ब्रजमंडल देश के विभिन्न भागों में अपने वाले वैष्णव भक्तों का केन्द्र हो गया था। कृष्ण की लीलाओं का गान और रासनृत्य की संकल्पना तो थी ही, उसके साथ चरिताभिनय की संकल्पना भी जुड़ गई और अभिनय, संवाद, नृत्य एवं भाषा-गीतों से सम्पन्न रंग-पद्धति अथवा रासलीला आरम्भ हो गयी। रामायण के अभिनय का उल्लेख हरिवंश पुराण में मिलता है जहाँ प्रद्युम्न ने नट बनकर बाणासुर के दरबार में रामायण का अभिनय प्रस्तुत किया था, रासलीला के प्रभाव स्वरूप रामलीला नाम ग्रहण करके और तुलसी के रामचरित मानस का आधार लेकर रामलीला समूचे हिन्दी प्रदेश का प्रधान पारंपरिक नाट्य बन गई।

16वीं शताब्दी से लेकर अब तक पारम्परिक रंगमंच के विविध रूप विभिन्न प्रदेशों में व्यापक रूप से प्रस्तुत होने लगे। सांग, नौटंकी, जात्रा, मांच, ख्याल, ये सभी जन सामान्य के बीच अत्यधिक लोकप्रिय होते गये और आज तक लगभग उसी रूप में प्रस्तुत होते हैं। 20वीं शताब्दी के आरम्भ से ही पाश्चात्य प्रभाव के कारण नागर रंगमंच का विकास हुआ और उसका स्वरूप और प्रस्तुति पाश्चात्य पद्धति पर ही होने लगी। तभी कुछ समय के लिए नागर रंगमंच और पारम्परिक रंगमंच के बीच अलगाव उत्पन्न हो गया। इधर हमारे नये नाट्यकार एवं निर्देशक फिर पारम्परिक रंगमंच की लोक में गहरी व्याप्त लोकप्रियता और हमारी अपनी जड़ों की पहचान उनमें फिर से एक नये रूप में पारम्परिक रंगमंच की ओर आकर्षित हो रहे हैं, सरकार की ओर से भी पारम्परिक नाट्य प्रस्तुतियों को बढ़ावा और सहायता मिल रही है और हमारा पारम्परिक रंगमंच जो विभिन्न प्रदेशों में अलग-अलग शैलियों और बोलियों में बराबर समूचे देश लोक-संस्कृति का कला-शृंगार बना रहा नागर संस्कृति में भी समाहत हो रहा है।

पारम्परिक रंगमंच की सामान्य प्रवृत्तियाँ—पारंपरिक नाट्य-परंपरा प्रधानतया मौखिक रही है और इसलिए उसके आलेख सुरक्षित नहीं रह सके परन्तु फिर भी अभिव्यक्ति की विविधता संपन्नता और परिणाम की दृष्टि से बहुत समृद्ध है। अधिकतर यह माना जाता है कि पारंपरिक नाटक एक रूपहीन कृति होती है और उसकी रचना के कोई नियम और व्यवहार नहीं होते परन्तु भारतीय पारंपरिक रंगमंच में ऐसी बात नहीं है। युगों से चले आने वाले हमारे पारंपरिक नाट्यरूपों में सुनिश्चित नियम और रूढ़ियाँ हैं, और अलग-अलग प्रदेशों तथा शैलियों के नाट्यरूपों में कुछ प्रवृत्तियाँ समान हैं।

कथानक और विषयवस्तु—पारम्परिक रंगमंच में तीन प्रकार की कथावस्तु मिलती है। पौराणिक कथाओं या पात्रों से सम्बद्ध, दूसरे सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों की प्रतिक्रिया स्वरूप यथार्थ जीवन को प्रदर्शित करने वाली कथा में, तीसरे प्रेम और शौर्य के आख्यान। प्रेमाख्यानों की परम्परा सांग और संगीत में विशेषकर विकसित हुई।

धार्मिक नाटकों में पौराणिक कथानकों का प्रयोग किया जाता है। रामचरित, कृष्णकथा, सत्य हरिश्चन्द्र और प्रह्लाद-चरित के कथानक असम से केरल तक हर नाट्यरूप में अभिनीत होते हैं, लोक कथानकों पर आधारित नाट्यरूपों में भी पौराणिक कथानकों से सम्बन्धित नाटक अवश्य खेले जाते हैं, जैसे मांच पद्धति में रामलीला मांच, नौटंकी में रामायण अथवा सत्यहरिश्चन्द्र जैसे नाटक। एक और रोचक रूढ़ि यह भी है कि जहाँ लौकिक नाट्य-परम्परा के नाटकों में सामाजिक जीवन के कुछ परिचित व्यापारों का उल्लेख अथवा सामाजिक कुरीतियों पर स्पष्ट व्यंग्य प्रमुख स्थान रखता है, वहाँ धार्मिक नाटकों में भी बीच-बीच में लाये जाने वाले छोटे “प्रसंगों” अथवा कथा के बीच में ही स्थानीय अधिकारी अथवा किसी प्रवाद पर छींटा-कशी कर दी जाती है। तमिलनाडु के नाट्यरूप तेरूकुतु में कथानक पौराणिक कथाओं पर आधारित होते हैं परन्तु विदूषक की टिप्पणियाँ सामाजिक और सामयिक हो सकती हैं, वह दर्शकों के सहृदय न होने के लिए फटकार भी सकता है। इसी प्रकार महाराष्ट्र के पूर्णतया लोक-परक नाट्य तमाशा में कथा कोई भी हो, स्थानीय घटनाओं का उल्लेख कर दिया जाता है। कभी-कभी तो गम्भीर प्रसंगों के बीच किसी स्थानीय राजनीतिक नेता या व्यापारी के बारे में ऐसी तीखी व्यंग्यात्मक चुटकी ली जाती है कि समूचे दर्शक समाज के ठहाके गूँज उठते हैं। गुजरात के भवाई

में कजूस व्यापारी या रूढ़िवादी सामाजिक मुखियाओं की खिल्ली उड़ाई जाती है। वस्तुतः भारतीय जन की विनोद प्रवृत्ति, ठोस बुद्धि और तीखी प्रतिक्रिया इन प्रसंगों में दिखलाई देती है। इनसे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि भारत का तथाकथित “अनपढ़” मनुष्य भी बदलती हुई परिस्थिति और सामाजिक समस्याओं से भली भाँति परिचित है। पारिवारिक रंगमंच जहाँ मनोरंजन करता है, धार्मिक मनोभावों की अभिव्यक्ति करता है वहीं उपदेश भी दे सकता है और सामाजिक यथार्थ पर निरंकुश टिप्पणियाँ भी।

संवाद और भाषा-शैली—पारंपरिक नाट्यरूपों में संवादों का स्वरूप और उनका नाटकीय प्रयोजन पात्रों का परिचय देने अथवा दृश्यवर्णन करने का भी होता है (संस्कृत नाटकों में भी यह रूढ़ि देखने को मिलती है, जैसे मृच्छकटिक नाटक में विदूषक द्वारा वसन्तसेना के घर का वर्णन)। बहुत-से पात्र रंगमंच के बाहर घटी घटनाओं का परिचय देते हैं। संवाद पद्य और गद्य दोनों में ही होते हैं और लोक-गीतों की धुनों में भी। संवाद की दृष्टि से एक अन्य विशेषता यह है कि नाटक की अनेक कथा-स्थितियों में पात्र अकेला मंच पर छोड़ दिया जाता है और लम्बे स्वगत कथन प्रस्तुत करता है। पारम्परिक नाट्य में संवादों की शुद्धता और सही-सही दुहराने पर बहुत जोर नहीं दिया जाता है, कभी तो संवाद लिखे होते ही नहीं, अभिनेता स्वतः घटना के अनुसार संवादों की रचना कर लेता है अथवा लिखित संवादों में परिवर्तन कर लेता है। पारंपरिक नाट्यरूप क्षेत्रीय भाषाओं में प्रस्तुत किये जाते हैं, परन्तु भाषा में ग्राम्यता नहीं होती, वरन् काव्यमयता का सहज गुण होता है जो संगीत के साथ मिलकर और प्रभावशाली बन जाता है।

नाट्यालेख—सभी क्षेत्रों और जनपदों की पारंपरिक नाट्यशैली में अभिनय-परक दृश्य गान और एकालाप कथनों की प्रचुरता रहती है। इन नाट्य-रूपों का पाठ्य अंश बिलकुल सुनिश्चित और स्थिर नहीं होता, लिखित पाठ्य का प्रयोग करने पर भी उनको बदलते जाना एक स्वाभाविक-सी बात है। पात्र सदा लिखित पाठ्य से बंधे नहीं रहते, बोलते समय उन्हें जो भी बात सूझती है, उसका उल्लेख कर देते हैं। दर्शकों की रुचि और रुझान देखते हुए भी नाटकों के रूप छोड़े-बड़े कर दिये जाते हैं।

संगीत और नृत्य का प्रयोग—पारंपरिक रंगमंच में गायन भाव प्रकट करने का मुख्य साधन है। गद्य संवादों का प्रयोग होता तो है, परन्तु पद्य संवाद एवं गीतों की प्रधानता होती है, किसी-किसी में अलंकरण के लिए तालबद्ध गति विधान एवं कभी-कभी तो विशिष्ट शास्त्रीय शैलियों के नृत्यों का प्रयोग भी होता है।

संगीत लगभग सभी पारंपरिक नाट्यरूपों का एक प्रमुख अंग है। अधिकतर संगीत रागानुबद्ध होता है। (उत्तर-भारतीय नाट्यरूपों में हिन्दुस्तानी पद्धति और दक्षिण भारतीय रूपों में कर्नाटक संगीत का प्रयोग किया जाता है), परन्तु पारंपरिक रंगमंच का प्राण होती है लोक-धुनें। ढोलक, झांझ, मंजीरे, करताल, चिकारा, नरसिंहा, बांसुरी और अब हारमोनियम और सारंगी नाटक में आरंभ से लेकर अन्त तक बराबर बजते हैं और उत्सव का वातावरण बना देते हैं। नौटंकी का नक्कारा, मांच का ढोलक और भवाई का भूंगल बजते ही दूर-दूर से दर्शक-वृन्द नाट्यस्थली की ओर खिंचे चले आते हैं।

कुछ नाट्यरूपों में संगीत के साथ-साथ नृत्य का भी प्रयोग होता है। रासलीला के नृत्य-टुकड़े उत्तर भारत की शास्त्रीय कथक नृत्य-शैली का पूर्वरूप माने जाते हैं। आन्ध्रप्रदेश के भामाकलापम् में कुचिपुडि नृत्य-शैली का प्रयोग किया जाता है और यक्षगान तथा तेरकुत्तु में तीव्र गतियों और तीखी भंगिमाओं वाली लोक-आधारित नृत्य-शैलियाँ प्रयुक्त होती हैं।

गायक वृंद— लगभग सभी नाट्यरूपों में एक गायन-मंडली होती है। पात्रों के संवाद गायन के अतिरिक्त ये सूत्रधार के साथ कथागायन में भी योग देते हैं। इसके अतिरिक्त सामूहिक गान भी सामाजिकों द्वारा प्रस्तुत किये जाते हैं। गायक कभी-कभी छोटी-मोटी भूमिका भी करते हैं, जैसे रासलीला में सामाजियों में से कोई उठकर दुपट्टा ओढ़कर यशोदा की भूमिका के दो-एक संवाद बोल देता है और फिर गायकों में आकर शामिल हो जाता है। यक्षगान का भागवत भी कभी-कभी अपने संगीतात्मक कथागायन में मंच पर एक ओर बैठे हुए नटों को सम्मिलित कर देता है और कभी-कभी वे ही नट कोई भूमिका करने लगते हैं।

पात्र और चरित्र-चित्रण—पारंपरिक नाट्य की एक विशेषता उसी बहुप्रयोजनमयी पात्र-कल्पना है। इन नाटकों में एक ही पात्र कई तरह के रूप लेता है। कभी नाटकीय कथा का वर्णन करते हुए उसका गायक और आख्याता बन जाता है, कभी रंगकर्मी के रूप में दृश्य-सज्जा की सामग्री रंगमंच पर लाता-ले जाता है, कभी किसी विशेष भूमिका वाला पात्र बन जाता है और कभी दर्शकों के प्रतिनिधि के रूप में अनेक कथा-स्थितियों पर टिप्पणी करते हुए प्रदर्शन और दर्शकों के पारम्परिक सम्बन्ध को गहरा बनाता है।

पारंपरिक नाट्य का अभिनेता परंपरागत अभिनय नियमों एवं आशुसंवाद सृष्टि तक अनेक स्तरों पर अभिनय करता है। प्रत्येक रस की सृष्टि में कुशल होता है, प्रत्येक प्रकार के पात्र को जी लेता है। अधिकांशतः उसे संगीत भी आता है और नृत्य की ओर अभिनय में अपने शरीर का स्वच्छन्द प्रयोग तो उसकी विशेषता है। अधिकांशतः स्त्री पात्रों का अभिनय पुरुष पात्र ही करते हैं। पारंपरिक रंगमंच का अभिनेता मौलिक अभिनय प्रतिभा से दर्शकों का मन मोह लेता है।

अधिकतर पारंपरिक नाट्यरूपों से अभिनय शैलीबद्ध होता है और गतियाँ नृत्यमूलक। अभिनय की यह शैली विशेषकर गेय नाटकों में मिलती है। इसके अतिरिक्त गद्य संवाद बोलने के बाद जब वादकगण उसे वाद्यों पर दुहराते हैं तो उनको नृत्य करने का अवसर मिल जाता है। बोलने का ढंग भी लययुक्त अथवा विशेष स्वराघातयुक्त होता है।

मंच विधान—पारंपरिक रंगमंच की प्रस्तुति अधिकतर खुले मंचों पर हाती है। कभी-कभी मंदिरों के साथ लगे हुए स्थानों में अथवा मेलों, तमाशों में शामियानों में मंच बना लिये जाते हैं। कभी तो सड़क पर या ग्रामों में पंचायत घर में नाट्य प्रस्तुति होती है। कुछ नाट्य रूप जैसे अंकिया नाट या रामलीला के मंचों की अपनी विशिष्टता होती है। मंच पर दृश्य-सज्जा की सामग्री कम-से-कम होती है। कुछ छोटे-छोटे उपकरण मात्र होते हैं जिन्हें उठाने रखने का काम पात्र स्वयं कर लेते हैं। अभिनय क्षेत्र को

नाटकीय कथा के अनुसार किसी प्रकार की विशिष्टता नहीं दी जाती। दृश्य-सज्जाहीन वही मंच कभी महल बन जाता है, कभी उपवन तो कभी नदी का किनारा और उसमें रखा हुआ एकाकी स्टूल (यदि हुआ तो) कभी सिंहासन बनता है, कभी निकुंजों का आसन और कभी सरितातट की सीढ़ी, जिस पर काल्पनिक कपड़े रखकर नायिका स्नान करने “उतर” जाती है।

मंच कभी एक ऊँचा चबूतरा होता है- जैसे नौटंकी अथवा ख्याल में, कभी समधरातल का रंग-स्थल, जैसे तेरुकुत्तु या भवाई में, और कभी ऊँचे धरातल का रंगमंच, जैसे माच में। इन सभी नाट्यरूपों में रामलीला का रंगस्थल अपनी विशेषता रखता है, क्योंकि वह बहुस्थलीय रंगमंच है। पारंपरिक रंगमंच में सबसे अधिक रूपों में प्रयुक्त होने वाली रंगमंच प्रणाली प्लेटफार्म स्टेज का चबूतरा मंच ही है, जिसमें सामने या तीन ओर दर्शक बैठते हैं। कभी-कभी केवल सजावट के विचार से कुछ नाटकों में एक पिछला पर्दा टाँग दिया जाता है। नाटकीय कथा की अवधि का बोध कराने के लिए यवनिका का विधान नहीं होता, पात्रों का प्रवेश और प्रस्थान, दृश्य-परिवर्तन आदि सभी कुछ दर्शकों के सामने उनके देखते-ही-देखते होता है। परन्तु कुछ नाट्यरूपों में एक विशेष प्रकार से एक अग्रपटी का प्रयोग किया जाता है। कोई भी दो व्यक्ति एक चादर पकड़कर अभिनय क्षेत्र के सामने खड़े हो जाते हैं और पात्रों के प्रवेश अथवा प्रस्थान का औपचारिक विधान कर देते हैं। रासलीला में राधाकृष्ण के संयुक्त रूप की झाँकी प्रस्तुत करते समय नाटक के अन्त में इसी अग्रपटी का प्रयोग होता है। पर्दे के पीछे राधाकृष्ण संयुक्त मुद्रा में और उनके दुपट्टों को पकड़कर सखियों, नृत्य-मुद्रा में खड़े हो जाते हैं तथा व्यक्ति हट जाते हैं, दर्शक भी खड़े हो जाते हैं और आरती प्रारम्भ होती है। यक्षगान और कूडिअट्टम में इस अग्रपटी का प्रयोग बड़ी नाटकीय स्थितियों में किया जाता है। कोई भी राक्षस या भयानक पात्र पर्दे पर आता है तो इसके पीछे से। वह एकदम सामने नहीं आता, पहले पटी के बाहर अपना एक हाथ निकालता है, फिर पाँव, फिर थोड़ा-सा सिर-किरीट और अन्त में पूरा दर्शकों के सामने आता है।

वेशभूषा और मुख-सज्जा विभिन्न पारंपरिक नाट्यरूपों में इस संबंध में बड़ी विविधता पायी जाती है, परन्तु एक बात उनमें समान है। सभी की वेशभूषा में भड़कीलापन होता है, कीमखाव और मखमल, गोटा और कलाबत्तू (अब चमकीला नाइलान) से बने झिलमिलाते वस्त्रों के तेज चटकीले रंग, चमकदार भारी मुकुट, केयूर और भुजबन्ध, लम्बे-चौड़े हार, मेखलाएँ, कमरबन्ध और भाँति-भाँति के मुखौटों का प्रयोग होता है। वेशभूषा यथार्थपरक नहीं होती। रामलीला और रासलीला नाटकों के राम और कृष्ण तथा नौटंकी के महाराज, भवाई के मुगल सरदासर-सब एक ही तरह के मुगल-कालीन चोगे पहनते हैं। कभी-कभी पात्रों के चरित्र के हिसाब से वेशभूषा का रंग निर्धारित होता है (जैसे रामलीला में राक्षसों की काली पोशाकें)।

मुख-सज्जा में भी भड़कीलेपन का विशेष आग्रह रहता है। मुर्दासिंगी, कोयला, काजल और गेरू तथा चमकदार अबरक, कहीं-कहीं तो रंग-बिरंगी पन्नी-इन सभी का प्रयोग कर लिया जाता है। अधिकतर नाट्यरूपों में पुरुष स्त्रियों का अभिनय करते हैं। पुरुषों को स्त्री-सज्जा देने में विशेष सावधानी नहीं बरती जाती, कभी-कभी तो घूँघट में मूँछ छिपाकर शेष प्रसाधन स्त्रियों की तरह कर लिया जाता है

और समूचे प्रदर्शन में वे पात्र अपना घूँघट ही नहीं उठाते, जैसे भवाई या रासलीला यशोदा आदि के अभिनय में।

देश भर के लगभग सभी पारंपरिक नाट्य रूपों में मुखौटों का प्रयोग होता है। अधिकतर मनुष्येतर पात्रों-देवता अथवा राक्षस मुखौटे लगाते हैं। मुखौटों का निर्माण उसी अंचल में होता है, जहाँ का वह नाट्य रूप होता है, मुखौटे बड़े ही कलात्मक, रंग-विविधता लिए हुए और आकर्षक होते हैं।

संस्कृत रंगमंच के कुछ पात्र और रूढ़ियाँ-पारंपरिक नाट्यरूपों में कुछ पात्र और रूढ़ियाँ संस्कृत से लिये गये हैं। सभी नाट्यरूपों में चाहे धार्मिक हों अथवा लोकपरक, पूर्वरंग अवश्य नियोजित होता है। अधिकतर इसमें गा-बजाकर गणपति की वन्दना की जाती है। यह विधि हम दशावतार, यक्षगान, तमाशा, तेरुकुत्तु आदि रूपों में पाते हैं। पूर्वरंग में स्तुति, वाद्यवादन एवं कभी-कभी परिहास के अतिरिक्त चौथा अंग होता है मंच की तैयारी। प्रस्तावना के रूप में नाटक की कथावस्तु एवं पात्र परिचय दिया जाता है। पारंपरिक नाट्य के पूर्वरंग का उद्देश्य वही है जैसा नाट्य शास्त्र में कहा गया है कि पूर्वरंग विघ्नों की शांति के लिए, देवता की स्तुति एवं दर्शकों के मन में नाट्य प्रस्तुति के प्रति आकर्षण उत्पन्न करना होता है।

सूत्रधार और विदूषक ऐसे पात्र हैं, जो किसी-न-किसी रूप में हर नाट्यरूप में पाये जाते हैं। नौटंकी का रंग, यक्षगान का भागवत, भवाई का रंगलोक, रामलीला के व्यास-ये सब सूत्रधार के ही विभिन्न रूप हैं। अन्तर यह है कि संस्कृत नाटक में सूत्रधार प्रस्तावना के पश्चात् चला जाता था, परन्तु पारंपरिक नाट्य-प्रदर्शनों में वह आदि से अंत तक रहता है, पात्रों से बातचीत करता है, बीच-बीच में कथा के टूटे सूत्र जोड़ता है और कभी-कभी गाता है। विदूषक तो किसी लोकनाटकीय परंपरा से ही संस्कृत नाटक में लिया गया होगा, क्योंकि संस्कृत नाटक के गम्भीर वातावरण में उसके हल्की छेड़-छाड़ युक्त संवादों से ऐसा ही लगता है। लगभग सभी नाट्यरूपों में विदूषक किसी-न-किसी रूप में रहता है। रासलीला का मनसुख, तेरुकुत्तु का कोमली और कूडिअट्टम का विदूषक एक ही परंपरा की देन हैं। प्राचीन रामलीला के गम्भीर वातावरण में हास्य-प्रसंगों की उद्भावना नहीं की जाती थी, परन्तु आधुनिक मंचीय रामलीला में भी विदूषक का समावेश हो गया है।

(ख) प्रमुख पारम्परिक नाट्य रूप

पारंपरिक रंगमंच के स्रोत और शैलियाँ-इन सामान्य प्रवृत्तियों के अतिरिक्त हमारे पारंपरिक नाट्यरूपों में बड़ी क्षेत्रीय विविधता है। यह तो पारंपरिक नाट्य की विशेषता होती है कि उसका जन्म और विकास परंपरागत संस्कृति के मध्य होता है और बराबर उसी के परिवेश में रहता हुआ उससे पोषित होता है और संस्कृत के नये-नये तत्त्वों को ग्रहण करता रहता है। इसी से विशाल देश में जनपदीय संस्कृत और लोकव्यवहारों तथा प्राकृतिक परिदृश्य में जितनी विविधता है, उतनी ही विविधता हमारे पारंपरिक रंगमंच में भी है।

प्रमुखतः हमारे पारंपरिक नाट्यरूप दो प्रमुख धाराओं में विकसित हुए। एक, लौकिक प्रेमाख्यान-मूलक नाट्य, जैसे नौटंकी, स्वांग, तमाशा, ख्याल, बिदेशिया और जात्रा आदि दूसरे, मन्दिरों अथवा धार्मिक सम्प्रदायों पर आश्रित धार्मिक-पौराणिक नाट्य जैसे तेरुकुत्तु, अंकियानाट, रासलीला और रामलीला।

(1) रामलीला-उत्तर भारत का सबसे प्राचीन और लोकप्रिय नाट्यरूप रामलीला है। इसकी कई शताब्दियों की परम्परा है और नाटकीय तत्त्वों और व्यवहारों की दृष्टि से यह नाट्यरूप अत्यन्त समृद्ध है। रामलीला की कई क्षेत्रीय शैलियाँ हैं। सितम्बर-अक्टूबर के महीने में 15 दिन से लेकर एक महीने तक रामलीला का प्रदर्शन नगर-नगर और ग्राम-ग्राम होता है। उत्तर भारत का शायद कोई ऐसा ग्राम या नगरवासी होगा जिसने रामलीला देखी न हो या कम से कम उसके सम्बन्ध में सुना न हो। यह समूचे समुदाय की कलात्मक, धार्मिक और रूढ़िपरक अभिव्यक्ति है, जिसका प्रचार और लोकप्रियता सभ्यता के नवीन प्रसार के साथ भी कम नहीं हुई है। उत्तर प्रदेश, बिहार और मध्य प्रदेश तथा राजस्थान में रामलीला का प्रचलन सबसे अधिक है।

रामलीला का अर्थ है विष्णु के अवतार राम के जीवन की विभिन्न घटनाओं का नाटकीकरण। रामलीला में भगवान राम के जन्म से लेकर रावण वध के पश्चात् अयोध्या में राज्याभिषेक तक की सभी प्रमुख घटनाओं को नाटकीय रूप प्रदान किया जाता है।

रामलीला प्रमुखतः तुलसीदास कृत रामचरितमानस पर आधारित है। लीला प्रदर्शन में मानस का पाठ निरन्तर चलता रहता है। कहीं-कहीं पर जैसे पश्चिम उत्तर प्रदेश में राधेश्याम रामायण से भी कुछ अंश पाठ के लिये जाते हैं, परन्तु सभी रामलीलाओं में प्रमुख आधार रामचरितमानस को ही बनाया जाता है।

रामलीला के प्रदर्शन में अभिनेताओं को राम, लक्ष्मण, भरत तथा शत्रुघ्न और सीता का 'स्वरूप' कहा जाता है। दर्शक मण्डली उन्हें सचमुच ईश्वर का रूप ही मानती है और सभी लोग उनके सम्मुख सिर झुकाते हैं। उनके बोले हुए संवाद को बड़े श्रद्धा-भाव से सुनते हैं। रामलीला देखना दर्शकों के लिए उनकी भक्ति-भावना और पूजा की अभिव्यक्ति है। राम के गंभीर व्यक्तित्व और उनके मर्यादा पुरुषोत्तम होने की परम्परा बाल्मीकि से ही चली आ रही थी। परन्तु तुलसीदास ने राम और सीता तथा अन्य पात्रों को जो, गरिमा और महत्ता प्रदान की है, रामलीला के छोटे-से-छोटे प्रदर्शनों में भी राम चरित्र की वह गरिमा व्याप्त रहती है। अभिनेता और दर्शक सभी उनकी रक्षा करते हैं और रामलीला में कभी दर्शकों की ओर से कोई भद्दी टिप्पणी या मजाक नहीं होता, न अभिनय में तनिक भी भद्दापन आने पाता है। रामलीला प्रदर्शन का वातावरण पूजा-भावना की भाँति शुद्ध और पवित्र रहता है।

भारतीय नाट्य परंपरा में रामकथा के प्रस्तुतीकरण की इस शैली के संकेत बहुत प्राचीन समय से मिलने लगते हैं। रामकथा के महाकाव्य आधारित प्रस्तुतीकरण का सबसे प्रथम उल्लेख महाभारत के खिल पर्व हरिवंश पुराण में मिलता है।

“रामायण महाकाव्यं उद्देश्य नाटकीकृतम्” अर्थात् (नट ने) रामायण महाकाव्य पर आधारित नाट्य प्रदर्शन किया। बारहवीं शताब्दी की कृति ‘संदेश रासक’ में रामायण अहिणवियइ (रामायण अभिनय करते हैं) उल्लेख मिलता है। नानक की असादीवार में रामायण नृत्य नाटक के संकेत दिये गये हैं। सोलहवीं शताब्दी के दो नाटक भाषा हनुमन्नाटक एवं रागायण महानाटक प्राप्त हैं, जो कथावाचन, संवाद एवं गीत से युक्त रामलीला उल्लेख से प्रतीत होते हैं। तुलसीदास के जीवन के संबंध में कृष्णदत्त मिश्र कृत जौतभ चंरिका की एक पंक्ति तुलसी द्वारा रामलीला प्रदर्शन आरंभ करने के प्रसंग में कही गयी है—

**चिंतत भरतभारती निरनय।
मनहगदेखत हनुमत् अभिनय।।**

इससे लगता है कि उस समय हनुमत् अभिनय के नाम से जिन रामायण प्रस्तुतियों का प्रचलन था उनकी लोकप्रियता को देखते हुए तुलसी ने रामचरित मानस को रामलीला के रूप में पारंपरिक रंगमंच पर प्रस्तुत करने की दृष्टि को निश्चित नाटकीय योजना दी। आज हिन्दी प्रान्तों में रामलीला जिन रूपों में प्रचलित है उसके प्रवर्तक तुलसीदास हैं।

रामलीला का नामकरण—अवतारी चरित की अनुकृति को लीला का नाम पहले से दिया जा रहा था। सूर के समय में कृष्ण और राधा-गोपियों के चरिताभिनय को रासलीला का नाम मिल चुका था तो तुलसी ने भी रामलीला नाम देना उचित समझा। विभिन्न नगरों में इसके प्रदर्शन की विभिन्न शैलियाँ हैं। बनारस, चित्रकूट, मथुरा और अल्मोड़ा की रामलीला विशेष प्रसिद्ध हैं।

रामलीला प्रदर्शन कई शैलियों में होता है उसमें प्रमुख हैं-बहुस्थलीय रंग-भूमिका शैली-इसमें अभिनय स्थल विभिन्न स्थानों पर होते हैं और उन स्थानों तक स्वरूप और अन्य पात्र जुलूस में जाते हैं। इस शैली की रामलीला अब रामनगर और बनारस में होती है। अयोध्या, जनकपुरी, चित्रकूट, दण्डकारण्य और लंका आदि स्थल पूर्व निश्चित होते हैं। बनारस के पास रामनगर में रामलीला के सभी घटनास्थल स्थायी रूप से बने हुए हैं और इन सभी स्थलों को “चित्रकूट”, “लंका” आदि नाम हमेशा के लिये पड़ गये हैं। अभिनेता तथा दर्शक-समाज प्रति रात्रि उसी स्थल पर एकत्र होते हैं जहाँ की लीला होने वाली है। रंगस्थल नामानुरूप यथार्थवादी ढंग से बने रहते हैं और प्रति वर्ष वहीं पर उस विशिष्ट दृश्य का अभिनय होता है। पात्रों के अभिनय के लिए ऊँचे-ऊँचे मंचान बनाये जाते हैं, जिस पर खड़े होकर पात्र अपने संवाद बोलते हैं। अनेक कथा प्रसंगों के लिए कई मंचानों का प्रयोग एक साथ किया जाता है। उदाहरण के लिए धनुष यज्ञ प्रसंग में परशुराम एक मंच पर प्रकट होते हैं और सामने दूसरे बड़े मंच पर विश्वामित्र, राम और लक्ष्मण होते हैं। दोनों अलग-अलग मंचानों से उनमें संवाद चलता है। बहुमंचीय प्रदर्शनों के अतिरिक्त आवश्यकतानुसार जुलूस भी निकाले जाते हैं। राम की बारात बड़ी सजधज और बाजे-गाजे के साथ “अयोध्या” से “जनकपुरी” की ओर प्रस्थान करती है। इसी प्रकार भरत मिलाप का जुलूस भी बहुत बड़ा होता है और समूचा दर्शक समाज भी पात्रों के साथ लीला में सम्मिलित हो जाता है। रामवनवास के समय दर्शक भी राम के साथ-साथ चलते और अयोध्यावासियों के रूप में आँसू बहाते

हैं। नाट्य-प्रदर्शन के साथ दर्शकों की एकात्मता का इससे विशाल नाट्य आयोजन शायद ही दुनिया में और कहीं हो।

कुछ नगरों में (जैसे इलाहाबाद) केवल झाँकी-शैली की रामलीला होती है। राम-कथा के विविध प्रसंग झाँकी या चौकियों के रूप में प्रस्तुत किये जाते हैं और इन चौकियों का जुलूस निकाला जाता है। एक चौकी पर “रामायणी” (गायक-दल) पाठ करते रहते हैं, और पात्र अवसर के अनुरूप मुद्राएँ प्रदर्शित करते हैं, और अंग-संचालन करते हैं। कभी-कभी कुछ संवाद भी बोलते हैं। ये चौकियाँ थोड़ी-थोड़ी देर पर विशेष स्थानों, चौराहो, मन्दिरों आदि पर रोक दी जाती है, वहाँ आरती और चढ़ावा आदि होता है। इस प्रदर्शन शैली में कोई निश्चित क्षेत्र रंगस्थली का कार्य नहीं करता, नाटकीय दृश्य चौकियों पर सजे हुए एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाये जाते हैं और साथ ही दर्शक समाज भी चलता रहता है। कुछ दर्शक बृन्द एक ही स्थल पर रुक रह कर रामलीला की सवारी के निकलने की प्रतीक्षा करते हैं।

रामलीला के कुछ विशिष्ट दृश्य सभी प्रकार की प्रदर्शन शैलियों में इसी जुलूस शैली में ही प्रस्तुत किये जाते हैं, जैसे “भरत मिलाप” का दृश्य । “भरत मिलाप” विशेष आयोजन और समारोह के साथ सम्पन्न किया जाता है। नगर के एक मार्ग से राम की सवारी चलती है और दूसरे भाग से भरत की। नगर की जनता इन दोनों पक्षों के साथ हो जाती है और सारे मार्ग में बराबर रामकथा का गायन और जय-जयकार होता रहता है।

एक अन्य शैली है प्लेटफार्म रंगमंच की शैली। अधिकांश नगरों में प्रदर्शन की यही शैली अपनायी जाती है। रामलीला के दिनों में किसी भी मैदान में तख्ते डाल कर चबूतरा-सा बना लिया जाता है, इसमें पर्दों आदि की व्यवस्था नहीं होती, एक और रामायणी अथवा कथा गायक बैठकर रामायण का पाठ करते रहते हैं और दूसरी ओर से पात्र आकर अभिनय करते हैं, पात्र उन्हीं गायनांशों को गद्य में बोलते हैं, कभी-कभी पात्र भी चौपाइयों का गान करते हैं। इस शैली का एक दूसरा रूप है जिसमें पात्र रंगमंच पर झाँकियों के रूप में सज कर खड़े हो जाते हैं, रामायणी कथा का गायन करते हैं और पात्र थोड़ा मूकाभिनय कर देते हैं।

अब पारसी रंगमंच की शैली में भी रामलीला का प्रदर्शन किया जाता है। इसमें पर्दों तथा दृश्य-सज्जा का पूरा विधान अपनाया जाता है। दस से पन्द्रह दिन तक रंगमंच नाटकों के रूप में समूची रामकथा का प्रदर्शन कर दिया जाता है।

रामलीला प्रदर्शनों का प्रमुख रामचरितमानस है। समाजी या रामायणी उसी की चौपाइयों में कथा-प्रसंगों और संवादों का गान करते रहते हैं और पात्र भी वही चौपाइयाँ बोलते हैं और उनका गद्यानुवाद भी कर देते हैं। चौकियों और सिंहासनों में प्रस्तुत की जाने वाली लीला में संवादों का प्रयोग बहुत कम होता है। रामनगर की रामलीला में रामायणी कथा गायन करते हैं, पात्र भी उन्हीं संवाद चौपाइयों को बोलकर गद्य में उनका अनुवाद संवाद रूप में बोलते हैं। संवादों को दर्शकों की भारी भीड़

तक पहुँच पाने के लिए रुक-रुककर बोला जाता है, नाटकीय उतार-चढ़ाव कम होता है। कथा गायन भी विशिष्ट शैलियों में होता है। गद्य में खड़ी बोली का प्रयोग होता है। परन्तु रामलीला प्रदर्शनों की प्रमुख शक्ति है, तुलसीकृत मानस का गहरा कवित्व जो समस्त प्रसंगों को मनोरम और मार्मिक बना देता है।

रावणवध की लीला सभी स्थानों पर एक जैसी ही होती है, रावण, कुम्भकर्ण और मेघनाद के कागज के पुतले एक मैदान में खड़े किये जाते हैं और राम-रावण युद्ध का अभिनय करके उन पुतलों में आग लगा दी जाती है। पुतले और उनमें भरी हुई आतिशबाजियाँ और पटाखे जलने लगते हैं और दूर-दूर तक रावण वध-असत् पर सत् की विजय की घोषणा हो जाती है। यह लीला दशहरे के दिन होती है और रामलीला प्रदर्शन की प्रमुख घटना है।

रामलीला में राम, सीता और लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न का अभिनय करने वाले पात्र 10 से 14 वर्ष तक के ब्राह्मण लड़के होते हैं। शेष पात्रों का अभिनय कोई भी उच्च जाति वाला कर सकता है। अन्य पात्रों के लिए कोई आयु सीमा भी नहीं है। कई नगरों में वही व्यक्ति बीस-तीस वर्षों से रावण या हनुमान का अभिनय करते चले जाते हैं। राम और लक्ष्मण आदि का अभिनय करने वाले लड़कों को तीसरे वर्ष बदला जाता है। नये लड़कों को रामायणी रामलीला प्रदर्शन के एक महीने पहले से गायन की शिक्षा देते हैं। अधिकतर उन्हें पूरा पार्ट याद नहीं होता और अभिनय के बीच समाजी चिल्ला-चिल्लाकर पार्ट याद दिलाते हैं और कभी-कभी तो उनकी ओर से बोल भी देते हैं।

पात्रों की मुख सज्जा में काफी समय लगता है। राम और सीता आदि के मुख पर चन्दन का लेप करके भवों आर ऊपर कपालों तक चमकदार बिंदिया चिपकाई जाती है। मस्तक पर तिलक और बिंदी लगा दी जाती है, दुष्ट पात्रों को काले रंग से रंग दिया जाता है। राक्षसों एवं वानरों के लिए मुखौटा होता है। राम, सीता और लक्ष्मण आदि स्वरूपों की मुख सज्जा करना सामान्य व्यक्ति अपने लिए गौरव की बात समझते हैं। वेशभूषा में यथार्थवादिता नहीं, भड़कीलेपन पर अधिक जोर दिया जाता है। रामनगर की रामलीला में कीमती बनारसी चमकदार वस्त्र पहनाये जाते हैं। अधिकतर पीताम्बर और कुर्ता या कोट और कमरबन्द राम, लक्ष्मण आदि को साड़ी चोली और दुपट्टा सीता को और रावण को बड़ा भारी चोगा पहनाया जाता है। हनुमान केवल छोटी धोती पहनते हैं। सभी पात्रों को आभूषण भी पहनाये जाते हैं। राम का किर्रीट बड़ा भव्य होता है। सीता के मुकुट को चंद्रिका कहते हैं। राम, सीता, और लक्ष्मण सबकी नाक में बुलाक पहनाई जाती है। सीता को नथ भी। कान में बड़े-बड़े आभूषण, भारी-भारी हार, कमर में मेखला, हाथों-बाहों में कंगन और भुजबंध आदि आभूषण होते हैं। ऋषियों की भूमिका करने वाले पात्र आभूषण नहीं पहनते हैं।

पात्र के संवाद निवेदन की अनेकों और पद्धतियों के साथ रामलीला नाटकों में रामायणी द्वारा कथा गायन की भी अनेक शैलियाँ हैं। वाद्य में हारमोनियम, ढोल और मजीरे का ही प्रयोग होता है।

उत्तर भारत में रामलीला का यह विशाल समारोह जनमानस की नाटकीय अभिव्यक्ति का एक सशक्त माध्यम है और इसका विस्तार नगर-नगर गाँव-गाँव यहाँ तक घर-घर में है।

(2) **रासलीला**—रासलीला उत्तर प्रदेश का प्रमुख धार्मिक लोकनाट्य रूप है। रासलीला में कृष्ण के ब्रजवासी जीवन के अनेकानेक रूपों का नाटकीय प्रदर्शन होता है। राधा-कृष्ण की प्रेम लीलाएँ इसका प्रमुख विषय होते हैं। मथुरा और वृन्दावन के मन्दिरों के प्रांगण में प्रति रात यह नाट्य प्रदर्शन होते हैं, लीला शाम से आरम्भ होकर रात देर तक चलती है और भक्तगण उसी भाव से रासलीला देखने जाते हैं जिस भाव से मन्दिर में भगवान के दर्शन करने। लीला प्रांगण में कोई जूते नहीं पहन सकता, धूम्रपान नहीं करता और कुछ खाता-पीता नहीं। बालक कृष्ण के नटखटपन पर दर्शकगण स्नेहपूर्वक मुस्करा उठते हैं, किशोर कृष्ण और राधा की शृंगारिक लीलाओं पर रोमांचित होते हैं और विरह प्रसंगों पर रो-रो पड़ते हैं। दर्शक समाज के लिए वे अभिनेता वास्तव में कृष्ण राधा का ही “स्वरूप” होते हैं—उन्हें स्वरूप कहा भी जाता है और उनके अभिनय को देखना दर्शकों के लिए मानो कृष्ण-राधा का दर्शन पाना ही होता है, इसी से हर रात उन्हीं परिचित लीलाओं को देखने भीड़ आ जुटती है और जिस तरह वे लोग इन नाट्य प्रदर्शनों से प्रभावित होते और रस लेते हैं, जिस प्रकार राधेश्याम और कृष्ण राधा की जय-जयकार से लीलारथली गूँज उठती है उससे आधुनिक यथार्थपरक नाट्य प्रदर्शकों को ईर्ष्या हो सकती है। वास्तव में लोकनाटकों की प्रमुख शक्ति उनका दर्शक समाज ही होता है। यह दर्शकवृन्द पीढ़ी-दर-पीढ़ी उन नाट्य रूपों की कथाओं, रूढ़ियों और व्यवहारों से इस प्रकार परिचित होता है कि नाट्य का सम्पूर्ण रस ग्रहण करने में उन्हें कोई कठिनाई नहीं होती भले ही प्रदर्शन में अभिनय सम्बन्धी त्रुटियाँ हों अथवा रंग-सज्जा के विभिन्न उपकरण न हों।

रासलीला की उत्पत्ति—नाट्यशास्त्र में उपरूपकों की गणना में रासक, नाट्य रासक एवं हल्लीसक का उल्लेख है। भागवत पुराण में कृष्ण के गोपियों के साथ रासनृत्य करने का सुन्दर वर्णन किया गया है। आज भी सौराष्ट्र और मणिपुर में रास नाम के लोकनृत्य प्रचलित हैं। वैष्णव भक्ति के प्रचार के साथ ही कृष्ण का अवतारी रूप पूजा का आधार बना और उन्हें रसेश्वर कहा गया, 14वीं शताब्दी के बाद से वैष्णव भक्तों और आचार्यों ने रास नृत्य के साथ कृष्ण के किशोर जीवन का नाट्याभिनय जोड़कर उसे रासलीला का नाम दिया। नाभादास ने भक्तमाल में बल्लभाचार्य के संबंध में लिखा है :

नृत्यगानं गुण निपुन रास में रस सरसावत।

निजलीला ललितादि वलित दंपतिहि रिज्ञावत।।

15वीं 16वीं शताब्दी में बृजभूमि में रास की यह परंपरा सूरदास, नन्ददास, वृजवासीदास आदि भक्तों के सहयोग से काव्य एवं संगीत के सौंदर्य से परिपूरित हुई और उसमें इनके काव्य से पद ग्रहण करके दानलीला, मानसलीला, माखनचोरी आदि कृष्ण के किशोर और बाल जीवन की लीलाएँ अभिनीत होने लगीं।

मथुरा वृन्दावन में रासलीला की विभिन्न मण्डलियाँ हैं, जो रासलीला का प्रदर्शन करती हैं। ये मण्डलियाँ घूम-घूमकर दूर-दूर तक गाँवों और शहरों में भी प्रदर्शन के लिए जाती हैं। मन्दिरों में विभिन्न पर्वों पर इन मण्डलियों को बुलाया जाता है। कभी-कभी भक्त लोग अपने घरों पर किसी उत्सव या त्योहार पर इन मण्डलियों को बुलाकर लीला कराते हैं।

मण्डली में समाजी-बाजे वाले-स्वामी-प्रमुख गाने वाले और कृष्ण, राधा और गोप-गोपियों का अभिनय करने वाले होते हैं। अभिनय के लिए 7,8 साल से लेकर 13-14 वर्ष तक सुन्दर ब्राह्मण लड़के रखे जाते हैं। लड़कियाँ मण्डली में नहीं होती। उनमें से जो सबसे सुन्दर होते हैं उन्हें कृष्ण और राधा बनाया जाता है। इन पात्रों को स्वरूप कहते हैं और वेशभूषा धारण करने के बाद “स्वरूपों” में ईश्वर का वास माना जाता है। यहाँ तक कि उन्हें पाँव-पाँव चलने नहीं दिया जाता। मण्डली के बड़े सदस्य गोसाईं या समाजी उन्हें गोद में उठाकर मंच तक लाते हैं।

रासलीला या तो मन्दिरों के प्रांगण में होती है या फिर प्रदर्शन के लिए खुली जगह का प्रयोग किया जाता है। कृष्ण-राधा के बैठने के लिए झाँकी का स्थान ऊँचा होता है। शेष अभिनय सम धरातल पर ही होता है। लीला का प्रारम्भ कृष्ण-राधा की आरती से होता है। उसके लिए ऊँचे चबूतरे पर सिंहासन-सा बनाकर कृष्ण और राधा को बिठाते हैं। छः गोपिकाएँ उनके आस-पास खड़ी होती हैं। आगे साड़ी का पर्दा-सा बनाकर दो व्यक्ति खड़े हो जाते हैं, और राधा-कृष्ण के पास-पास बैठ जाने के बाद पर्दा हटा दिया जाता है। स्वामी और समाजी गायन-वादन प्रारम्भ कर देते हैं। कृष्णभक्त कवियों के भक्तिपूर्ण पदों का गायन रासलीला में किया जाता है। झाँकी के पश्चात् लीला प्रारम्भ होती है जिसमें सबसे पहले रास-नृत्य होता है। कृष्ण, राधा और गोपिकाएँ मिल कर नृत्य करते हैं। साथ में बीच-बीच में पदों का गायन भी होता रहता है। नृत्य की मुद्राएँ और पद-चालन कथक नृत्य के समान होता है। नृत्य चक्करों में बड़ी तीव्रता से धुंघरुओं की तेज आवाज गूँजती है और गति वाद्य से वातावरण परिपूरित हो जाता है। नृत्य के पश्चात् वास्तविक लीला प्रारम्भ होती है। लीला के विभिन्न विषय ये होते हैं। पारस्परिक मान लीला, दान लीला, उद्धव लीला, अंगूठी चोरी एवं मनहारिन लीला आदि। लीलाओं में कृष्ण का नटखटपन, गोपिकाओं की चुहल, राधा का रूप गर्व और राधा-कृष्ण का परस्पर गहरा प्रेम प्रकट होते हैं। कभी राधा-कृष्ण से रूठ जाती है और कृष्ण उनके लिए विकल होते हैं, कभी राधा के न मानने पर कृष्ण अन्तर्ध्यान होते हैं, और राधा तीव्र विरह वेदना का अनुभव करती है। गोपिकाएँ उन्हें कठिनाई से समझाती हैं। अंगूठी चोरी लीला में कृष्ण राधा की अंगूठी चुराकर बिल्कुल भोले और निर्दोष बनकर कहते रहते हैं—अंगूठी मेरे पास तो नहीं है। गोपिकायें उनके कमर पट्ट से खोई अंगूठी निकाल लेती हैं और कृष्ण अपराधी मुद्रा में खड़े हो जाते हैं। मनहारी लीला में अभिनय का स्तर साधारणतः ऊँचा रहता है, अधिकतर मण्डलियों में गायन भी बहुत अच्छा होता है। लीलाओं के अभिनय में गद्य संवाद होते हैं। ब्रजभाषा की माधुरी समूचे नाट्य व्यापार को बहुत आकर्षक बना देती है। संवादों के बीच-बीच में गायन और नृत्य भी चलता रहता है। अन्त में पुनः झाँकी बनाकर आरती की जाती है और चढ़ावा होता है। परस्पर मानलीला का एक उद्धरण इस प्रकार है :

स्यामा को सारसी सम्हारत आप,
लली पहरे नन्दलाल को जामा।
शीश धरी पिया की पगिया,
पिय के सिर पे सिर सोहे ललामा।
या विधि ते नक्षते शिख लौं,
बलदेव शृंगार सजि अभिरामा।
स्यामा की मूरित रयाम बने,
घनस्याम की मूरति वै गई स्यामा।

गोरे लाल : देखा मैं ही स्याम सुन्दर हूँ। हे प्यारी जी अब रास मण्डल पर पधार कर मान करो।

सखी : हे हेलो मेरी सहेली. मेरा लाल प्यारे की भावती, आज एक अनुपम कौतुक आय के देखो। अरी हेली वृन्दा विपिन सुहावने में भी जमुना जी के तीर पै रसिक राम शिरमौर ने आज पलट के वस्त्र धारण किये हैं। गोरे लाल हैं प्यारे अब मान करके बैठो।

श्याम प्रिया प्यारी जी, मौपे मान तो नहीं हो। गोरे लाल हे प्यारे मान में कहा लगे हैं जब मैं आप माऊं देखूँ तब आप मों माऊं देखियों मत और जब मैं आप माऊं हंसू तब आप मों माऊं हँसियों मति।

प्रकाश की कोई विशेष योजना नहीं होती बिजली की रोशनी या गैस की रोशनी का प्रयोग किया जाता है जो अभिनय स्थल के ऊपर या दोनों ओर रहता है। पात्रों की वेशभूषा पारंपरिक होती है और मुकुट, मुरली तथा चमकदार आभूषण भी धारण करते हैं। राधा और गोपियाँ, सुन्दर बनारसी साड़ियाँ या दुपट्टे और लंहगे (अब नाइलोन का प्रयोग भी होने लगा है), आभूषण खूब चमकदार होते हैं। मुख-सज्जा की विशेष बात, स्वरूपों के भवों के ऊपर से गालों तक चन्दन की और चमकदार छोटी-छोटी बिंदियाँ। ओठ और कपोल भी रंगे होते हैं। मुख सज्जा ओर वेष सज्जा का कार्य समाजी करते हैं।

रासलीला की अभिनय शैली कुछ अतिरंजनात्मक होती है, दर्शकों के लिये स्वरूप वास्तव में कृष्ण और राधा ही होते हैं और स्वरूप स्वयं भी अपने को कृष्ण राधा ही समझते हैं। इसलिए अभिनय को यथार्थपरक बनाने और उसके लिए विशेष चेष्टा का भाव उनमें नहीं होता लेकिन, यही विश्वास उनमें एक सहजता उत्पन्न कर देता है जो यथार्थपरक नाटक आदी दर्शक वृन्दों को भी आकर्षक लगती है।

रासलीला का संगीत, पक्ष बहुत ही पुष्ट है, गीतों और पदों का तो उनके पास भण्डार ही है। अष्टछाप के कृष्णभक्त कवियों से लेकर भारतेंदु हरिश्चन्द्र रचित ब्रज-भाषा के उत्कृष्ट पदों का गायन वे लोग करते हैं। इसके अतिरिक्त प्रतिभाशाली स्वामी स्वयं भी उसी शैली से पद रच लेते हैं।

रासनृत्य कथक नृत्य का आदि रूप कहा जाता है, टुकड़े और चक्कर इसके प्रमुख अंग हैं। टुकड़ों में अभिनय की प्रधानता रहती है और चक्करों में तीव्र गतियों की। रासलीला में अभिनय करने वाले सभी पात्र गीत-नृत्य में निपुण होते हैं।

रासलीला के प्रमुख आकर्षक तत्व हैं स्वामी का सुमधुर स्वर, कृष्ण लीला के पदों का आकर्षक गायन और पदों की उत्कृष्टता। इन तत्वों को अक्षुण्ण रखकर रासलीला इसी प्रकार युगों तक समूची ब्रजभूमि की सांस्कृतिक और दार्शनिक अभिव्यक्ति करती रहेगी और ब्रजभूमि के बाहर भी उसकी लोकप्रियता बनी रहेगी।

अंकिया नाट-मध्ययुग में वैष्णव मत विशेषकर कृष्णभक्ति के विकास एवं विस्तार के कारण असम के वैष्णव संत शंकर देव ने अपने शिष्यों सहित ब्रजमण्डल की यात्रा की। वहाँ रासलीला की प्रस्तुतियों को देखकर वे अत्यन्त प्रभावित हुए और उन्होंने अपने प्रदेश में लौटकर एक अंक के (तभी उन्हें अंकियों कहा) नाट लिखे जिनमें से अधिकांश में कृष्ण की लीलाओं का चित्रण था।

शंकर देव द्वारा लिखित प्रसिद्ध नाट हैं—कालियदमन यात्रा पत्नी प्रसाद, केलि गोपाल, रुक्मिणीहरण, पारिजातहरण और रामविजय। कालियदमन यात्रा सबसे पहले सन् 1518 ई० में लिखा गया। अंकिया नाटों की भाषा बंगला प्रभावित ब्रजबुलि है। संवाद प्रायः गद्य में हैं और गेयपद बीच-बीच में होते हैं। ब्रजबुलि बड़ी सुमधुर भाषा है, यह भाषा हिन्दी बंगला और मैथिली के प्रारंभ की भाषा है। मध्ययुग में अवध, मिथिला नेपाल तथा आसाम में काव्य और धार्मिक आधार की भाषा बन चुकी थी, उसकी इस व्यापकता को देखकर ही शंकर देव ने अंकिया नाट असमिया में न लिखकर ब्रजबुलि में लिखे। उदाहरण के लिए कालियदमन यात्रा में सूत्रधार द्वारा कृष्ण के नृत्य का वर्णन- काला कानु नाचे चरन चलाइ।

करत कौतुक नृत्य केशव अरुण चरण चलाइ॥

देव मुनि सिरि सिरिख बरखे हरिखे हरिगुण गायरे॥

गद्य संवाद का उदाहरण—सूत्र ऐसन परकारे कालिक दमिये,

हरदहन्ते दूर करिकदु श्री कृष्ण कौतुके कालिन्दितीरे।

देखि आनन्दे गोपिसब जय कृष्ण बेलि बढल।

मुख पंकजक जैसे नयन भ्रमरे पान करैछे

अंकिया नाटों में एक ही अंक होता है। वे आकार में लघु होते हैं और दो या तीन घंटे में अभिनीत हो सकते हैं। गीत रागबद्ध होते हैं। अंकिया नाटों के निर्माण में संस्कृत नाट्य का प्रभाव है प्रारम्भ नांदी पाठ से होता है और फिर सूत्रधार नाट्य का परिचय देता है।

इस लोकनाट्य में नृत्य, उसके विविध अंगहारों एवं मुद्राओं तथा गतिसंचार द्वारा भावाभिव्यक्ति की जाती है। पृष्ठभूमि में गायन-वादन चलता रहता है। बीच-बीच में गद्य संवाद भी बोले जाते हैं। पूर्वरंग के

उपरांत सूत्रधार नांदी गीत की धुन के साथ नृत्य करता है और एक विशिष्ट मुद्रा में, बाईं हथेली पर दाहिने हाथ की कोहनी रख कर बाहु-भाग से कुछ संकेत करते हुए, पात्र, प्रवेश की घोषणा करता है। घोषणा के उपरांत वह वृन्दावादकों के पास खड़ा होता है। पात्र प्रवेश नृत्य करते हैं और उनके जिन-जिन गुणों का गायकों द्वारा गान किया जाता है, प्रत्येक पात्र उन-उन गुणों के अनुसार मुद्राओं एवं अंगविक्षेपों द्वारा भाव प्रदर्शन करता है।

पात्र स्वयं भी गाते हुए नृत्य द्वारा अपने आंतरिक भावों का उद्घाटन करते हैं। रुक्मिणीहरण नाट में कृष्ण पीताम्बर, कुरती, मुकुट तथा वक्ष पर “तंगाली” (वेश कीमत वक्षसज्जा) पहन कर आते हैं। उनके हाथ में सुदर्शन चक्र रहता है। राजा भीष्मक धोती पायजामे के साथ लंबा जामा, मुकुट और तंगाली धारण करते हैं। भाट या दूत लाल पगड़ी और पीली धोती पहन कर भिक्षा-पात्र तथा छाता अथवा छत्र हाथ में लिये हुए मंच पर आता है। प्रहरी के हाथ में गदा रहती है। दान्ध रुक्म के हाथ में खड्ग उसकी शक्ति और शौर्य का द्योतक है। कृष्ण स्वयंवर में अपने रथ में बैठ कर आते हैं और उसी में रुक्मिणी को अपहृत कर द्वारका ले जाते हैं। यह रथ “पुस्त” (रथ, पर्वत आदि की प्रतिकृति) द्वारा पूरे आकार का बनाया जाता है, जिसमें घोड़े भी जुते रहते हैं। रथ की गति वाद्यों की तीव्र टापों से व्यक्त की जाती है।

एक स्थान से दूसरे तक जाने के लिये पात्र भरतनाट्यशास्त्र की रूढ़ि के अनुसार मंच पर कई बार चारों ओर घूमता है, जिससे गंतव्य स्थान की दूरी का बोध होता है।

भरतवाक्य की भाँति ही सूत्रधार: नाटक के अन्त में “मुक्ति मंगल” का गान करता है, जिसके द्वारा सभी के लिये शांति और सुख की कामना की जाती है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि अंकिया नाटक में स्थानीय लोक-रीतियों के अतिरिक्त नाट्यशास्त्र की रूढ़ियों का भी अनुसरण किया जाता है। कुल मिलाकर इसे रागरंग, नृत्यगीत, प्रेम और युद्ध, दुःख और हास्य की एक सुन्दर प्रस्तुति कहा जा सकता है, जो अपने पौराणिक आख्यान के अभिनय के द्वारा प्रेम और भक्ति की धारा प्रवाहित करती है।

शंकर देव ने “रुक्मिणी हरण” के अतिरिक्त कई नाटक लिखे-कालीय दमन, केलिगोपाल, पत्नीप्रसाद, पारिजातहरण तथा रामविजय अथवा सीतास्वयंवर।

इनमें से प्रथम चार कृष्णचरित से संबंधित हैं। केलिगोपाल की कथा श्रीमद्भागवत के दशम स्कंध में वर्णित कृष्ण-गोपी-रास पर तथा पत्नीप्रसाद की कथा विवाहिता ब्राह्मण स्त्रियों के अतिशय कृष्णप्रेम और तज्जन्य प्रभुदर्शन पर आधारित है।

शंकरदेव के उपरांत उनके शिष्य माधवदेव ने कृष्ण के बालचरित को लेकर नाटक लिखे, जिनमें अर्जुनोजन (ओखली से बाँधे जाने पर कृष्ण द्वारा यमलार्जुन का मोक्ष). योजनाव्यवहार (भोजन के समय

बहाना बनाकर गायों तथा ग्वालबालों का अपहरण), भूमि लैटोवा (यशोदा की गोद से मचल कर कृष्ण का भूमि में लोटना), रास झूमर (राधर-कृष्ण-रास) आदि प्रमुख हैं।

माधवदेव के बाद गोपालदेव ने आचार्यत्व ग्रहण किया। उन्होंने कृष्ण जन्म तथा नंद के यहाँ उनके पहुँचाये जाने की कथा को लेकर “जन्मयात्रा” नामक नाटक लिखा।

इनके अतिरिक्त कुछ अन्य भक्त नाटककारों ने भी अंकिया नाटक लिखे। ऐसा लगता है कि आसाम में मैथिली नाटकों की यह परम्परा बहुत दूर तक न चल सकी, फिर भी सोलहवीं-सत्रहवीं सदियों में इन नाटकों ने कृष्ण भक्ति के प्रचार में अद्भुत योग दिया। आज भी आसाम की घाटी के ग्रामीण अंचलों में ये नाटक उसी श्रद्धा और भक्ति-भाव के साथ खेले जाते हैं और अब वे वहाँ की ग्राम-संस्कृति के अंग बन गये हैं। नाटक की भाषा से अनभिज्ञ सामाजिकों के लिये वे पात्रों के अंगविक्षेप मुद्रा एवं हाव-भाव, गति संचार आदि के कारण आज भी संप्रेषणीय हैं। नाटकों को इस भाषा को “आर्ष-भाषा” कहा गया है। किन्तु यह आर्ष-भाषा मैथिली के अतिरिक्त कोई अन्य भाषा नहीं है, जो मध्ययुग में आसाम में भी बहुप्रचलित थी।

(3) सांग (स्वांग)-सांग हरियाणा की सांस्कृतिक धरोहर है। इनमें पद्य एवं संगीत का महत्त्व है, लोकधुनों का बहुत ही सुंदर प्रयोग इनमें होता है, सांग की भाषा हरियाणी होती है। सांग मण्डली का प्रत्येक सदस्य प्रत्येक पात्र का अभिनय कर सकता है। सबको सभी नाटकों के पार्ट याद रहते हैं और आवश्यकतानुसार प्रस्तुत कर देते हैं। सांग के लिए साज-सज्जा वाले रंगमंच की आवश्यकता नहीं होती। खुले मैदान में तख्त डाल कर प्रस्तुति कर दी जाती है। छोटे-से मंच पर सब अभिनेता बैठे रहते हैं। जिसकी बारी आती है वह उठकर पार्ट बोल देता है। प्रवेश, प्रस्थान, संवाद, नृत्य गान सब उसी पर होते हैं। प्रस्तुति की यह अनौपचारिकता सांग को दर्शकों के अत्यंत निकट ले जाती है और उसकी लोकप्रियता का कारण बनती है।

सांग हरियाणा का प्रमुख लोकनाट्य है। सांग, नकल, नाच, तमाशा अथवा नौटंगी का पूर्व रूप या पर्याय है। यह स्वांग का तद्भव रूप है। इसका अर्थ है “भेष भरना, “रूप भरना” या “नकल करना”।

हरियाणा में “सांग भरना” एक मुहावरा भी है जिसका अर्थ होता है रूप भरना या रूप बनाना। वास्तव में “स्वांग” वह रूप बनाना कहलाता है जब प्रयत्न करने पर भी रूप से तथा तथ्य आरोप न हो सके और पत्र में विकृति आ जाए। सांग के जो रूप हमारे सामने दृष्टिगोचर हैं वह हूबहू स्वांग जैसा ही लगता है। इसके लिए सांगती शब्द भी व्यवहृत होता है।

हरियाणा का जनोल्लास सांग के द्वारा प्रस्फुटित होता है। लम्बा कंथा-गीत इस सांग का प्राण है और वह एक नाटकीय रूप में होकर चलता है। वस्तुतः सांग हरियाणा का ग्रामीण कौमी नाटक है जिसमें प्रेम और यौवन आँखमिचौनी खेलते नजर आते हैं। सांगी का गीत प्रेम यौवन से ऊपर नहीं उठता, मानो उसके गाने योग्य केवल यही सूत्र शेष रह गया। चौबोला, त्रिबोल, दोहा तोड़ और रागनी का एक-एक शब्द शृंगार और वीररस के ताने-बाने से बना होता है और श्रोताओं पर अपना अमिट प्रभाव

छोड़ जाता है। हरियाणा के लोकमानस को रस की जो परितृप्ति दीपचंद, सरूपचंद, मांगेराम लखमचंद, रामकिशन व्यास, चंदलाल बादी और धनपत आदि के सांगों से प्राप्त होती है, वह इस प्रदेश के शिक्षित अशिक्षित से छिपी नहीं है। सांगियों द्वारा प्रस्तुत धार्मिक, पौराणिक, ऐतिहासिक एवं प्रेममूलक इन कथाओं में स्थानीय जनता रामायण से भी अधिक रस लेती है। वास्तव में ये रससिद्ध सांगी अपने छोटे साजबाज और अल्प उपकरणों के द्वारा इसके ऐसे उत्स बहाते हैं कि श्रोतागण मंत्र मुग्ध से हो जाते हैं। ऐसा साधारणीकरण साहित्यिक नाटकों में कम ही स्थानों पर देखने को मिलता है। सांगी का अ र र र र का खींचा स्वर जादू का असर करता है।

सांग अभिनयात्मक रूपक का वह प्रकार है जिसमें पद्य की प्रधानता होती है। इसमें कथोपकथन पद्यमय होता है। केवल पद्यों के मध्य बीच-बीच में गद्य की शैली लगाई जाती है। इन गद्य खण्डों को वार्ता के नाम से अभिहित किया जाता है। कथा एक विशेष मोड़ देने तथा उसकी रोचकता बनाये रखने के साथ-साथ चरित्रनायक के उन गुणों को, जो गीत की पकड़ से बाहर पड़ गये होते हैं, श्रोताओं तक पहुँचाने में ये वार्ताएँ बड़ा महत्त्व रखती हैं।

गीत प्रवाह में बहती श्रोतामण्डली वार्तातन्तुओं को पकड़ कर कथा-पट पर आ जाती है। यह एक अवलेह है जो कथा श्रवण की बुभुक्षा जाग्रत कर देती है। सांग में गीत, और रागिनी हृदय की बात कहती हैं और गद्यवार्ताएँ इतिवृत्ति की कड़ियों में जोड़ती चलती हैं।

“ढोलामारू” हरियाणा की एक प्रसिद्ध लोककथा है जो सांग में सफलतापूर्वक प्रस्तुत होती है। अधिकतर इसी प्रकार के लोकाख्यान सांग में प्रस्तुत होते हैं। इसके अतिरिक्त नल-दमयंती, राजामयसरी, गोपीचंद आदि पौराणिक कथानक भी लिये जाते हैं।

ढोलामारू-संगीतकार इस वृत्त को रागिनियों में कहता है। कथा बढ़ती चलती है। ढोला से कोई सूचना न प्राप्त कर मरवर्ण नरवरगढ़ के बंजारे के हाथ अपनी साड़ी पर संदेशा लिख भेजती है। बणजारा साड़ी को ढोला के यहाँ पहुँचा देता है। इस कथा को “सांगीत ढोला मारू” में इस प्रकार कहा गया है-

जवाब रेवा का- पास रहो हीरामन सूवा जो चाहे मेवा खावो।
कमी नहीं है किसी बात की लीजो तुम जी में चावो।
सोने चोच मढाऊ तेरी मन में मत ना घबराओ।
मैना पास रहेगी तेरे और कहीं मत ना जाओ।

जवाब कवि का- तोते को समझाय के दिया पीजरे डाल।
यों झगड़ा होता रहा आगे सुणों हवाल।।

भाइयों, पिंगलगढ़ में बणजारा बाग में आराम के लिए ठहर गया था तो मरवण को मालूम हुआ कि बणजारा नरवरगढ़ का है और नरवरगढ़ ही जायगा तो भाइयो, मरवण अपनी साड़ी पै सब हाल लिख के देती है और बणजारा नरवरगढ़ में आके ढौलकंवर को देता है। जरा गौर से सुणो।

हरियाणा सांग की कई एक विशेषताएँ रही हैं इनमें से प्रमुख इस प्रकार हैं—

हरियाणा सांग यहाँ की सामाजिक धरोहर है। इनमें व्यक्ति विशेष की कल्पनाओं, मान्यताओं एवं भावनाओं की अनुकृति नहीं मिलती।

इनमें पद्य की प्रधानता पाई जाती है। सच पूछो तो हरियाणवी सांग इसी पद्य, प्रसाद से ही जीवित है। जब तक इनमें रागिनी की सरसता एवं उपादेयता बनी रहेगी तब तक ये जनमनोरंजन के सशक्त माध्यम सिद्ध होते रहेंगे।

ये खुले में प्रदर्शित होते हैं। तख्तों का ऊँचा मंच बनाकर उसके चारों ओर बाँसों का घेरा बना लिया जाता है।

इनमें यवनिका आदि का कोई विधान नहीं होता। प्रवेश व प्रस्थान सब रंगमंच पर दर्शकों के समक्ष खुले में होते हैं। दर्शक लोग मंच के तीन ओर बैठते हैं।

इनमें कोई अंक आदि नहीं होते। समस्त- कथानक क्रम-पूर्वक चलता है, गीत, नृत्य और वार्ता यथावसर होते हैं।

(4) (i.) नौटंकी—नौटंकी गेय नाटक है और इसका प्रदर्शन उत्तर प्रदेश, पंजाब और राजस्थान में है। इस शैली के प्राचीन नाटकों को संगीत कहा जाता था, अब भी नौटंकी का सांगीत नाम स्वीकृत है। नौटंकी नाम पड़ने का कारण “शहजादी नौटंकी”, नाम के एक सांगीत को बतलाया जाता है जो इतना लोकप्रिय हुआ कि इस नाट्यरूप को ही नौटंकी नाम दे दिया।

इसकी कथा इस प्रकार है—

पंजाब की अत्यंत रूपवती और कोमलांगी शाहजादी का नाम नौटंकी था। एक बार भाभी के ताना मारने पर कि बड़े रोब वाले हो तो नौटंकी शाहजादी को क्यों नहीं ब्याह लाते? एक युवक जनाना वेश धारण कर किसी उपाय से नौटंकी के पास पहुँच गया। अधिक मित्रता हो जाने पर दोनों महल में प्रेमी-प्रेमिका की भाँति रहने लगे। बादशाह को पता चलने पर युवक को फाँसी का हुक्म दिया, नौटंकी भी साथ प्राण त्यागने को तैयार हुई, तब बेटी के मोह में युवक को क्षमा दान दे दिया और उसके साथ नौटंकी की शादी करा दी। इस नाम के सम्बन्ध में कुछ कारण बतलाये जाते हैं। नौटंकी की व्युत्पत्ति नाटक शब्द से मानी जाती है। नाटक से नाटकी और उससे नौटंकी। कुछ लोग, इसका टिकट नौ टंके का होता था इसलिए इसका नौटंकी नाम पड़ना बतलाते हैं। यह भी कहा जाता है कि इनके साथ नौ प्रकार के नक्कार बजाये जाते थे, परन्तु अधिक यही जान पड़ता है कि “नौटंकी शहजादी” नाम के सर्वाधिक लोकप्रिय संगीत के कारण ही इसका नौटंकी नाम प्रचलित हो गया है। हाल के वर्षों में इसका संगीत नाम फिर से अपनाया जाने लगा है।

अनुमान है कि नौटंकी का विकास गाथा गायन की शैली से हुआ। गाथा गायक अपनी कथाओं में बीच-बीच में नाटकीय अभिव्यक्ति करते थे धीरे-धीरे नाटकीय अभिव्यक्ति के लिए पात्रों का प्रयोग किया जाने लगा इस प्रकार नाट्यरूप का जन्म हुआ। नौटंकी की परिकल्पना कथागायन के रूप में ही की जाती है। कथा गायक-रंगा-कथा का गायन करता रहता है और विशेष नाटकीय या भावात्मक प्रसंगों को गेय संवादों में पात्रों द्वारा प्रस्तुत किया जाता है।

उत्तर प्रदेश और राजस्थान ये दो नौटंकी के प्रमुख प्रदेश रहे हैं इन दोनों स्थानों की नौटंकियाँ अपने मूल रूप में तो एक ही जैसे रचना और व्यवहारों को अपनाती हैं परन्तु स्थानीय संगीत और नृत्य शैलियों के अन्तर से कुछ भिन्नता आ गई है। इन शैलियों में कानपुर और हाथरस की शैलियाँ प्रमुख हैं। हाथरस शैली के प्रवर्तक नत्थाराम गौड़ तथा कानपुरी शैली के प्रवर्तक श्री कृष्ण पहलवान कहे जाते हैं। हाथरस की नौटंकी का संगीत सुगम है एवं मंच सज्जा भी सादी है। कानपुरी नौटंकी के छंदों की विविधता विशेष प्रकार बहरतवील छंद का सुन्दर प्रयोग एवं पारसी रंगमंच का प्रभाव अधिक है परन्तु लोक के बीच इसका नौटंकी नाम ही अधिक लोकप्रिय और जाना हुआ है।

कानपुरी नौटंकी के प्रवर्तक श्रीकृष्ण पहलवान पर प्रसिद्ध देश भक्त गणेशशंकर विद्यार्थी का बहुत प्रभाव था उसके कारण उन्होंने, जलियाँ वाला बाग, टीपू सुल्तान, शहीद भगत सिंह आदि नौटंकियाँ प्रस्तुत की जो जन-सामान्य के बीच राष्ट्रीय की भावनाओं की प्रेरक सिद्ध हुई।

कथास्रोत—इसमें लोकप्रचलित आख्यानों को अपनाया गया है। जन-सामान्य के बीच तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दियों से ही प्रेमाख्यानों की लम्बी परंपरा चली आ रही है। इन प्रेमाख्यानों पर फारसी के कथानकों और रूढ़ियों का प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है। इन कथाओं में प्रेम और विरह का अतिरंजित चित्रण किया गया है और अनेकानेक विघ्नबाधाओं और अभिव्यक्तिपूर्ण जटिलताओं से होकर नायक-नायिका का विरह-मिलन दिखलाया जाता है। इस प्रकार की कथाओं पर आधारित नौटंकियों में नौटंकी शहजादी, सियाहपोश, सब्जपरी, गुलफाम, त्रिया चरित्र, सुलताना डाकू, शाही लकड़हारा आदि हैं।

नौटंकी के कथानकों का दूसरा प्रमुख स्रोत है ऐतिहासिक कथानक, इनमें अमर सिंह राठौर, पन्ना दाई, पृथ्वीराज चौहान, रानी दुर्गावती आदि हैं। इनमें इतिहास को सतही तौर पर ही लिया गया है और ऐतिहासिक नाम लेते हुए भी कथानकों को बहुत कुछ लोक-प्रचलित कथानकों के अनुरूप ही ढाल लिया गया है।

नौटंकी यद्यपि लोकपरक नाट्यरूप है फिर भी उसमें बहुत से धार्मिक ओर पौराणिक कथा-प्रसंगों को भी ग्रहण किया गया। सत्यवादी हरिश्चन्द्र, राम बनवास, मोरध्वज, नल दमयन्ती और श्रवण कुमार इन धार्मिक कथानकों में भी प्रस्तुतीकरण में कहीं-कहीं सस्ते मनोरंजन को अधिक महत्त्व दे दिया गया है। सत्यवादी हरिश्चन्द्र जैसे गंभीर नाटक में रानी तारामती का कूल्हे मटकाते हुए नृत्य करते गिर-गिर पड़ना गरिमा को खंडित करता है।

कथा का प्रस्तुतीकरण गाथा गायन की शैली में किया जाता है। नाटक के प्रारम्भ में मंगलाचरण होता है और उनके पश्चात् गायक आकर कथा के किसी नाटकीय प्रसंग का गायन करता है, उसी बीच पात्र आकर अपने संवादों का गान करने लगते हैं। संपूर्ण कथा रंगा के गायन और पात्रों के संवादों द्वारा चलती रहती है। लोक प्रचलित कथानकों के प्रस्तुतीकरण में कथानक रूढ़ियों में प्रयोग किया जाता है। कथा का ढाँचा लगभग सदा ही लचीला और अनौपचारिक होता है।

नौटंकी की भाषा में उर्दू या हिन्दी होती है। भाषा में उर्दू या हिन्दी की प्रधानता कथानक पर निर्भर करती है— धार्मिक कथानकों में हिन्दी के शब्दों की प्रचुरता रहती है, परन्तु अधिकतर नौटंकियों में प्रमुखतः उर्दू का प्रयोग किया जाता है। कहीं-कहीं तो अरबी, फारसी के शब्दों की बहुलता के कारण शैली बोझिल और कृत्रिम प्रतीत होने लगती है।

नौटंकी गेय नाटक है अतः संवाद गाकर बोले जाते हैं। संवादों को कई छन्दों में बाँधा जाता है। जिसमें बहरतवील, चौबोला, दोहा, लावनी, शैर, टुमरी, दादरा, कब्बाली, ख्याल, गजल आदि में संवाद रखे जाते हैं। गायन शैली और नगाड़े के लिए सबसे उपयुक्त छन्द बहरतवील होता है और यही सबसे अधिक लोकप्रिय भी है।

नौटंकी में थिएटर धुन में लिखे गये संवाद भी बहुत प्रभावशाली होते हैं। इस प्रकार की संवाद रचना की प्रेरणा पारसी रंगमंच से ली गई है। सियाहपोश नौटंकी में कोतवाल कहता है :

क्यों दाग लगता है मियाँ खान्दान में।
और अपनी शान में॥
मतलब के दोस्त यार हैं सब इस जहान में॥
हो किस गुमान में॥

इसमें पद्य संवादों के साथ गद्य संवाद भी रहते हैं।

नौटंकी रंगमंच सादा खुला प्लेटफार्म स्टेज या चबूतरा मंच होता है। यह चारों तरफ से खुला रहता है ऊपर कभी-कभी एक चंदौवा तान दिया जाता है। आठ-दस तख्त मिलाकर वह मंच तैयार कर लिया जाता है। यह रंगमंच खेतों, मैदानों, शहर के चौराहों या अहातों में अस्थायी रूप से बना लिया जाता है।

इसमें पर्दे आदि की कोई व्यवस्था नहीं होती। तीन ओर दर्शक बैठते हैं, शेष सारा मंच अभिनय क्षेत्र होता है। मंच के पीछे श्रृंगार कक्ष बनाया जाता है। वहीं से पात्र रंगमंच पर आते हैं और अपना काम करके वापस चले जाते हैं अथवा मंच पर ही पीछे की ओर सामाजियों के साथ बैठ जाते हैं उस समय उन्हें उपस्थित नहीं माना जाता और वे आराम से पान चबाते हुए मानो दर्शकों के रूप में बैठे रहते हैं।

इस प्रकार के खुले रंगमंच के चारों ओर दर्शकों के बैठने से समूचे एवं मंच प्रदर्शन में एक अनौपचारिकता और सहजता आ जाती है। दर्शक पात्र के नितान्त आत्मीय हो जाते हैं और वह नाटकीय कथा मानो उनकी कथा बन जाती है।

रंगमंच पर दृश्यसज्जा का कोई विधान नहीं होता। नितान्त आवश्यक उपयोग की वस्तुएँ पात्र अपने साथ मंच पर लाते और वापस ले जाते हैं। दर्शक रंगकर्मी के कह देने से उसी स्थान को कभी राजमहल मान लेते हैं कभी उपवन और कभी नदी का किनारा।

अभिनय शैली—रंगमंच की यह अनौपचारिकता अभिनेता को स्वतंत्रता प्रदान करती है। रंगमंच पर पात्रों का प्रवेश और प्रस्थान मंच पर उनकी गतियों और संवाद निवेदन कुछ बहुत सरल और उन्मुक्त होता है। रंगकर्मी घटना स्थल और व्यापार का संक्षिप्त परिचय देता है और उस समय व्यापार में नियोजित पात्र मंच पर आ जाते हैं।

मंच पर अभिनेताओं की गतियों में भी उन्मुक्तता का आभास होता है। वह सारे मंच पर घूम-घूम कर अभिनय करता है। संवाद बोलते-बोलते तीन ओर बैठे दर्शकों के अभिमुख होता है और अधिकतर खड़े-खड़े या घूमते हुए संवाद बोलता है। अभिनेता अपने संवाद की एक-एक पंक्ति को दो-दो तीन-तीन बार दोहराता है। दर्शकों को इससे रस प्राप्त होता है और कथा प्रवाह में बाधा नहीं जान पड़ती।

संवाद बोल चुकने के पश्चात् अभिनेता वादक द्वारा नगाड़े पर अपने गाए हुए चरण और पक्तियों की लय दोहराने पर नृत्यवत् गतियाँ और अंग-संचालन प्रस्तुत करता है। स्त्री पात्र तो नृत्य करते ही हैं, सभी पात्रों की गतियों में संगीत और लय प्रधानता के कारण नृत्यवत्ता होती है। मुद्रा अतिरंजित होती है। अभिनय यथार्थपरक न होकर रूढिबद्ध होता है।

नौटंकी या सांगीत में स्त्री पात्रों का अभिनय स्त्रियाँ ही करती हैं। स्त्रियों को नौटंकी-गायन और अभिनय के क्षेत्र में पर्याप्त ख्याति मिली।

कानपुर-नौटंकी की गुलाब बाई और हाथरस की कृष्णा प्रसिद्ध हुई। गुलाब बाई को नौटंकी गायन के लिए केंद्रीय संगीत नाटक अकादमी का पुरस्कार प्राप्त हुआ।

पिछली शताब्दी के समय में जब इन नाटयरूप का प्रचलन हुआ तो मशालों का प्रयोग किया जाता था। फिर गैस की रोशनी का उपयोग होने लगा। अब भी ग्रामीण प्रदर्शनों में गैस का प्रयोग किया जाता है। इसका प्रकाश बहुत ही तेज होता है और समूचे अभिनय क्षेत्र को एक स्थान प्रकाशित कर देता है और अभिनेता को बड़ा क्षेत्र प्रदान करता है। नगरों के प्रदर्शनों में अब बिजली का प्रयोग होता है। प्रकाश योजना पूरे प्रदर्शन में सामान्य और एक-सी रहती है। आधुनिक नाट्य-प्रदर्शनों के समान उसको घटाया-बढ़ाया या पारसी रंगमंच के समान किसी चमत्कारी रूप में उसका प्रयोग नहीं किया जाता।

पारसी रंगमंच के सम्पर्क और प्रतिद्वन्द्विताओं के कारण तथा बाद में फिल्मों के प्रभाव से नौटंकी का रूप परिवर्तन हुआ। अपनी लोकप्रियता और सहज शक्ति के कारण वह बची तो रह गई परन्तु

उसकी विशिष्टता कम हो गई। नौटंकी की नयी शैली में आधुनिक शहरी रंगमंचों पर पर्यो के साथ प्रदर्शन होने लगा, उसमें गेय संवादों के स्थान पर गद्य संवाद रखे जाने लगे, अभिनय यथार्थपरक हो गया। परन्तु ये सारी बातें नौटंकी की प्रकृति के विरुद्ध होने के कारण इससे उनका रस फीका पड़ जाता है।

इधर फिर से प्राचीन शैली की नौटंकी-प्रदर्शनों की ओर ध्यान दिया जा रहा है और धीरे-धीरे शहरों में नौटंकी के फिल्म प्रभावित भोंडे प्रदर्शन समाप्त होते जा रहे हैं।

(ii) नौटंकी

नौटंकी उत्तर प्रदेश का संगीत प्रधान लोकनाट्य रूप है। हिंदी लोकनाट्य के अध्येता के लिए ऑपेरा शैली का नौटंकी रंगमंच अत्यंत रोचक रंगमंच है। नाट्य प्रणाली की दृष्टि से इसे मध्य युगीनता और आधुनिकता के बीच रखा जा सकता है।

मानक हिन्दी कोश (1964) में नौटंकी की परिभाषा इस प्रकार दी है—सामान्य जनों के बीच प्रस्तुत किया जाने वाला एक प्रकार का लोकनाट्य है जिसका कथानक शृंगारिक अथवा युद्धपरक होता है और जिसके संवाद गेय होते हैं। इसमें संगीत की प्रधानता होती है और इसके छंदों का गायन नक्कारे अथवा ढोलक के साथ किया जाता है। इस परिभाषा में नौटंकी की दोनों विशेषताओं लोकपरकता और संगीत प्रधानता का उल्लेख किया गया है।

उद्भव-नौटंकी का विकास उन्नीसवीं शताब्दी के अंत में हुआ। उसी समय औद्योगीकरण का भी विकास हो रहा था नौटंकी का प्रमुख केन्द्र उत्तर प्रदेश का प्रसिद्ध औद्योगिक नगर कानपुर बना। पश्चिम उत्तर प्रदेश में हाथरस में इसकी दूसरी अत्यंत आकर्षक शैली का प्रादुर्भाव हुआ।

नौटंकी के नाम को लेकर काफी सोच विचार हुआ है। यह भी कहा गया कि नौटंकी नाट्य शब्द से बना लिया गया है परंतु नौटंकी शब्द तो नाट्य साहित्य में मिलता ही नहीं अतः यह मत उचित नहीं है। श्री अमृतलाल नागर ने कहा है कि नौटंकी प्रस्तुति का प्रवेश टिकट नौ टके का होता था इसी से उसे नौटंकी कहते हैं। कुछ लोगों का मत यह भी था कि उसके साथ नौ प्रकार के वाद्य नौटंका बजाए जाते हैं इसलिए नौटंकी नाम पड़ा। कुछ औरों ने कहा कि विशिष्ट संगीत और नक्कारे की धुन के कारण नवटंकार के कारण इसे नौटंकी कहा गया। परंतु यह कोई भी मत मान्य नहीं हो सके और अंततः उसके इस नाम की कहानी इस प्रकार मान ली गई है।

मुल्तान की सुंदरी राजकुमारी नौटंकी प्रतिदिन नौटंका भर आहार ग्रहण करती थी और इसी से उसका नाम नौटंकी पड़ा। एक दिन एक युवक को उसकी भाभी ने ताना मारा कि घर लौटकर इतना हुक्म चलाते हो तो अपने लिए नौटंकी शहजादी ब्याह कर क्यों नहीं ले आते? युवक को यह बात चुभ गई और मुल्तान पहुँच कर स्त्री वेष धारण कर नौटंकी शहजादी की मालिन की सहायता से नौटंकी के कक्ष में पहुँच गया, नौटंकी के सामने पुरुष रूप में आते ही उन दोनों का परस्पर प्रेम हो गया और सवेरे

जब नौटंकी को तौला गया तो उसका बजन बढ़ा हुआ था उसके पिता को संदेह हुआ और नौटंकी की प्रार्थना पर उस युवक के साथ शाहजादी नौटंकी का विवाह कर दिया गया। यही कथानक इस नाट्य रूप में सबसे पहले लिखा और खेला गया “कहानी शाहजादी नौटंकी की” और यह प्रस्तुति इतनी लोकप्रिय हुई कि इस प्रकार के नाट्य रूप का नाम ही नौटंकी पड़ गया, बनारस में 1882 में खुशीराम का लिखा हुआ सांगीत रानी नौटंकी का मिलता है। वास्तव में इस लोक प्रस्तुति का नाम तो सांगीत था। आज भी यह नाम स्वीकृत है—ऑपेरा होने के कारण या नौटंकी कहानी के अतिशय लोकप्रिय होने के कारण इस नाट्य रूप को ही नौटंकी कहा जाने लगा। अब भी इसका लिखित रूप सांगीत कहा जाता है और प्रस्तुति को नौटंकी कहते हैं।

नौटंकी का प्रमुख क्षेत्र उत्तर प्रदेश-मध्य और पश्चिम दोनों हैं परन्तु लोकप्रियता के कारण उसकी प्रस्तुतियाँ राजस्थान में भी होती हैं परन्तु प्रमुखतः यह उत्तर प्रदेश का नाट्य रूप है। यहाँ इसकी दो शैलियाँ हैं—कानपुर की शैली और हाथरस की शैली। कानपुर की शैली के प्रवर्तक श्रीकृष्ण पहलवान और हाथरस की शैली के प्रवर्तक नत्थाराम गौड़ हैं। श्रीकृष्ण पहलवान ने सन् 1927-28 के आसपास कानपुर में श्रीकृष्ण संगीत कम्पनी के नाम से व्यावसायिक स्तर पर नौटंकी प्रदर्शन प्रारम्भ किए पर इसके पहले से ही वे शौकिया तौर पर प्रदर्शन करते थे। श्रीकृष्ण पहलवान पर गणेश शंकर विद्यार्थी का बहुत प्रभाव था इसलिए उन्होंने जन जागरण एवं राष्ट्रीय भावना से परिपूर्ण नौटंकियाँ लिखीं। इनकी लिखी जलियावाला बाग, टीपू सुल्तान, शहीद भगत सिंह और बलिया का शेर नामक नौटंकियाँ बड़ी लोकप्रिय हुईं और उस समय के जन मानस पर उनका प्रभाव भी बहुत पड़ा। श्रीकृष्ण पहलवान को नौटंकी के क्षेत्र में योगदान के लिए केन्द्रीय संगीत नाटक अकादमी ने पुरस्कृत भी किया। इसके अतिरिक्त उन्होंने हरिश्चन्द्र तारामती, नल दमयंती आदि पौराणिक कथाएँ भी लिखीं।

कानपुरी नौटंकी के अन्य प्रणेताओं में त्रिमोहन उस्ताद, लालमणि नम्बरदार तथा छिछन उस्ताद का नाम सगर्व लिया जाता है। ये लेखक नौटंकी के नक्कारा वादन में भी अत्यंत प्रख्यात थे।

हाथरस का इन्दरमन अखाड़ा (1812-1920)—19वीं शताब्दी के अंत में नौटंकी की शैली और विषय वस्तु में काफी परिवर्तन हुए। हाथरस में सबसे पहले श्री मुरारीलाल ने नौटंकी प्रारम्भ की, ये भी मुरलीधर हरनारायण की नौटंकी मण्डली में थे इनकी लिखी लक्ष्मण शक्ति, रुक्मिणी मंगल, लवकुश कांड आदि नौटंकियाँ बड़ी प्रसिद्ध और लोकप्रिय हुईं इसके पश्चात् इनकी मण्डली में श्री. नत्थाराम आए जिन्होंने बहुत नौटंकियाँ लिखीं और करवाई इनकी यह मण्डली इंदरमन का अखाड़ा कहलाती थी। नौटंकी मण्डली को अखाड़ा भी कहते हैं। श्री नत्थाराम ने धार्मिक और पौराणिक कथानकों पर भी अनेक नौटंकियाँ लिखीं। इन्होंने 25 भागों में सम्पूर्ण रामायण सांगीत शैली में लिखी थी। यह पूरी तरह रामचरित मानस पर आधारित है और इसके छंदों का प्रयोग अनेक प्रदेशों की रामलीलाओं में किया जाता है।

हाथरस में इन्दरमन के अखाड़े के पास ही दाऊ जी का मंदिर था और नत्थाराम प्रतिवर्ष वहाँ प्रस्तुत करने के लिए एक नयी नौटंकी लिखते थे। 1890 के आसपास नत्थाराम ने अपने दल को लेकर

समूचे उत्तर भारत की यात्रा की और इस प्रकार उनकी शैली की नौटंकियों की लोकप्रियता बहुत बढ़ गई। हाथरस में और अखाड़े भी थे परंतु सबसे प्रसिद्ध नौटंकी दल नत्थाराम का ही था।

कानपुर में नौटंकी का विस्तार आगे चलकर हुआ। 1910 से 1930 तक कानपुर में श्रीकृष्ण पहलवान की नौटंकियों की बहुत लोकप्रियता रही। कानपुर औद्योगिक नगर था और वहाँ मजदूरों के बीच नौटंकी की लोकप्रियता बहुत अधिक हो गई। क्रमशः कानपुर की नौटंकी की अपनी अलग शैली हो गई, सबसे बड़ी विशेषता तो यही रही कि कानपुर की नौटंकी में स्त्री पात्रों का प्रवेश हुआ। बाद में हाथरस की नौटंकी में भी स्त्रियाँ अभिनय करने लगीं। वास्तव में पारंपरिक रंगमंच में नौटंकी या सांगीत उन लोकनाट्यों में से है जिसमें स्त्रियाँ अभिनय करती रही हैं। प्रारम्भ में वेश्यायें स्त्री अभिनेत्रियों के रूप में आगे आईं और फिर साधारण घरों की स्त्रियाँ भी इसमें भाग लेने लगीं। बीच में वेश्याओं के कारण मजदूरों के बीच काफी लड़ाई झगड़ा हो जाता था और इसलिए कानपुर शहर में नौटंकियों का प्रस्तुतीकरण बंद किया गया। इस तरह कानपुर की नौटंकी शहर से निकल कर गाँवों में चली गई। अब नौटंकी की प्रस्तुति गाँवों के मेलों, उत्सव-त्यौहारों या घर के विवाह आदि में होने लगी। यह सिलसिला अब भी चल रहा है और ग्रामीण अंचलों में नौटंकी एक बड़ा लोकप्रिय नाट्यरूप है। हाथरस की नौटंकी भी अपने आसपास के ग्रामीण अंचलों में भी प्रस्तुत होती है।

नौटंकी का मंच—पहले नौटंकी का मंच मात्र एक चबूतरा होता था, उसमें परदों या रंग सज्जा का प्रयोग नहीं होता था। अब भी ग्रामीण क्षेत्रों में नौटंकी के लिए किसी नियमित प्रेक्षागृह की आवश्यकता नहीं होती। गाँव की चौपाल या बगिया या नगर में सार्वजनिक स्थान, सड़क या जजमान के द्वार के सामने मंच बना लिया जाता है। कई तख्त डालकर और उस पर दरी डाल कर मंच बन जाता है। उस समय तक नौटंकी का स्वरूप पद्यबद्ध संवादों में लिखी गई अभिनेय कहानी का सा होता था। स्थान और समय की अन्विति के नियम लागू नहीं होते थे। परंतु आगे चलकर नौटंकी पर विशेषकर कानपुर शैली की नौटंकी पर पारसी रंगमंच का प्रभाव पड़ा और पर नौटंकी के प्रस्तुतिकर्ता परदों वाले मंच का प्रयोग करने लगे। अब उसी प्रकार के मंच पर नौटंकी प्रस्तुत होती है। और इसी से नौटंकी जब एक स्थान से दूसरे स्थान को जाती है तो उसके साथ बड़े-बड़े परदे मंच का बड़ा साज-संभार चलता है। इधर तीसेक वर्षों से फिल्मों का प्रभाव भी पड़ा है और पुरानी फिल्मों की बड़ी प्रसिद्ध कहानियाँ जैसे सिकंदर और पुकार आदि नौटंकी में अपना ली गईं। इस संबंध में यह बात भी ध्यान में रखने की है कि लिखित रूप में सांगीत कहलाई जाती है और प्रस्तुति में नौटंकी। हाथरस में सांगीत शब्द का ही प्रचलन अधिक है।

कथानक—नौटंकी लोकाधारित नाट्यरूप है, इसके अधिकतर कथानक लोकपरक होते हैं—जैसे नौटंकी शहजादी, लैला मजनू, सुल्ताना डाकू आदि। परंतु पौराणिक एवं धार्मिक कथानक भी लोकप्रियता की दृष्टि से अपनाए गए हैं जैसे शकुंतला, नल दमयंती, सत्यहरिश्चंद्र आदि। कहा जा चुका है कि हाथरस शैली में धार्मिक कथानक अधिक थे और कानपुर वाली में लोकपरक। देशभक्ति और राष्ट्रीयता परक सांगीत भी बहुत लिखे गए जैसे—जलियावाला बाग, शहीद भगत सिंह, चन्द्रशेखर आजाद आदि। इस प्रकार नौटंकी अथवा सांगीत में कथानकों की बहुत विविधता है, और शायद आज तक ग्रामीण अंचलों

में उसके चलते रहने का कारण भी यही है। शहरों में फिल्मों का जो स्थान है ग्रामीण अंचलों में नौटंकी का वही स्थान है।

सभी सांगीत पुस्तक रूप में मिलते हैं, और केवल नाट्य रूप में ही नहीं वरन् पढ़ने के लिए भी लोग इन्हें मोल लेते हैं। नौटंकी मण्डलियों के संचालक श्रीकृष्ण पहलवान और नत्थाराम दोनों ने ही सांगीतों का प्रकाशन किया पर अब तो उत्तर प्रदेश के कस्बों के सभी प्रकाशक लोकप्रिय सांगीतों को छापते हैं और इनकी बहुत बिक्री होती है। इनके आकर्षण का प्रमुख कारण यह है कि ये कथानक उत्तर भारतीय संस्कृति का पूरा चित्र प्रस्तुत करते हैं, इनमें आदर्शवादिता भी होती है और यह हास विलास से भरे ही होते हैं।

पात्र—पहले अन्य लोकनाट्यों की भाँति नौटंकी में भी पुरुष ही स्त्रियों का अभिनय करते थे परन्तु जल्दी ही नौटंकी मंच पर स्त्रियों का प्रवेश हो गया। जैसा कि कहा गया है नौटंकी मंच को अपना लिया, पहले वेश्याओं का प्रवेश हुआ फिर साधारण घरों की स्त्रियाँ भी इसमें आने लगीं। कानपुर मंच की गुलाबबाई तो अपने अभिनय के लिए अत्यधिक प्रसिद्ध है और उन्हें उत्तर प्रदेश अकादमी का सम्मान भी मिला है। हाथरस की कृष्णा भी बहुत कुशल अभिनेत्री थी। नौटंकी में रंगा नाम से सूत्रधार होता है जो कथा का परिचय भी देता है और बीच बीच में नौटंकी का पात्र भी बन जाता है। सभी अभिनेता चाहे वे राजा बन रहे हों या योद्धा अथवा कोई धार्मिक चरित्र अपने अभिनय को बड़ी कुशलता से निभाते हैं। विदूषक जिसे जोकर कहा जाता है, बीच बीच में आकर कथानक में हास्य की सृष्टि करता है। गंभीर कथानकों में भी बीच में हास्य की प्रस्तुति पारसी रंगमंच के प्रभावस्वरूप होने लगी।

वेशभूषा और रूपसज्जा—वेशभूषा पात्र के चारित्रिक गुणों पर आधारित होती है। अधिकतर चमक-दमक और तडक-भड़क वाले वस्त्र पहने जाते हैं। नायक यदि राजा हुआ तो मुगलकालीन चोगा और पगड़ी आदि धारण करता है—कामदार जूतियाँ भी। सामाजिक कथानकों का भी वस्त्रविन्यास आकर्षक होता है। स्त्रियाँ चमकीली साड़ी या लहंगाँ दुपट्टा पहनती हैं, अब नाईलोन का प्रयोग भी होता है। नकली मोतियों और झूठे गहने भरभर हाथा चूड़ियों का शृंगार होता है। मुखसज्जा भी भड़कीली आकर्षक होती है।

संगीत—नौटंकी एक गेय रूपक है अतः संगीत इसकी प्रमुख विशेषता भी है और इसका आकर्षण भी। पहले कहा जा चुका है कि नौटंकी खुले मंच का नाट्य है। देर रात में गाँवों में नौटंकी का नक्कारा गूँजता है और दर्शकों को अपनी ओर आकर्षित करता है। नक्कारे के अतिरिक्त नौटंकी में ढोलक, क्लेरिओनेट या शहनाई का प्रयोग भी होता है। इन सबकी सम्मिलित सुरीली आवाज दूर दूर तक गूँज उठती है और तब तक बजती रहती है जब तक मंच के तीनों या चारों ओर दर्शक मण्डली आकर जुट नहीं जाती फिर गंगा (सूत्रधार) प्रवेश करके उस दिन की नौटंकी के प्रमुख पात्र का परिचय देता हुआ—नौटंकी की एक प्रकार से घोषणा करता है और फिर ये सभी वाद्य बज उठते हैं इन्हें सम्मिलित वाद्यों को नौबत भी कहा जाता है, गणेश वन्दना के बाद पात्रों का प्रवेश होता है। अधिकतर पात्र पूरे समय मंच पर ही बैठे होते हैं और अपनी भूमिका का समय आने पर उठ कर अपना गीत गाते हैं या

संवाद बोलते हैं, पर परदों वाले मंच पर पात्रों का प्रवेश और प्रस्थान पारसी रंगमंच की शैली में होता है। सभी पात्र चाहे पुरुष हों या स्त्री गायन में कुशल होते हैं और उनकी आवाजें बड़ी ऊँची तेज होती हैं जो दूर दूर तक बैठे दर्शकों को भी सुनाई देती है। गायन पर हिंदुस्तानी संगीत और लोकधुनों का प्रभाव होता है नौटंकी के प्रसिद्ध छंद हैं चौबोला और बहरतवील, ये बड़ी ऊँची आवाज में गाये जाते हैं और बड़े आकर्षक लगते हैं। हाथरस की नौटंकी शैली का संगीत अधिक कर्णप्रिय और मधुर होता है। इसके प्रसिद्ध अभिनेता गिरिराज प्रसाद को अपने नौटंकी गायन में मध्य प्रदेश का कालिदास सम्मान मिला था। वास्तव में नौटंकी का संगीत खुले में गाने योग्य संगीत है और उसमें ऐसे छंद लिए जाते हैं जिन्हें, तार स्वर में गाया जा सकता है। स्त्रीपात्र दादरा, टुमरी आदि भी गाते हैं, गजल का भी प्रयोग होता है। नौटंकी में गद्य संवादों का प्रयोग बहुत कम होता है अधिकतर अलग-अलग छंदों में गेय संवाद प्रस्तुत होते हैं और वही नौटंकी का प्रमुख आकर्षक भी होते हैं। अब अन्य लोकनाट्य रूपों की भाँति नौटंकियों के कैसेट भी बनने लगे हैं जो बहुत बिकते हैं।

नौटंकी के अभिनेताओं को संगीत का प्रशिक्षण नियमित ढंग से नहीं दिया जाता है। स्वयं ही सुनकर या अभ्यास करके गायन सीखते हैं, इसी से उनका गायन शुद्ध रागों पर आधारित न होकर मिला जुला होता है पर लोकधुनों के मिल जाने के कारण बहुत प्रभावी और आकर्षक होता है।

बहरतबील — यह अरज मेरी तुमसे है माहेल का
दिल लगाके न दिल को हटा लेना तुम।
बेवफाई न करना कभी भूलकर
गर मोहब्बत करो तो निभा देना तुम

गजल— तेरा ही तसव्वुर रहता है, तू दिल में समाई रहती है,
मैं रातों को जागा करता हूँ जब सोती खुदाई रहती है। —सुलताना डाकू

भाषा— नौटंकी की भाषा बोलचाल की होती है, उर्दू शब्दों की प्रधानता लिए हुए। वैसे भाषा का प्रयोग कथानक के प्रयोग पर भी निर्भर होता है जैसे रामायण पर आधारित संगीत की भाषा हिंदी संस्कृत प्रधान होती है। लोकपरक कथानकों में—जो कि अधिक है—हिन्दुस्तानी का ही प्रयोग किया जाता है। सामान्य व्यक्ति के बीच जो भी भाषा अधिक स्वीकृत और समझने योग्य हो उसी का प्रयोग किया जाता है।

मंगलाचरण, ईश्वर, प्रार्थना, वेदना स्तुति, हम्दे खुदा याकोरस से लेकर नौटंकी के उपसंहार तक सभी हिन्दी उर्दू या लोकछंद गेय हैं। मंगलाचरण प्रायः विभिन्न राग रागिनियों में गाये जाते हैं। दोहा चौपाई सोरठा में हिन्दी का और बहरतबील, कव्वाली, गजल, शेर आदि में उर्दू का प्रयोग होता है। इन सब छंदों की अपनी विशिष्ट धुनें भी हैं। रंगा नौटंकी की कथा के स्थान, समय, नामक एवं उससे संबंधित प्रमुख पात्रों का वर्णन कर बीच-बीच में प्रवेश कर कथा सूत्र भी जोड़ता चलता है, कभी कभी कॉमिक गाने अथवा नृत्य द्वारा भी दृश्य परिवर्तन की सूचना दे दी जाती है। इस प्रकार नौटंकी या संगीत उत्तर प्रदेश का एक प्रमुख-लोकनाट्य रूप है- फिल्मों के प्रचार के बाद इसका प्रचलन नगरों में कम हो गया परंतु

ग्रामीण अंचलों में, मेलों में और पर्व त्यौहारों में अब भी नौटंकी का नक्कारा गूँजता है और उसके छंदों की तेज और आकर्षक ध्वनि सुनाई पड़ती है।

(5) **बिदेसिया**— बिदेसिया बिहार का अत्यंत लोकप्रिय नाट्य-रूप है। इसके प्रणेता भिखारी ठाकुर का नाम बिहार राज्य में ही नहीं समूचे भोजपुरी क्षेत्र में फैला हुआ है। भिखारी ठाकुर पढ़े लिखे नहीं थे, वे बचपन में ही अपना घर छोड़ गये थे और अपनी एक घुमन्तु नृत्यगान मण्डली बना ली थी। बहुत पहले से ही भोजपुरी क्षेत्र में लौंडा नाच नाम से एक नृत्यशैली प्रचलित थी। लौंडा नाच का कोई रीतिबद्ध नृत्य नहीं होता। ढोलक या तबले की तीव्र लय पर नर्तक लौंडा कमर को विभिन्न तरह से डुलाता है। भिखारी ठाकुर की नाच पार्टी में लौंडा नाच का होना आवश्यक होता था। नाच के बीच बीच में गायन और छोटे छोटे संवाद टुकड़े—बिदेसिया नाट्य का रूपबंध यही है।

इस नाट्यरूप का नाम बिदेसिया क्यों पड़ा, इसका भी विशिष्ट कारण है। भिखारी ठाकुर ने अपने पहले नाट्य में उस विरहिणी युवती की दुःख गाथा बयान की जिसका पति काम की तलाश में कलकत्ता या ढाका जाकर बिदेसी बन जाता था और फिर वहीं किसी नागर स्त्री से प्रेम संबंध बना लेता था। विरह-पीड़िता नायिका अपनी विरह व्यथा बिरहा में प्रकट करती थी:

गवनां कराइ-सैंया घरे बइठवले से,
अपने वो भइले परदेस रे बिदेसिया
चरूली जवनिया बैरन भईली हमरी से
के मोरा हरि हैं कलेस रे बिदेसिया।

इस प्रकार से बिदेसिया से 'युक्त' लंबे-लंबे गीत बिदेसिया नाट्य रूप की पहचान है। कथा है कि भिखारी ठाकुर ने सूरदास का भ्रमरगीत सुना और अपने प्रदेश की नई नवेली वधुओं का अकेलापन तो वे देखते ही थे, भ्रमरगीत में गोपियों की विरह कथा से प्रेरित होकर उन्होंने प्रथम बिदेसिया की रचना की। इसमें चार पात्र होते थे, बिदेसी/कृष्णजी/प्यारी सुंदरी/राधिकाजी/बटोही/उद्धव/और वेश्या/कुबरी/बिदेसिया में आध्यात्मिक भाव भी लिये गये हैं, और इस कथा के अतिरिक्त आधुनिक समस्याओं और कुरीतियों पर भी आरोपित किया है। बिदेसिया नाट्यरूप इसी से इतना लोकप्रिय हुआ क्योंकि उसमें पश्चिम बिहार के ग्रामांचल की एक समकालीन समस्या को चित्रित किया गया है। भिखारी ठाकुर ने पहले बेमेल विवाह की समस्या ली है। इस तरह से उन्होंने अनेक नाटक लिखे, विधवा-विलाप, बाल-विवाह, ननद भौजाई, बेटी-बेचवा आदि हैं, ये कलकत्ते के दूधनाथ पुस्तकालय द्वारा प्रकाशित हुए हैं। बिहार क्या भोजपुरी भाषा क्षेत्र में ये बिदेसिया पुस्तकें बहुत लोकप्रिय भी हैं।

भिखारी ठाकुर की नाच पार्टी का इनकी देखा देखी अन्य नाच पार्टियों में लौंडा नाच या पुरुष नर्तक का होना आवश्यक होता था। वैसे तो बिदेसिया की शुरुआत लौंडा नाच से ही हुई। धीरे धीरे नाच के बीच बीच में प्रहसन या छोटे बड़े नाट्य-कथानक जोड़ लिये गये और यह एक नाट्यरूप बन गया। पर इस नाट्यरूप का बिदेसिया नाम भिखारी ठाकुर के रचित प्रवास गीत के कारण ही पड़ा। कहते हैं

कि भिखारी ठाकुर रव्यं तो निरक्षर थे परंतु किसी से सूरदास के भ्रमर गीत में गोपियों की विरह व्यथा सुनकर//मोर माधो काहे बिलमि बिदेस रहै//अथवा//कह कोई परदेसी की बात// यही पंक्तियाँ उनके बिदेसिया गीत की प्रेरक बनी। बिदेसिया की अपूर्व सफलता का कारण भिखारी ठाकुर का आकर्षक कंठ माधुर्य भी था। वर्षों पूर्व उनका देहान्त हो चुका है परंतु उनके जीवन काल में उनके गीतों की स्वरलहरियों पर बिहार का जन जन दीवाना रहा है। उनके समय में उनकी मण्डली स्थान-स्थान पर घूमकर प्रदर्शन करती रहती थी। पहले बिदेसिया गीत से प्रारंभ कर फिर भिखारी ठाकुर ने रामायण, महाभारत, किस्सा तोता-मैना और आल्हा-ऊदल पर भी गीत रचे और गाते रहे। इनको भोजपुरी गीतों का बादशाह कहा जाता था। कैकेयी-मंथरा संवाद हो या लक्ष्मण-परशुराम संवाद कजरी हो या झूमर, नन्द-भौजाई की बातें हों या सासु जी के ताने, पति वियोग में सावन माह बिताने वाली बहुरियार के कलेजे से उठती हूक हो या चरवाहों के स्थान पर छोरा-छोरी की चुहल—ऐसे अवसरों के लिए स्वरचित गीतों को जब भिखारी ठाकुर अपने गले की सुरीली आवाज में निकालते हैं और उनके संघतिया ढोलक और हारमोनियम पर संगत करते हैं उस समय श्रोताओं की क्या दशा होती है यह वे ही जानते हैं। (सिन्हा : भिखारी ठाकुर, पृ० 37)

बिदेसिया के अभिनय और प्रदर्शन पर रामलीला और नौटंकी का प्रस्ताव था। लौंडा नाच तो उसमें अनिवार्यतः होता ही था, अतः भोजपुरी क्षेत्र का यह अकेला गीत नृत्य नाट्यरूप अत्यधिक लोकप्रिय हुआ।

भिखारी ठाकुर के समय में और उनके बाद भी भोजपुरी क्षेत्र का यह नाट्य-रूप चलता रहा है। बिदेसिया खुले मंच की प्रस्तुति है। किसी भी खुले स्थान पर विशेषकर गाँवों की चौपालों या शादी ब्याह के अवसर पर बिदेसिया पार्टियाँ बुलाई जाती हैं और वे कई चौकियों या तख्तों को जोड़कर अथवा ईंटों का चबूतरा बनाकर अपने लिये मंच बना लेती हैं, इसके ऊपर कभी चंदोवा ताना जाता है कभी पूरी तरह मुक्ताकाशी होता है।

बिदेसिया में सूत्रधार को मूलगैन कहा जाता है, वही कथा का संक्षेप में गायन करता है और फिर पात्र संवाद बोलते हैं। मूलगैन ही नायक की भूमिका निभाता है। स्त्री पात्रों की भूमिका भी पुरुष ही करते हैं। लौंडा नाच में भाग लेने वाले लड़के अपनी नृत्य शैली के कारण कमर मटकाना और स्त्रियों के दूसरे हाव भाव सीखे होते हैं अतः स्त्री पात्रों की अभिनय स्वाभाविकता से कर लेते हैं। नाटक में अधिक पात्र नहीं होते, तीन या चार पात्र ही होते हैं। प्रधानता संगीत और नृत्य की ही होती है अतः संवाद भी अधिक नहीं होते। भोजपुरी भाषा का प्रयोग संवाद और गीत दोनों के लिये होता है। संगत के लिये ढोलक, हारमोनियम, तबला, झाल और बाँसुरी होते हैं। बजाने वालों को समाजी कहते हैं, पूरी प्रस्तुति में समाजी मंच पर उपस्थित रहते हैं और कभी-कभी उन्हीं में से कोई उठकर पात्र का रूप धारण कर कुछ संवाद बोल देता है।

गीत के लिए दोहा, सवैया, चौबोला, खेमटा, बिरहा आदि छंदों का प्रयोग होता है।

वेशभूषा और रूप सज्जा आंचलिक होती है, बहुत चमक-दमक वाली वेशभूषा नहीं होती। परंतु इधर नौटंकी के प्रभाव के कारण रामायण, महाभारत आदि कथानकों में राजसी वस्त्र आभूषण पहने जाते हैं। परंतु बिदेसिया पूरी तरह ग्रामीण रूप है। अतः पहले बहुत सजावट नहीं होती थी परंतु अब नये प्रभाव पड़ते जा रहे हैं।

बिदेसिया नाट्यरूप या उसकी शैली को अपना कर इधर नये सिरे से अपने निर्देशित नाटकों में बिदेसिया नाट्यशैली का प्रयोग किया है। उन्होंने बिदेसिया नाट्य से सूत्रधार और उसके कछ पात्र जैसी लबार या जोकर, उसकी नृत्य शैली, उसका संगीत और उसके संगत करने वाले वाद्ययंत्रों को अपनाकर अनेक नाटकों के लिये बिदेसिया नाट्य शैली का प्रयोग किया है और इस शैली में उनका माटी गाड़ी, (शूद्रक का मृच्छकटिक), मैला आँचल (फणीश्वरनाथ रेणु के उपन्यास का नाट्य रूपान्तर) ओर (रवीन्द्रनाथ टैगोर कृत) मुक्तधाम बहुत सफल रहे हैं। उन्होंने गीतों की धुनें और नृत्य-गतियाँ बिदेसिया की अपनाकर प्रभावशाली शैली का सृजन किया है और भोजपुरी क्षेत्र के इस नाट्यरूप को नया आयाम मिला है।

(6) (i) ख्याल

लोक नाट्यरूप ख्याल का राजस्थान में अत्यधिक प्रचार है। यह ख्याल तथा लावनी दोनों नामों से प्रसिद्ध है। वैसे तो ख्याल की परम्परा काफी पुरानी है। परन्तु अपने वर्तमान रूप में राजस्थानी ख्याल 18वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में प्रारम्भ हुआ। ख्याल प्रदर्शन समूचे राजस्थान और उसके आसपास के प्रदेशों में बहुत लोकप्रिय है और ख्याल मण्डलियाँ निश्चित शुल्क पर विभिन्न नगरों और गाँवों का दौरा करती तथा प्रदर्शन करती रहती हैं। ख्याल शब्द खेल या उर्दू शब्द ख्याल-विचार से बना होगा। इस नाट्यरूप का यह नाम क्यों पड़ा, इसकी निश्चित जानकारी नहीं।

राजस्थानी ख्याल संगीत प्रधान लोकनाट्य है, इसमें संगीत, नृत्य और नाटक का सम्मिश्रण होता है और गायन की प्रधानता रही है। ख्याल गेय है और विविध राग रागनियों में लिखे जाते हैं जिन्हें रंगत कहते हैं। इस प्रकार के रंगतों की संख्या साढ़े तीन सौ से ऊपर है, रागबद्ध होने के अतिरिक्त उनमें हिन्दी के छंदों लावनी, तारंक और आल्हा आदि का प्रयोग होता है। ख्याल या ख्याल को लावनी भी कहते हैं, क्योंकि इसका मूलाधार 22 मात्राओं वाला लावनी छंद है।

ख्याल नाटकों के अधिकांश कथानक या तो प्रचलित लोक-कथाओं पर या ऐतिहासिक गाथाओं और धार्मिक पौराणिक कथाओं के लिए जाने जाते हैं। कथानक कहीं से भी लिये जायें, शृंगारिक तत्त्वों को प्रधानता दी जाती है। वीर नायकों की कहानियों में प्रेम-भाव की ही अभिव्यक्ति दी जाती है। अधिक प्रचलित कथानकों में गोगा चौहान, अमर सिंह राठौर, पृथ्वीराज, तेजाजी, दुल्ही, सुल्तान निहालदे, पठान शहजादा, पन्ना वीमदे, नरसी मेहता, राजा हरिश्चन्द्र, नल-दमयन्ती, गोपीचन्द्र, भर्तृहरि आदि। कथानक का विकास व्यवस्थित नहीं होता, संगीत की प्रधानता रहती है, गायन में ही संवाद भी होते हैं, बीच के अन्तराल को नृत्य द्वारा भरा जाता है।

ख्याल का रंगमंच केवल एक ऊँचा चबूतरा मात्र होता है। यह चारों ओर से खुला रहता है। दर्शक मंच के चारों ओर धरती पर बैठते हैं। पीछे की ओर वादक समाज बैठता है। ढोलक, हारमोनियम, सारंगी, नगाड़ा आदि ख्याल के मुख्य वाद्य हैं। संवाद गीतों की समाप्ति पर नगाड़ा तेजी से बज उठता है और नृत्य के चक्कर भी तेजी से चलते हैं। तीव्र गतिमत्ता और ऊँचा स्वर ख्याल की प्रमुख विशेषताएँ हैं। नगाड़े का स्वर बड़ी दूर-दूर से दर्शक समाज को खींच लाता है। ख्याल में अभिनेतागण प्रारम्भ से अपनी-अपनी भूमिका आने पर क्रमशः प्रवेश करते हैं और पार्ट समाप्त करके प्रस्थान नहीं करते वरन् मंच पर ही बैठ जाते हैं, दूसरे अभिनेता के संवाद के साथ ही साथ पृष्ठभूमि से वे सभी उन संवादों अथवा गीतों को दुहराते रहते हैं। रंगमंच पर कोई दृश्य-सज्जा नहीं होती और कोई सामान भी नहीं रखा जाता। दृश्य का आभास कभी-कभी संवादों द्वारा दे दिया जाता है।

ख्याल में स्त्री-पात्रों का अभिनय भी पुरुष ही करते हैं। पात्र राजस्थान की परंपरागत वेशभूषा पहनते हैं। जैसे पुरुष पात्र राजस्थानी पगड़ी, अंगरखा और धोती। किसी राजा या वीर नायक की भूमिका करने पर अधिक कीमती पगड़ी और अंगरखा होते हैं। राजा, चौबदार, सैनिक, पुरोहित मन्त्री, विदूषक आदि की पोशाक एक-सी होती है, चाहे वह राजा हरिश्चन्द्र या मोरध्वज हो अथवा अमर सिंह राठौर। कभी-कभी कुछ विशिष्ट सज्जा कर ली जाती है, जैसे राजा के तलवार बाँध दी जाती है या पुरोहित भगवा रंग का चोंगा पहन लेता है। स्त्री लहंगा, चुनरी और कांचली पहनती है। आभूषणों में सिर पर बोरला होता है, हाथों में बड़े-बड़े चुडिले, पैरों में चिपके-चिपके जेवर पहनती हैं। स्त्री-पुरुष पात्र दोनों ही हार पहनते हैं और पैरों में घुघरू बाँधते हैं। मुख सज्जा सामान्य रहती है।

पहले ख्यालों में मशालों का प्रयोग किया जाता था, प्रकाश कम होने पर मशाल में मंच पर ही और तेल डाल दिया जाता था और वह भभक कर जल उठती थी। अब अधिकतर बिजली का प्रयोग होने लगा है फिर भी गाँव में बिजली उपलब्ध नहीं है, मशालों के प्रकाश में ही अभिनय होता है। इनका प्रकाश काफी होता है और समूचे प्रदर्शन को एक आकर्षण प्रदान करता है।

रात के प्रारंभ से ख्याल का प्रदर्शन प्रारम्भ होता है आधी रात से भी अधिक समय तक चलता रहता है। पहले मंच पर सभी अभिनेता एकत्र होकर गणेश या सरस्वती आदि की समवेत वन्दना के पश्चात् मंच से चले जाते हैं और भंगी आता है, गा-गाकर सफाई करता जाता है, अपना परिचय देता है। भंगी के बाद भिश्ती आकर मंच पर छिड़काव करने का अभिनय करता है, भिश्ती के जाने के बाद हलकारा आता है और अपना परिचय देने के बाद, हलकारा ख्यालकार और ख्याल की कथावस्तु का परिचय देता है। फिर अभिनेताओं को एक-एक कर मंच पर बुलाकर उनका परिचय देता है, सबसे अंत में गुझ आता है जो मण्डली का नायक भी होता है। इसके पश्चात् नाटक प्रारंभ हो जाता है।

ख्यालों की भाषा राजस्थानी होती है। लोक-प्रचलित शब्द और तीखापन तथा व्यंग्यात्मकता इस भाषा की विशेषता है। विभिन्न प्रदेशों में प्रचलित होने के कारण ख्याल गीतों में आसपास की भाषाओं के शब्द भी मिलते हैं और इसी से उनका काफी सरलीकरण हो गया है। परन्तु भाषा शैली बड़ी मधुर और आकर्षक होती है। संगीत और नृत्य तो ख्याल का प्राण ही हैं। अनेक प्रकार के छंदों जैसे लावणी,

वित्त चौबोला आदि का प्रयोग होता है और काफी, सारेठ, भैरव आदि राग लोक धुनों के रूप में प्रयुक्त होते हैं। सम की थाप पर अभिनेता मंच पर नृत्य की गति में ही प्रवेश करता है, हर संवाद के बाद और कभी-कभी उसके साथ ही नृत्य चलते रहते हैं। गीत के ऊँची तान, वाद्य के आकर्षक स्वर और नृत्य में मनमोहक घुंघरू दूर-दूर तक रात्रि की निरतब्धता में गूँजते हैं और दर्शक खिंचे चले जाते हैं।

ख्याल में हास्य और चुहल का वातावरण भी रहता है जो उसके आकर्षण को और बढ़ा देता है। पारंपरिक गीतों में सामाजिक समस्याओं का उल्लेख करने वाली पंक्तियों का भी समावेश कर लिया जाता है और कई स्थानीय व्यक्ति तथा घटना भी व्यंग्य का लक्ष्य बन जाती है। इन हास-परिहासों का आनन्द अभिनेता और दर्शक एक साथ लेते हैं और दैनंदिन थकान तथा ऊब को भूलकर नाट्यरस में सराबोर होकर रात-रात भर ख्याल देखते रहते हैं।

राजस्थानी ख्यालों के अतिरिक्त शाहदरा और फरुखावाद के भी ख्याल होते थे। जिनके वाद, गेयता और नाट्य तत्त्व राजस्थानी ख्यालों से मिलते थे, परन्तु उनकी भाषा खड़ी बोली होती थी। तुरा और कलंगी लावनी के दो विरोधी संप्रदाय माने जाते हैं तुरा वाले शिव के उपासक होते हैं, और कलंगी वाले शिव के, दोनों संप्रदायों के ख्यालकार अपनी-अपनी रंगतें बनाते हैं और सवाल-जवाब भी चलते हैं। कुछ समय तक कानपुर खड़ी बोली के ख्यालों का प्रमुख स्थान था। प्रवर्तक रिसालगिरि तुरे वाले और स्याम सिंह कलंगी वाले रहे हैं। ख्याल की यह परंपरा लुप्त प्राय है, तुरा कलंगी के ये दंगल अब नहीं के बराबर होते हैं। अब ख्याल नाम से राजस्थानी ख्याल ही प्रसिद्ध है, जो बड़ा लोकप्रिय पारंपरिक नाट्य रूप है।

(ii) ख्याल

राजस्थान के संगीत प्रधान लोक-नाट्य को ख्याल कहा जाता है। इसका उद्भव 18वीं शताब्दी से माना जाता है। ख्याल की शैलियाँ बहुत सी हैं जैसे मेवाड़ी, ख्याल, जैपुरी ख्याल, कुंचामणी ख्याल, शेखावती ख्याल, हाथरसी ख्याल आदि। इन ख्यालों में भाषा की भिन्नता है और कुछ प्रस्तुति में भी परंतु अधिकांश विशेषताएँ एक जैसी ही हैं। कोई-कोई ख्याल अपने रचयिताओं या प्रस्तुति कर्ताओं के नाम पर रखे जाते हैं जैसे अली बक्षी ख्याल। वास्तव में ख्याल, माच और नौटंकी अलग-अलग स्थानों पर विकसित हुये-जैसे राजस्थान, मालवा और उत्तर प्रदेश में और उनकी भाषा तथा संगीत राग रागनियाँ, संगत के साज अलग-अलग हैं परंतु कथानक और प्रस्तुति शैली में समानता तो यही है कि ये सभी ऑपेरा या गेय नाट्य हैं अर्थात् इनके संवाद गेय होते हैं- कुछ गद्य में भी होते हैं पर अधिकतर गाकर बोले जाते हैं। ख्याल इन तीनों लोकनाट्य रूपों में अधिक विकसित है। इसका उद्भव रास चर्चरी, फागु आदि से माना जाता है परंतु यह विशेष रूप से सामाजिक नाट्य रूप है, यद्यपि इसकी अनेकों शैलियाँ हैं जैसा कि कहा जा चुका है ये शैलियाँ कहीं तो विशेष स्थान के नाम पर है जैसे मेवाड़ी ख्याल या शेखावटी ख्याल अथवा इनके प्रस्तुतकर्ताओं के नाम पर है जैसे अली बख्शी ख्याल और कुंचामणी ख्याल। ये सभी शैलियाँ मिलती जुलती हैं परंतु भाषा की भिन्नता है, किसी में संगीत अत्यधिक प्रधान है किसी में गद्य संवादों की प्रचुरता है। पहले इसकी विभिन्न शैलियों को देख लेते हैं।

कुचामणी ख्याल—इनके प्रवर्तक पंडित लच्छूराम कहे जाते हैं—कुचामण में निवास करने के कारण इन्होंने अपने ख्यालों को कुचामणी ख्याल कहा। इनके लिखे करीब पच्चीस ख्याल हैं। इन ख्यालों में हास्य की प्रधानता है, मंच भी विशेष नहीं बनाया जाता, ये अधिकतर होली के अवसर पर प्रस्तुत होते हैं। इनमें दोहा, कवित्त, सोरठा, शेर आदि छंदों का प्रयोग होता है। भाषा उर्दू मिश्रित हिंदी होती है।

बहुत सी रागरागनियों का प्रयोग होता है, इनमें संगत के लिये नगाड़े, ढोलक, मजीरे और हारमोनियम का प्रयोग किया जाता है। इसमें नृत्य का प्रयोग भी काफी होता है उसे आदायगी कहते हैं। मंच साधारण सज्जा वाला होता है, तीन तरफ से खुला होता है। राजस्थान में इन ख्यालों के शौकिया और व्यावसायिक दोनों प्रकार के दल होते हैं।

शेखावटी ख्याल— यह इनका जन्म देने वाले प्रहलादीराम पुरोहित हैं। नानू राणा भी इन्हीं के दल से थे जिन्होंने आगे चलकर चिड़ावी ख्याल को जन्म दिया। शेखावटी ख्याल अपनी उच्चस्तरीय संगीतात्मक गायकी के लिये बहुत प्रसिद्ध हुए। पहले इनमें ढोलक, और सारंगी का प्रयोग होता था परंतु अब हारमोनियम और नगाड़े का प्रयोग भी होने लगा है।

मेवाड़ी ख्याल—यह विशेषकर वेशभूषा की चमक दमक के लिये प्रसिद्ध है। राजस्थानी वेशभूषा वैसे भी आकर्षक होती है उसमें भी मेवाड़ की वेशभूषा और भी अधिक। कलंगीदार पगड़ियाँ झिलमिलाते घेर घुमेर लहँगे, जगर मगर करते आभूषण—बाजूबंद, भारी पायलें आदि सभी इसे विशेष आकर्षण प्रदान करते हैं। इसमें संगीत और नृत्य बहुत आकर्षक होता है। मंच की कोई अधिक तामझाम या सजावट नहीं होती। थोड़ा ऊँचा चबूतरा और उसके चारों ओर बैठे रसविभोर दर्शक।

अली बख्शी ख्याल—अली बख्श इन ख्यालों के जन्मदाता थे। इनके लिखे दस ख्याल मिलते हैं। इनमें दोहा, भेंट, टुमरी आदि छंदों का प्रयोग होता है और अपने सुंदर संगीत के कारण ये बड़े लोकप्रिय भी हैं। अलीबख्श को राग रागनियों की अच्छी जानकारी थी—टुमरियाँ लिखने में बहुत ही कुशल थे।

कथावाचक ख्याल, अभिनय ख्याल आदि भी प्रसिद्ध हैं इनके नाम से ही इनकी विशिष्ट शैली की झलक मिल जाती है।

ख्याल गीत नाट्य नृत्य और वाद्य का सम्मिलित रूप है। परंतु सभी प्रकार के ख्यालों में ये समान रूप में नहीं रहते। जैसे शेखावटी ख्यालों में उच्चस्तर की गायकी होती है। पर नृत्य पक्ष कुछ कमजोर होता है, कुचामणी ख्यालों को रोवणी धुन के ख्याल कहते हैं।

यद्यपि ख्यालों की विविध शैलियाँ हैं परंतु इन सभी में कुछ बातें समान होती हैं अतः इनकी प्रस्तुति की चर्चा में इन विशेषताओं पर ध्यान देना अत्यावश्यक है। ख्याल की गणना मंचीय नाट्यों में की जाती है और विशेषकर राजस्थान भर में इन्हें इनकी गायकी और नृत्य के लिये पसंद किया जाता है। विषयवस्तु या कथानक विषय वस्तु की दृष्टि से इन ख्यालों को चार भागों में बाँटा जा सकता है। ऐतिहासिक, शृंगार-कथा आधारित, सामाजिक ख्याल और धार्मिक ख्याल।

ऐतिहासिक ख्याल—राजस्थान में वीर राजाओं की कहानियाँ अत्यंत लोकप्रिय हैं, अतः ख्यालों में भी इनकी कथाओं को गीत नाट्य के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है। राजा विक्रमादित्य, अमर सिंह राठौर, गोगाजी चौहान, पाबूजी (जिनकी कथा पट-चित्रों के माध्यम से भी सुनाई जाती है और उसे पाबूजी की पड़ कहते हैं) देव नारायण, तेजा जी, रामदेव आदि की कथायें प्रस्तुत की जाती हैं, नामों से स्पष्ट है कि ये ऐतिहासिक ख्याल राजस्थान के लोककंठ की कथाओं को प्रस्तुत करते हैं। प्रसिद्ध ऐतिहासिक कथाओं को नहीं।

शृंगारिक ख्याल—लोक के बीच प्रचलित प्रेमाख्यानों को लेकर इन ख्यालों की रचना हुई है, ख्यालों में शहजादा सुलतान, पद्मावत, भँवर चमेली, रूपरल, रसफूला, राजा रिसालू, पंचफूला राणी, हीर राँझा, लैला मजनूँ, सुल्तान निहालदे, ढोलामरवण. माधवानल कामकंदला, राजा केशरसिंह और रानी फूलादे आदि हैं। रोचक बात है कि नौटंकी नाट्यरूप का उद्भव जिस नौटंकी शहजादी कहानी से हुआ है, उसका ख्याल भी है और उसमें ख्याल के अनुरूप नौटंकी और वीरमदेव की कहानी को ढाल लिया गया है। प्रेमी-प्रेमिका के संदेशवाहक एवं सहायक के रूप में सूफी प्रेमाख्यानों की भाँति सूआ एवं मालिन आदि पात्रों का प्रयोग किया जाता है। इन शृंगारिक ख्यालों में नायक-नायिका में प्रेम की अतिशयता दिखाई जाती है, इनमें से अधिकतर सुखान्त हैं परंतु दुखान्त भी होते हैं जैसे ढोला, मरवण और पदमावत। अधिकतर कहानियाँ राजस्थान में प्रचलित प्रेमाख्यान हैं परंतु कुछ समूचे हिंदी प्रदेश अथवा उत्तरी भारत में प्रचलित प्रेमाख्यान हैं।

सामाजिक ख्याल—ये विशिष्ट प्रकार के ख्याल हैं जिनमें समाज में व्याप्त बुराइयों और दुश्चरित्रों को स्पष्टता से दिखाया जाता है—इनका उद्देश्य होता है कि समाज की बुराइयों जैसे अनमेल विवाह, नशाखोरी, जादू टोने आदि के बुरे प्रभाव को दिखाकर हास्य व्यंग्य की शैली में कहकर समाज से इन बुराइयों को दूर किया जाय। सामाजिक ख्यालों में शिशु विवाह नाटिका, मस्तपरी, खटपटिया, छोटा बालम, नशाबाज आदि बहुचर्चित ख्याल हैं। ये ख्याल करीब सौ साल पहले ही प्रारंभ हुए हैं, परंतु काफी लोकप्रिय हैं।

धार्मिक ख्याल—हमारे देश में पारंपरिक नाट्य की हर शैली में चाहे वे लौकिक कथानकों से संबंधित हों अथवा गेय हों या गद्य-संवादपरक, धार्मिक कथाओं को अवश्य लिया जाता है और इस प्रकार के कथानक बहुत लोकप्रिय भी होते हैं क्योंकि इन धर्मकथाओं पर सामान्य जन की श्रद्धा सदा से जमी हुई है। राजा हरिश्चंद्र, भक्त प्रह्लाद, रुक्मिणी मंगल, भर्तृहरि पिंगला, नरसी, मेहता, मीरा मंगल आदि ख्याल बहुत प्रसिद्ध हैं।

मंच विधान—सभी ख्यालों में मंच विधान लगभग एक सा होता है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि लोकनाट्य की प्रस्तुति कभी थिएटर गृहों में नहीं होती। गाँवों की चौपाल, मंदिर का प्रांगण या कभी कभी तो सड़क का बड़ा चौराहा इन ख्यालों का मंच बन जाता है। कुछ चौकियाँ डालकर उन पर चादर बिछा कर मंच बना लिया जाता है। कभी ये मंच चारों ओर से खुले होते हैं और दर्शक चारों ओर बैठ सकते हैं—अधिकांश तीन ओर बैठते हैं—पर मंच पर कोई परदा-न पीछे का न आगे का नहीं रहता पात्र

अपनी-अपनी भूमिका के उपयुक्त समय में स्वयं ही आकर अपना 'पार्ट' बोल देते हैं। केवल ख्यालों का एक मंच विशिष्ट है जिसे अट्टाली मंच कहा जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह निकटवर्ती माच का प्रभाव है—बारह फुट से लेकर बीस बीस फुट तक ऊँचाई रखी जाती है और इनमें आलिका की भाँति झरोखे आदि बनाकर चारों ओर रंगबिरंगी झंडियों, फूलों आदि से खूब सजाया जाता है। सीढ़ियाँ भी लगी होती हैं, ऊपर बैठे पात्र इन सीढ़ियों से उतर कर नीचे मंच पर अपने संवाद बोलकर फिर ऊपर जाकर बैठ जाते हैं। परन्तु अब इसका प्रचार कम होता जा रहा है। अधिकतर त्रिदिशीय मंच का ही प्रचार है, और वही ख्याल का सर्वसाधारण मंच माना जा सकता है। मंच की एक विशेषता यह भी अवश्य दर्शनीय है कि एक चादर बिछे खुले चबूतरे पर किसी कोने को महल मान लिया जाता है, कहीं उपवन और कहीं बाजार। मंच सज्जा नहीं होती, और मंच पर कोई उपकरण भी नहीं रखे जाते।

प्रकाश व्यवस्था पहले गैस के हंडों से होती थी अब बिजली का प्रयोग होता है। गाँवों में अभी तक गैस के हंडों का ही प्रयोग होता है। ख्याल मंच की विशेषता उसकी सादगी और उन्मुक्तता ही है।

पात्र—ख्याल में स्त्रियाँ भाग नहीं लेती, स्त्री भूमिकाओं को भी पुरुष ही निभाते हैं। वैसे ये पुरुष स्त्री भूमिकाओं में इतने कुशल होते हैं कि नाट्य, देखते समय यह मानना कठिन हो जाता है कि छैल छबीली रंगीली युवती की भूमिका करने वाला कोई पुरुष है। एक प्रसिद्ध ख्याल में पति-पत्नी की भूमिका करने वाला एक जोड़ा इतना लोकप्रिय हुआ कि उन्हें अभिनय का पुरस्कार केन्द्रीय अकादमी द्वारा प्राप्त हुआ—मैं मैके चली जाऊँ तुम देखते रहियो—यह गीत गाते हुए मुख पर घूघट डाले नायिका बहुत आकर्षक लगती थी और पति-पत्नी का जोड़ा आपस में झगड़ते और चुहल करते कभी रूठते कभी मान जाते, इतने प्रभावी लगते थे कि राजकपूर ने बाँबी फिल्म में इस गीत और उसकी प्रस्तुति को ले लिया।

कलाकार, अपनी अभिनय कला में बहुत कुशल होते हैं और आस-पास के क्षेत्रों में खूब लोकप्रिय भी।

भाषा—ख्यालों की भाषा राजस्थानी होती है। अलग-अलग स्थानों के ख्यालों में राजस्थानी की अनेक शैलियों का प्रयोग होता है। मेवाड़ी ख्याल में मेवाड़ प्रदेश की बोली, कुचामणी और शेखावटी ख्यालों में अपने-अपने प्रदेश की शैली का प्रभाव मिलता है। शेरों शायरी के प्रयोग के कारण उर्दू, फारसी का प्रयोग भी मिलता है, भाषा बड़ी सहज गतिशील और प्रभावी होती है। गीतों की भाषा काव्यमयी होती है।

संगीत और छंद-प्रस्तुति गद्य संवादों, पद्य और गेय अंशों-इन तीन रूपों में होती है। दोहा, कवित्त, सोरठा और कहीं कहीं शेर भी प्रयुक्त होते हैं। राग रागनियाँ हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत की होती है अधिकांश भूपाली, टोड़ी, ललिता, भैरवी, आसावरी आदि का प्रयोग होता है। प्रचलित और लोकप्रिय धुनों जैसे लावणी, कव्वाली, रासडो, रसिया घूमर, सोरठ आदि भी कलाकार अपनी रुचि अनुसार प्रयोग कर लेते हैं।

प्रकाशन-ख्यालों को पुस्तक रूप में भी प्रकाशित किया गया है, यद्यपि पहले यह मौखिक परंपरा की नाट्य ही था और इसके पात्र अपनी-अपनी भूमिका को याद रखते थे और उपयुक्त समय पर बोलते थे। परन्तु अब बर्बई, आगरा, कलकत्ता मथुरा आदि स्थानों से ख्याल पुस्तक रूप में भी प्रकाशित हुए हैं। इधर हाल में तो इनके कैसेट भी बन गये हैं। वास्तव में यह ख्याल की लोकप्रियता का ही द्योतक है कि दर्शक तो इसे देखते ही हैं इसका एक पाठक वर्ग भी है जिसके बीच ये बड़े प्रिय हैं।

ख्याल राजस्थानी लोकनाट्य का अत्यंत विकसित रूप है। इनकी गणना मंचीय लोकनाट्यों में की जाती है, ख्याल में भारतीय परंपरा के मूल सिद्धांतों की पालना देखी जाती है, इनसे मानव जीवन अपने उच्चादर्शों को प्राप्त करता हुआ भारतीय संस्कृति के शाश्वत रूपों को प्रकट करता है। राजस्थान की ख्याल संपदा बड़ी समृद्ध और स्वस्थ रही है और आज भी ग्रामीण अंचलों में बड़ी लोकप्रिय है।

(7) (i) माच

मालवा का लोकप्रिय नाट्यरूप माच नौटंकी जात्रा, तमाशा एवं ख्याल की भांति सामाजिक नाट्य है जिसमें मालवा में प्रचलित प्रेमाख्यान प्रस्तुत किये जाते हैं। परंतु उसमें कभी-कभी मोरध्वज, प्रह्लाद और रामायण भाव भी प्रस्तुत किये जाते हैं। माच का प्रचलन मालवा के गाँव-गाँव और शहर-शहर में है, परंतु माच में विशेष प्रसिद्धि उज्जैन के सिद्धेश्वर सेन को मिली जिनके द्वारा प्रस्तुत भाव अत्यधिक कलात्मक होते हैं।

माच का उद्भव मालवा के द्वारा ढारा-ढारी के खेलों से हुआ। नृत्य, गान स्वांग और अभिनय कला में दक्ष-ढारी जाति का जमाव विशेषकर उज्जैन में मुख्य रूप से रहा। ये लोग पहले उज्जैन के मंदिरों के कृष्ण चरित का अभिनय अपनी विशिष्ट शैली में किया करते थे।

क्रमशः माच मंदिरों से हटकर गाँवों और नगरों के खुले मैदानों में होने लगा और उसके कथानक भी बदल गये, तभी उसका संगीत, काव्य विशेषकर हास-परिहास भी विशिष्ट होता गया।

माच के खेलों का आयोजन सामान्यतः वर्षाकाल को छोड़कर शेष समय में किया जाता है। इनका आयोजन फाल्गुन, चैत्र और वैशाख महीनों में ही विशेषकर किया जाता है। माच प्रदर्शन के लगभग 15 दिन पूर्व मंच का खम्भ गाड़ा जाता है। मंच की खम्भ-स्थापना परम्परागत ढंग से की जाती है। शुभ मुहूर्त में माच-मण्डली का मुखिया खम्भ की पूजा करता है, ढोल बजता है। माच के सदस्य गीतों की कड़ियाँ दुहराते हैं। लाल चोले (एक प्रकार का लाल वस्त्र), हरा धनियाँ, गुड़ और आम्रपल्लव आदिपूजन सामग्री के साथ खम्भ स्थापना विधि पूरी होती है। गुड़ और धनिये का प्रसाद वितरित होता है। इसी के साथ मंच निर्माण का शुभ कार्य शुरू हो जाता है। लकड़ी के तख्तों और बल्लियों के सहारे 9, 11 या 15 फुट ऊँचा मंच बनाया जाता है। मंच के ऊपर श्वेत वस्त्र की चाँदनी (चंदोवा) छायी जाती है। कहीं-कहीं कागज की मण्डियाँ (लिंगियाँ) भी लगायी जाती हैं। 10-12 फुट चौड़े मंच के सामने “बारह भाई का पाट” होता है, जहाँ मण्डली के नवयुवक कार्यकर्ता बैठते हैं। मंच के एक ओर साजिन्द्र-ढोलकवादक, सारंगीवादक और हारमोनियम वादक कुर्सियों पर बैठते हैं। खेल के नायक के

लिए सिर्फ एक कुर्सी बीच में रखी जाती है। मंच के पीछे “टेक झेलनेवालों का पाट” होता है, जहाँ गायक कलाकारों का समूह बैठता है, जो पात्रों द्वारा प्रस्तुतगीति कथन “बोल” को दोहराता है। इस दोहराने को “टेक झेलना” कहते हैं।

माच के खेलों का प्रदर्शन रात्रि के प्रथम प्रहर से प्रारम्भ होकर प्रातःकाल तक चलता है। मंच पर ढोलक बजती है, जो इस बात का संकेत होती है कि खेल शीघ्र ही शुरू होने वाला है। वैसे माच का प्रेमी समुदाय आकर पहले से ही जम जाता है। जमीन पर और आसमान के ऊँचे ओटलों (मिट्टी के मकानों के ऊँचे आँगन) पर जनता सैकड़ों की संख्या में जमा हो जाती है। माच के पात्र अपनी सादी वेशभूषा में आकर सामूहिक स्वरों में देवी देवताओं की वन्दना करते हैं। प्रत्येक कलाकार गुरु या मुखिया को “मुजरा” करता है। चोपदार, भालदार ऊँची आवाज में मुजरा करने वाले पात्र का नाम पुकारता है। मुजरे के बाद कलाकार वेशभूषा धारण करने के लिए निकट ही बने कक्ष में चले जाते हैं।

इसके बाद मंच पर भिश्ती का प्रवेश होता है। वह अभिनय और गीतिकथन द्वारा पानी छिड़कने के अपने उद्देश्य को प्रस्तुत करता है। भोपाली भिश्ती, पंजाबी भिश्ती, गुजराती भिश्ती, नौलाई भिश्ती। प्रभृति नामों से मांचकारों ने इस प्रसंग को अपने खेलों के पूर्व प्रस्तुत किया है। भिश्ती के बाद आती है-फर्सना। वह “जाजम बिछाने” का अभिनय करती है। “नानकस के पण्डे” आकर देवी की वन्दना के “बोल” प्रस्तुत करते हैं। माच के इन पूर्वरंगों की पृष्ठभूमि में मालवा में नाथपंथी कनफटिये जोगियों और फकीरों का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। सिद्ध फकीरों की “हाजरात विद्या” के ही प्रभाव के परिणाम-स्वरूप माच में पूर्वरंग की यह परम्परा ग्रहण की गई है।

इसके उपरान्त किसी बालक को भगवा वस्त्र या लाल चोल (वस्त्र) से लपेटकर कुर्सी पर बैठा दिया जाता है। कपड़े की सूंड निकाली जाती है। स्वांग भरकर बैठे हुए गणेश जी की वन्दना में माच के कलाकार गीत कड़ियाँ दुहराते हैं। गणेशजी के बाद सरस्वती, भैरव-भवानी प्रभृति देवी-देवताओं की स्तुतियाँ की जाती हैं। भैरव की वंदना करना अनिवार्य होता है, क्योंकि भैरव जी माच के रसिया है। उनकी वन्दना के अभाव में माच का खेल जम नहीं पाता।

इस पूर्वरंगों के पश्चात् माच का मुख्य खेल प्रारंभ होता है।

मंच-निर्माण एवं प्रस्तुतीकरण—मंच की विशेषता है, चौदह फुट ऊँचा मंच जो केले के खंभों और पत्तों तथा फूल वंदनवारों से सजा बड़ा आकर्षक प्रतीत होता है। पात्र उस पर बैठे रहते हैं और अपने संवाद का अवसर आने पर नीचे उतर कर दर्शकों के निकट समतल भूमि पर अभिनय करते हैं। संवादों को गेय शैली में प्रस्तुत किया जाता है। वेशभूषा मालवी होती है और भाषा मालवी और खड़ी बोली मिश्रित होती है।

माच के पात्र लोकजीवन की कल्पना के प्रतिरूप होते हैं। पात्रों की संकल्पना और उनका चित्रण इतना स्वाभाविक होता है कि उनके प्रति जनमानस का आकर्षण सदैव बना रहता है। माच में मानव पात्रों के साथ पशु-पक्षी-हिरण, सिंह, तोता मैना आदि भी होते हैं जिसकी सज्जा रोचक होती है। स्त्रियों

का अभिनय भी पुरुष ही करते हैं, नायक का सहायक शेरमार खाँ कहलाता है, वह मुख्य पात्र के साथ सदा मंच पर उपस्थित रहता है और हास्य की सृष्टि करता है परंतु वह मात्र विदूषक नहीं है, यदि प्रमुख पात्र मंच से हट जाए तो वह उसका स्थान भी ले लेता है।

माच के संवादों को बोल कहते हैं, ये सभी गये होते हैं। विभिन्न राग रागिनियों, लोकधुनों और रंगतों का प्रयोग माच की लोकप्रियता का प्रमुख कारण है। माच की प्रमुख भाषा तो मालवी है। परन्तु खड़ी बोली का प्रयोग भी होता है। मालवी भाषा की मिठास और कहावतों-मुहावरों का प्रयोग मानव की भाषा को आकर्षक बनाता है।

माच में मालवा के लोक जीवन का सच्चा प्रतिबिम्ब मिलता है, और उनके रीति रिवाज आचार आदि इसमें देखे जा सकते हैं इसी कारण और संगीत तथा अभिनय की कुशलता के कारण माच को मालवा में तो लोकप्रियता प्राप्त है ही, प्रदेश के बाहर भी जब प्रस्तुत हुआ है, उसे सफलता मिली है।

माच के आदि-प्रवर्तक गुरु गोपालजी हैं, जिन्होंने राजस्थानी ख्याल का मालवी रूपान्तर और मालवा प्रचलित विभिन्न लोकशैलियों से तत्त्व ग्रहण करने की माच की परंपरा चलाई जो मालवा में बहुत लोकप्रिय हुआ।

(ii) माच

माच प्रधानतः मालवा का लोकनाट्य रूप है। इस लोकनाट्य माच का प्रचलन मालवा के गाँव-गाँव और नगरों में भी है। मालवा के बाहर माच-नाट्य रूप नहीं मिलता, ख्याल का एक रूप उसके ऊँचे मंच के कारण ख्याल माच कहा जाता है परन्तु उसमें और माच में और कोई समानता नहीं होती। मालवा की सीमा दक्षिण में नर्मदा की घाटी को सम्मिलित करता है। इंसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका (पृ. 20) इस सम्बन्ध में मालवा में एक दोहा भी प्रचलित है:

इत चम्बल उत बेतवा मालब साम सुजान।
दक्षिण दिसि है नर्मदा यह पूरी पहचान।

इस प्रकार मालवा की कोमल भावभूमि पर इस गेय नाट्य रूप का जन्म और प्रचार हुआ।

माच शब्द संस्कृत के मंच शब्द का अपभ्रंश है। इस नाट्यशैली को माच नाम देने का प्रमुख कारण इस नाट्य शैली के मंच की विशेषता है। मंच 15 से बीच फीट तक ऊँचा होता है। नाट्य के पहले पारिवारिक उत्सव (विवाह यज्ञोपवीत आदि) की भाँति खंभ थापना या स्तम्भ स्थापन का आयोजन होता है, मंच की खंभ स्थापना परम्परागत ढंग से की जाती है, शुभ मुहूर्त में माच मण्डली का मुखिया खंभ की पूजा करता है, ढोल मंजीरे बजते हैं, गीत गाये जाते हैं, लाल चोल, हरा धनिया एवं आम के पत्तों के साथ पूजा की जाती है। गुड़ और धनिया का प्रसाद बाँटा जाता है, और इसी के साथ मंच निर्माण प्रारंभ होता है। लकड़ी के तख्तों और बल्लियों के सहारे 9, 11 या 15 फीट ऊँचा मंच बनाया जाता है, मंच के ऊपर श्वेत चंदोवा ताना जाता है। चारों ओर के खंभों पर झंडियाँ लगाई जाती हैं और

फूल मालाओं आदि से सजाया जाता है। इस चौड़े मंच के सामने टेक की पाट होती है जहाँ मण्डली के युवक कर्मिकर्ता बैठते हैं। मंच के एक ओर साजिन्दे-ढोलकवादक, सारंगीवादक और हारमोनियम वादक, कुर्सियों पर बैठते हैं। मंच के पीछे टेक झेलने वालों का पाट होता है जहाँ गायक कलाकार बैठते हैं, मंच पर भूमिका करने वाला पात्र जब संवाद-गीत की पंक्ति गाता है तो पीछे से ये गायक उसके संवाद को गाकर दोहराते हैं। इस दोहराने को टेक झेलना कहते हैं। माच नाट्य रूप में पहले उसके मंच का विवरण इसलिए उपयुक्त है क्योंकि इसका नाम ही इसके मंच के आधार पर पड़ा और वह मंच ही माच की विशिष्टता है।

माच नाट्य का प्रदर्शन रात्रि के प्रथम प्रहर से आरंभ होकर प्रातःकाल तक चलता है। मंच पर पहले से ढोलक बजने लगती है जो नाट्य आरंभ का संकेत देती है और दर्शक खिंचे चले आते हैं। माच का पूर्वरंग विशिष्टता लिये होता है, माच के प्रारंभ में सर्वप्रथम भैरव की वन्दना होती है, पहले सभी पात्र बारी-बारी से मंच पर आकर गुरु या मुख्या को मुजरा करते हैं जो मंच पर कुर्सी पर बैठा रहता है। चोबदार या भालदार ऊँची आवाज में पात्र की भूमिका का नाम पुकार कर उसका परिचय देता है। मुजरे के बाद कलाकार वेशभूषा धारण करने के लिए नेपथ्य में चले जाते हैं। इसके बाद मंच पर भिश्ती का प्रवेश होता है जो सांकेतिक रूप से पानी का छिड़काव करता है, भिश्ती के बाद फर्शान आती है वह नाजमी बिछाने का अभिनय करती है। नानक सां के पंडे आकर देवी की वन्दना के बोल प्रस्तुत करते हैं। इसके उपरान्त किसी बालक को भगवा वस्त्र या लालचोल से लपेटकर कुर्सी पर बिठाया जाता है और कपड़ों की सूंड बनाकर उसे ढुंढालो गणेश बनाया जाता है फिर सभी कलाकार प्रवेश कर वन्दना करते हैं, गणेश वन्दना के बाद सरस्वती भवानी आदि की वन्दना होती है परन्तु सबसे पहले भैरव की क्योंकि भैरव को माच का अधिष्ठाता देवता माना जाता है।

माच का उद्भव—यह गेय नाट्य मालवा में प्रचलित नकल और रवांग के अनेक खेलों से प्रारंभ हुआ। ढाराढारी के खेल-जिसमें कृष्णचरित का अभिनय प्रस्तुत होता रहा है दाढ़ी जाति के कलाकार नृत्यगान और स्वांग में बहुत कुशल होते हैं, सूरदास के पदों में भी उनका उल्लेख मिलता है। ये कलाकार प्रमुखतः उज्जैन में केंद्रित रहे हैं। कृष्णचरित से संबंधित गर्वा पर्व भी मालवा में मनाया जाता है। माचकार पहले गरबी गीतों की रचना करते रहे हैं।

माच के विकास में प्रमुख भूमिका तुरा कलगी नाम से काव्य गायन की शैली की रही है। इस तुराकलगी गायन परंपरा का प्रभाव ख्याल पर भी है, परन्तु माच के उद्भव में इसकी बहुत बड़ी भूमिका है। तुरा और कलंगी दो अखाड़ों के नाम हैं, तुरा के आदि गुरु तुखनगीर गुसाई माने जाते हैं और कलंगी के शाह अली। गुसाई शिवभक्त थे और शाहअली शक्ति के अनुयायी। इन दोनों अखाड़ों में प्रतिस्पर्धामूलक गायन वर्षों से होता रहा है। गुरु उस्ताद की वन्दना और गीतिबद्ध संवादावस्था की शैली माच के रचयिताओं में तुरा कलंगी से ही ली है। इस तरह स्पष्ट होता है कि माच की पृष्ठभूमि में ढाराढारी के खेल, गर्वा पर्व, स्वांग और तुरा कलंगी से माचकारों ने विभिन्न तत्त्व ग्रहण किये। इन्हीं से माच में अभिनय, (ढाराढारी के खेल), संगीत (गर्वापर्व), काव्य-रचना (तुरा, कलंगी) और नकल स्वांग से हास-परिहास एवं चुटीले व्यंग्य आदि की विशेषताएँ अपनाईं।

माच के रचनाकार—माच के खेलों के रचयिताओं को गुरु या उस्ताद कहा जाता है। माच का प्रमुख स्थल उज्जैन ही रहा है। माच के आदि प्रवर्तक गुरु गोपाल जी कहे जाते हैं। इन्होंने ख्याल से प्रभव और मालवा में प्रचलित लोकशैलियों से तत्त्व ग्रहण करके माच की परंपरा चलाई। इनके रचित हीर रांझा, रूपसिंह, प्रह्लाद चरित्र खेल लोककंठ में ही सुरक्षित हैं। माच के कुछ खेल जैसे राजा हरिश्चन्द्र, गेंदापुरी रामलीला, कुंवर खेमसिंह, राजा भर्तृहरि, शिवलीला, कृष्णलीला, देवर भौजाई, सेठ सेठानी आदि शालिग्राम बुक सेलर उज्जैन द्वारा प्रकाशित किये गये। इन नामों से स्पष्ट है कि माच की बहुत सी प्रस्तुतियाँ धार्मिक भी हैं यद्यपि माच प्रमुखतः प्रेमाख्यानपरक एवं सामाजिक नाट्यरूप है। गुरु बालमुकुन्द की भांति वर्तमान समय में श्री सिद्धेश्वर सेन माच परम्परा के प्रसिद्ध गुरु हैं। इन्होंने भी अनेक खेलों की रचना की है जिसमें राजा भर्तृहरि, सत्यवादी हरिश्चन्द्र, परिहारिन एवं कालिदास आदि-अब भी उनकी रचना का क्रम चल रहा है और माच की दुनिया में इस समय श्री सिद्धेश्वर सेन का सबसे बड़ा नाम है।

अभी तक विभिन्न रचनाकारों द्वारा रचित 114 खेलों का पता चला है। इनके आधार पर माच की विशेषताओं का अध्ययन किया जा सकता है।

कथानक—जैसा कि कहा जा चुका है माच के कथानकों में विविधता है।

धार्मिक और पौराणिक कथानक—यद्यपि माच को लोकपरक नाट्य माना जाता है परंतु इसकी अनेक प्रस्तुतियों के कथानक धार्मिक एवं पौराणिक हैं। यह स्वाभाविक भी है क्योंकि माच का आधार कृष्णचरित प्रस्तुत करने वाले ढाराढारी के खेल, देवी पूजा वाली गर्वागीत एवं रामलीला आदि हैं। ये कथानक रामायण, महाभारत, भागवत एवं पुराणों से लिये गये हैं। भक्त पूरनमल, शिवलीला, कृष्णलीला, सावित्री सत्यवान, राजा हरिश्चन्द्र आदि बड़े प्रसिद्ध माच हैं जिनका अभिनय अभी तक खूब धूमधाम से होता है, इससे लोक जीवन के धार्मिक आस्था विश्वासों का पता चलता है।

प्रेमाख्यान—माच के विशिष्ट कथानक हैं। प्रेम कथानकों के आधार पर भी अनेक माच रचे गये जैसे भर्तृहरि पिंगला, हीर रांझा, ढोला-मारूनी आदि बड़े लोकप्रिय माच हैं।

शौर्य कथायें—माच के खेलों में मालवा क्षेत्र के प्रसिद्ध वीरों के जीवन चरित भी प्रस्तुत होते हैं। इन वीरों की कथायें मालवा की जनता के बीच बड़ी लोकप्रिय हैं, इसी से इनको आधार बनाकर प्रस्तुत किये जाने वाले माच बड़े पसंद किये जाते हैं। वीर तेजाजी, विक्रमाजीत आदि प्रसिद्ध माच हैं जिनमें वीरों के शौर्य ही नहीं उनकी संघर्ष त्याग एवं निस्वार्थ भावना भी प्रकट होती है।

सामाजिक विषय और सामाजिक परंपराएँ—माचकर्ता केवल मनोरंजन के प्रति जागरूक नहीं थे वरन् सामाजिक समस्याओं और बिगड़ी हुई परंपराओं को भी माच में दिखाना बराबर अपना कर्तव्य समझा है। यह अधिक आधुनिक प्रवृत्ति है, भूमिहीन कृषकों की समस्या धरती को दान, ऊगतो सूरज गाँव के नवनिर्माण से संबंधित माच के खेल इस तथ्य के उदाहरण हैं कि आज के युग का

माच-प्रस्तुतिकर्ता समाज की विभिन्न परिस्थितियों की ओर भी सजग है और प्रयत्न करता है कि सामान्यजन का ध्यान उन बुराईयों पर जाय और उनसे मुक्त होने का प्रयत्न करें।

पात्र और चरित्र चित्रण—माच में केवल पुरुष ही अभिनय करते हैं और स्त्री पात्रों की भूमिका बड़ी कुशलता से पुरुष पात्र निभाते हैं। माच की एक विशेषता यह है कि इसमें हरिण हरिणियाँ: सिंह-सिंहनी, मैना, तोता, कबूतर आदि भी पात्रों के रूप में प्रस्तुत होते हैं। पुरुष भूमिकाओं की अपेक्षा स्त्री भूमिकाओं में अधिक होती है (यद्यपि उनका अभिनय भी पुरुष ही करते हैं)। माच के पात्र मालवा के लोकजीवन को बड़ी कुशलता से प्रस्तुत करते हैं। दर्शकों के बीच उनकी भूमिकायें और वे स्वयं इतने निकट हो जाते हैं कि उनके प्रति सामान्य जन आत्मीयता का अनुभव करते हैं। स्त्री भूमिकाओं में प्रमुख रानी या राजकुमारी की भूमिका होती है। माच में नायिका को बहुत महत्त्व दिया जाता है। पुरुष भूमिकाओं में राजा, राजकुमार आदि होते हैं, सामाजिक माचों में सामान्य स्त्री और पुरुष नायिका और नायक की भूमिका में आते हैं। माच का एक पात्र विशिष्ट होता है, उसका नाम हर माच में शेर मार खां होता है। नायक कोई भी हो चन्द्र हो या हरिश्चन्द्र, विदूषक शेरमार खां ही होगा। नायक का अभिन्न मित्र होता है, और संस्कृत नाटकों की तरह ही विदूषक का काम भी वही करता है। जैसा उसके नाम से ही स्पष्ट है वह अपनी झूठी वीरता का गुणगान करता रहता है। वह मंच पर नायक के साथ सदा उपस्थित रहता है। एक विशेषता यह है कि यदि कुछ समय के लिये किसी कारणवश नायक मंच से हट जाता है तो शेरमार खां को अपनी तलवार दे देता है और शेरमार खां नायक की भूमिका में आ जाता है। ऐसा किसी और नाट्य प्रकार में नहीं होता कि नायक का मित्र स्वयं नायक की भूमिका में आ जाय। यही बात स्त्री पात्र के थक जाने पर भी होती है दूसरा पात्र जो उसकी सखी होती है उसकी भूमिका निभा देती है।

संवाद—माच के संवादों को बोल कहते हैं, यह स्वाभाविक भी है क्योंकि माच के अधिकांश संवाद गेय होते हैं। इसी से गीतों के बोल की तरह उन्हें भी बोल कहते हैं। माच के गीतिबद्ध संवाद बड़े मधुर भाव की सृष्टि करते हैं। प्रधानता शृंगारिक गीतों की होती है, परन्तु कथानक के अनुसार वीरता, भय आदि को प्रकट करने वाले संवाद भी होते हैं। माच में स्वगत कथन का प्रयोग नहीं होता, कभी कभी गद्य में भी संवाद होते हैं।

माच के बोल प्रसंग और भाव के संदर्भ में रचे गये। माच की संगीत शैली को रंगत और धुन कहते हैं। इसके बोल प्रसंगानुसार अलग-अलग रंगतों और धुनों में आबद्ध होते हैं। रंगत इकहरी रंगत दोहरी आदि कही जाती है, रंगतों में मात्रायें निश्चित रहती हैं। रंगत में टेक के बाद दोहा आता है। माच में अधिकांशतः यही दो शैलियाँ अपनाई जाती हैं।

भाषा—माच की भाषा मुख्यतः मालवी होती है, मालवी भाषा बड़ी सुकोमल होती है, इसी से माच में भी कोमलता बहुत आ जाती है। इधर माच में खड़ी बोली का भी कुछ प्रभाव होने लगा है, मालवा की सीमावर्ती भाषाओं जैसे मारवाड़ी, मेवाड़ी के शब्द भी आ जाते हैं, उर्दू का प्रभाव भी गजलों और शेरों में होता है परन्तु प्रमुख भाषा मालवी है।

माच में अपने समय की सजीव तस्वीरें अंकित होती हैं। सामन्ती प्रथा के विरुद्ध स्वर माच के खेलों में दिखलाई दिये हैं, माच के सामाजिक खेलों में समाज के जड़ नियमों और रूढ़ परम्पराओं का प्रहार किये गए। नवयुग का प्रभाव भी अब माच पर दिखाई देने लगा है। इधर माच में श्रव्य काव्य अर्थात् संगीत का प्रभाव बहुत बढ़ गया है क्योंकि रेडियो से भी माच प्रसारित किये जाते हैं। इसका कारण मालवा क्षेत्र में माच की अभूतपूर्व लोकप्रियता ही है। विगत तीस चालीस वर्षों में माच में स्त्रियाँ भी प्रमुख भूमिकाओं में उतरने लगी हैं। परन्तु ग्रामीण अंचलों में और अधिकांशतः अब भी माच अपने पुराने रूप में ही खेला और पसंद किया जाता है, जनता उन्हीं पुराने प्रेमाख्यानों में रसमग्न हो माच के ढोल सुनते ही मंच के चारों ओर एकत्र हो जाती है। लोक नाट्य की यही विशेषता होती है कि उसकी जड़े अपने अंचल में गहरी समाई होती हैं और उसकी लोकप्रियता घटने नहीं पाती।

पुस्तकें

1. Grounds for play : Kathreyen Hausen Nautanki Theatre
2. लोकरंग : महेन्द्र मानावत।
3. Rural Drama : Jagdish Candra Mathur
4. 'लोकसाहित्य विमर्श, श्याम परमार।
5. Traditional Indian Theatre : kapila Vatsyayan
6. माच : शिवकुमार मधुर

प्रश्न

1. नौटंकी नाम कैसे पड़ा? उसकी कथा बताइये।
2. नौटंकी का सबसे आकर्षक तत्त्व क्या है?
3. नौटंकी की प्रस्तुति शैली की विशेषताएँ बतलाइये।
4. नौटंकी नाट्यरूप का इतिहास बतलाइये।
5. बिदेसिया नाट्यरूप के विभिन्न और सबसे महत्वपूर्ण तत्त्व क्या है?
6. बिदेसिया का उद्भव कैसे हुआ?
7. बिदेसिया में भिखारी ठाकुर का क्या स्थान है?
8. बिदेसिया नाट्य शैली के नये प्रयोगों के बारे में बताइये।
9. "ख्याल की परंपरा बड़ी समृद्ध और संपन्न रही है" टिप्पणी कीजिए।
10. ख्याल की विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
11. ख्याल की विभिन्न शैलियों का विवरण दीजिए।
12. माच के मंच निर्माण का विवरण देते हुए उसकी विशेषतायें बताइये।
13. माच के उद्भव और विकास के संबंध में बताइए।
14. माच के पूर्वरंग का विवरण दीजिए।

भारत, स्तानस्लॉवस्की, बर्तोल्त ब्रेख्त के अभिनय-सिद्धान्त

(क) ब्रेख्त के नाट्य सिद्धान्त और भारतीय परंपरा¹

डॉ० सुरेश अवस्थी
प्रसिद्ध रंग-आलोचक

सौ सवा सौ वर्ष बाद आज जैसे नाटक और रंगमंच की कला ने अपनी यथार्थवादी परंपरा का वृत्त पूरा कर लिया हो और अब वह ऐसे बिंदु पर पहुँच गई हो जहाँ ठहरकर उसे वापस लौटना है और अपनी सच्ची प्रकृति और अपनी मौलिक रूढ़ियों की नये सिरे से खोज करनी है। वास्तव में पिछले दो-तीन दशकों के विश्व रंगमंच के इतिहास और नाट्य कला की प्रवृत्तियों और आंदोलनों को यदि देखा जाय तो ज्ञात होगा कि यह खोज वर्तमान शताब्दी के पहले दशक में ही आरंभ हो गई थी।

लेकिन इस यात्रा में सबसे स्पष्ट और प्रौढ़ चरण जर्मनी नाटककार और निर्देशक तथा नाट्य सिद्धान्तों के प्रवर्तक बर्तोल्त ब्रेख्त (1898-1956) ने उठाया। 15-20 वर्षों में ब्रेख्त के नाटकों, नाट्य प्रदर्शन व्यवहारों और रूढ़ियों तथा उसके नाटकीय सिद्धान्तों का ऐसा गहरा विश्वव्यापी प्रभाव हुआ है कि नाट्य कला की सैकड़ों वर्षों से स्वीकृत धारणाएँ और मान्यताएँ जैसे सहसा हिल गई हैं। 1956 में ब्रेख्त की मृत्यु के पश्चात् से अब तक उसके नाटकों तथा नाट्य कला संबंधी विचार ग्रंथों का विश्व की अनेक भाषाओं में अनुवाद और व्यापक प्रचलन हुआ है, और उसके सिद्धान्तों पर गंभीर विवाद हो रहे हैं। शायद अरस्तू के कुछ सिद्धान्तों को छोड़कर विश्व नाटक के ढाई हजार वर्षों के इतिहास में किन्हीं और नाटकीय विचारों और सिद्धान्तों पर इतना व्यापक और इतना गंभीर साहित्यिक वाद-विवाद नहीं हुआ।

ब्रेख्त के विचारों की प्रकृति को ठीक-ठीक समझने के लिए इस बात का संकेत कर देना उपयोगी होगा कि ब्रेख्त के ऊपर कई देशों और कई प्रकार की नाट्य परंपराओं और पद्धतियों का गहरा प्रभाव था, और ब्रेख्त ने स्वयं सदैव इस ऋण को स्वीकार किया। लेकिन एक तो ब्रेख्त ने इन विभिन्न परंपराओं वाले रंगमंचों के सिद्धान्तों और रूढ़ियों को समन्वित करके एक नई सर्जनात्मक दृष्टि से प्रस्तुत किया और दूसरे उसकी बात में एक विश्वासी उपदेशक का स्वर था, अतः लोगों पर यही प्रभाव पड़ा कि ब्रेख्त की विचारधारा नितान्त नवीन और क्रांतिकारी हैं।

ब्रेख्त वास्तव में अपने विचारों और धारणाओं में एक क्रांतिकारी कलाकार था। अतः उसके विचारों को समझने के लिए इस बात की संक्षिप्त भूमिका नितान्त आवश्यक है कि उसने नाटक की किन प्रवृत्तियों और व्यवहारों के विरुद्ध विद्रोह किया। सन् 1920 में अपना रचनाकार्य आरम्भ-करने के समय

¹ 'नटरंग' पत्रिका से साभार

जर्मनी में उसने रंगमंच का जो रूप पाया, और जो आज भी विश्व के अनेक भागों में बहुत-कुछ उसी रूप में जीवित है, वह ऐसा रंगमंच था जो जड़ और कल्पनाविहीन यथार्थ चित्र प्रस्तुत करता है। यह यथार्थवादी रंगमंच कुछ इस प्रकार व्यापक रूप से प्रचलित और स्वीकृत हो गया कि ऐसा लगने लगा था कि जैसे इसके पहले की रंगमंच की सैकड़ों वर्षों की परंपराएँ हमेशा के लिए हमारी रंगशालाओं से निर्वासित हो जायेंगी।

रंगमंच की यह संकुचित और कल्पनाविहीन यथार्थवादी परंपरा जिसमें रंगमंच पर विश्व और जीवन का यथावत चित्र प्रस्तुत किया जाता है, अभी कुछ ही दशकों की परंपरा है, इसे हम बिलकुल भूल जाते हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के पहले जब आधुनिक प्रकाश-व्यवस्था और मंच-यंत्रों का विकास नहीं हुआ था, ऐतिहासिक दृष्टि से प्रामाणिक वेषभूषा और तीन आयामों वाली दृश्य-वस्तुओं का प्रयोग नहीं होता था, तब रंगमंच कभी भी बाह्य जीवन का सत्याभास न करा सकता था जिसे कि रंगभवन में बैठा हुआ दर्शक रंगमंच पर निर्मित भवन-सदृश दृश्यबंध की 'चौथी विलुप्त दीवार' से देख सकता था। इस परंपरा में अभिनय पूरी तरह से खुलेआम थिएटरी रहता था, क्योंकि रंगमंच की दृश्य-सज्जा और प्रकाश-व्यवस्था के उस रूप में अभिनय की यही शैली संगत और सार्थक थी। रंगमंच की उस पुरानी परंपरा में, जिसका उद्देश्य कभी भी वास्तविक घटनाओं का सत्याभास देना नहीं था, संवादों के निवेदन में एक प्रकार की लयदारी और विशिष्ट संवाद-प्रकारों-स्वगत कथन, जनांतिक एकालाप-का विकारा हुआ। आज भी सामान्य भू-धरातल पर बिना किसी प्रकार की रंग-सज्जा और दृश्य-उपकरणों के प्रस्तुत किए जाने वाले हमारे देश के विभिन्न प्रकार के लोक नाटकों की प्रदर्शन शैली का निर्माण यही रूढ़ियाँ कर रही हैं, जो यथार्थवादी परंपरा से सर्वथा भिन्न नाट्य परंपरा की रूढ़ियाँ हैं, और जिनका पोषण अन्य अनेक कलाओं का पारंपरिक रूप और उनकी रूढ़ियाँ सदियों से कर रही हैं।

ब्रेख्त ने अपने नाट्य सिद्धान्तों का मूल सूत्र इसी पुरानी नाट्य परंपरा से सीधे ले लिया और यथार्थवादी परंपरा की कई दशकों की स्थिर और जड़ रूढ़ियों को सहसा झकझोर नाट्य प्रदर्शन में उन रूढ़ियों का समावेश कर दिया, जिनमें नाटकीयता तथा प्रदर्शन पक्ष का आग्रह था और किसी प्रकार के यथार्थ छल अथवा सत्याभास द्वारा इससे भिन्न कोई अन्य प्रभाव उत्पन्न करना जिनका प्रयोजन न था। नाट्य प्रदर्शन की इस शैली में प्रदर्शन के साथ दर्शकों का संबंध तथा नाटकीय अनुभव की प्रक्रिया भी सर्वथा बदल गई और वे अब केवल रंगमंच पर कुछ पात्रों के पारस्परिक वार्तालाप के दबे-छिपे बैठे हुए श्रोता मात्र न रह गए, बल्कि उनके प्रेक्षा भाव में अधिक कलात्मक सक्रियता और जागरूकता आ गई और वे अब पूरे विवेक के साथ पात्रों और नाटकीय स्थितियों के संबंध में अपना निर्णय और चुनाव भी कर सकने लगे।

ब्रेख्त ने सत्याभासी रंगमंच के साधनों तथा इन साधनों के प्रयोग और प्रयोजन दोनों ही के प्रति आपत्ति उठाई। ब्रेख्त के अनुसार अरस्तू परंपरा का नाटक दर्शक में भय और त्रास की भावना उत्पन्न कर उसके भावों का विरेचन करता है, जिसके कारण वह शांत और सहज हो जाता है। यह नाटक दर्शकों के सम्मुख वास्तविक घटनाओं का सत्याभास प्रस्तुत करता है, और दर्शक और नाटक के क्रिया-व्यापार में नियोजित करके नायक के साथ तादात्म्य के लिए प्रेरित कर इस बात का आग्रह करता है कि वह

अपना व्यक्तित्व विलीन कर दे। नाटक के पात्रों के साथ दर्शकों का तादात्म्य ब्रेख्त को कलात्मक दृष्टि से एक अत्यंत निम्न कोटि की स्थिति लगती है। ब्रेख्त के विचार से नाट्य प्रदर्शन की इस पद्धति से दशक भले ही भावतुष्ट होकर रंगशाला के बाहर निकले, लेकिन वह मानसिक इष्टि से किसी भी प्रकार से अधिक शिक्षित और विकसित होकर नहीं निकलेगा। उसके लिए नाट्य प्रदर्शन उसी प्रकार का मानसिक तोष देता है जिस प्रकार से अच्छा भोजन।

ब्रेख्त के अनुसार दर्शक की भावनाएँ प्रेरित न करके उसे सोचने के लिए विवश करना चाहिए। दर्शकों का पात्रों के साथ तादात्म्य वास्तव में किसी प्रकार का चिंतन असंभव बना देता है। सत्याभासी रंगमंच में दर्शक नाटकीय व्यापार और स्थितियों से भाव-निरपेक्ष होकर चिंतन की मुद्रा में और आलोचनात्मक दृष्टि से नाटक के सामाजिक और नैतिक अर्थों और मोड़ों को नहीं समझ पाता। नाटककार, निर्देशक और अभिनेता सभी मिलकर जैसे इस षड्यंत्र में लग जाते हैं कि उनको रंगमंच पर बाह्य यथार्थ का एक ऐसा सशक्त सत्याभास प्रस्तुत करना है, जो कि दर्शकों को इस प्रकार से विवश कर दे कि वे नाटकीय व्यापार के प्रेक्षक और समीक्षक न रहकर उसकी भावनाओं के बंदी बन जायें।

ब्रेख्त के विचार से नए रंगमंच को सबसे पहले यह कार्य करना है कि उसे बाह्य यथार्थ के सत्याभास को प्रस्तुत करने की भावना को ही समाप्त कर देना है। इसके लिए दर्शकों को बराबर यह बात स्पष्ट की जानी चाहिए कि वे नाटक में अपनी आँखों के सामने उसी क्षण घटने वाली जीवन की कुछ घटनाओं को नहीं देख रहे हैं, बल्कि वे एक रंगशाला में बैठे हुए हैं, और उस वृत्तांत को सुन रहे हैं, और उन घटनाओं को देख रहे हैं जो अतीत में किसी एक काल में किसी एक स्थान में घटित हुई हैं। इस प्रकार से जब कि सत्याभासी रंगमंच में इस बात का प्रयत्न किया जाता है और यह दर्शाया जाता है कि नाटक की घटनाएँ प्रदर्शन के समय सचमुच घटित हो रही हैं, ब्रेख्त द्वारा प्रवर्तित महा-रंगमंच वास्तव में सच्चे अर्थों में पूरी तरह ऐतिहासिक रंगमंच है, और वह दर्शकों को इस बात की बराबर याद दिलाता रहता है कि वे अतीत की घटनाओं का एक वृत्तांत मात्र प्राप्त कर रहे हैं। इसके साथ ही ब्रेख्त यह भी कहता है कि दर्शक को इस बात के लिए भी निरुत्साहित किया जाना चाहिए कि वह नाटक के पात्रों में किसी के साथ तादात्म्य करके अपनी समीक्षात्मक वृत्ति खो न दे; यही नहीं प्रेक्षक बराबर प्रयत्न करके अपने को पात्रों और कथा स्थितियों से विलग और असंपृक्त रखे। इसके लिए निर्देशक को सभी प्रकार के ऐसे प्रयत्न करने चाहिए कि प्रेक्षक नाटकीय व्यापार से अपने को विलग रख सके। ब्रेख्त की यही नाट्य संकल्पना वास्तव में उसके समूचे नाटकीय सिद्धान्त का आधार है, जिसके लिये प्रयुक्त अंग्रेजी शब्द 'एलीनेशन' अथवा उसका प्रस्तुत हिंदी अनुवाद 'भाव-निरपेक्षता' किसी प्रकार से भी पर्याप्त नहीं है।

यह एक अत्यंत सांयोगिक बात है कि ब्रेख्त की नाटकीय विचारधारा का यह मूल तत्त्व भारतीय परंपरा में भी वर्तमान है, और इसकी अभिव्यक्ति संस्कृत नाटक, मध्ययुगीन नाट्य परंपरा तथा लोक नाटकों में मिलती है। ब्रेख्त का आग्रह है कि नाटक के दर्शकों को सत्याभास के झूठे मोह में फँसाकर उनकी विवेक शक्ति को क्षीण और कुंठित न किया जाए, बल्कि उसे जागृत और तीव्र बनाया जाए। यही कारण है कि ब्रेख्त कहता है कि दर्शक को यह कभी न भूलना चाहिए कि वह रंगशाला में बैठा है।

संस्कृत नाटक भी प्रेक्षागृह में दर्शकों की उपस्थिति के प्रति बराबर सजग रहता है। यही कारण है कि संस्कृत नाटकों के बहुत से संवाद रंगमंच पर सम्मुख खड़े हुए अभिनेता को संबोधित न होकर सीधे दर्शकों को संबोधित हैं और कुछ अन्य संवाद, विशेषकर पद्य संवाद, कुछ इस प्रकार से नाटकीय व्यापार से तटस्थ और निरपेक्ष रहते हैं कि वे नाटक और दर्शकों के बीच केवल एक प्रकार के भावात्मक सेतु का निर्माण करते हैं और दर्शक की अभिनयात्मिक वृत्ति को जागृत और पोषित करने में सहायक होते हैं। अनेक प्रकार के लोक नाटकों में विशेषकर लीला नाटकों में प्रायः नाटकीय संवादों का यही स्वरूप और यही नाटकीय प्रयोजन रहता है। रासलीला में तो पात्रों तथा समाजी द्वारा गाए जाने वाले कितने ही संवाद ऐसे होते हैं, जो गायन क समय ही अपना कोई निश्चित स्वरूप और प्रयोजन निर्धारित करते हैं, और कथा-स्थितियों से संबंधित होते हैं। सभी प्रकार के लोक नाटकों में दर्शक कई प्रकार से नाट्य प्रदर्शन को प्रभावित करते हैं, और कभी-कभी तो नाट्य व्यापार अथवा पात्र की समीक्षा भी करने लग जाते हैं।

दर्शक के समान ही अभिनेता भी भारतीय परंपरा में ब्रेस्ट की विचारधारा के अनुसार अपने को नाटकीय व्यापार और भाव से असंपृक्त और तटस्थ कर लेता है। संस्कृत नाटकों में जिस प्रकार से नाटकीय व्यापार और संवाद एक-दूसरे से विच्छिन्न और असंबद्ध हो जाते हैं और इस प्रक्रिया में अभिनेता का व्यक्तित्व खंडित हो जाता है, उसमें हम ब्रेख्त की ही विचारधारा का आभास देख सकते हैं। ब्रेख्त के अनुसार अभिनेता अपने पात्र के साथ पूरी तरह से तादात्म्य न करके वास्तव में स्वयं उस पात्र का प्रस्तुतकर्ता और प्रेक्षक ही रहता है। पात्र के साथ इस प्रकार का तादात्म्य तो केवल अभिनय के एक शिल्प तत्त्व के रूप में ही उपयोगी हो सकता है और स्वीकार किया जा सकता है। इसीलिए ब्रेख्त कहता है कि केवल रिहर्सल के समय बीच-बीच में कुछ देर के लिए अभिनेता अपने पात्र के साथ तादात्म्य कर सकता है, और इस तादात्म्य की प्रक्रिया में ही वह अपने को पात्र से अलग रखने की पद्धतियाँ खोज सकता है। कुछ लोक नाटकों में जब अभिनेता स्वयं अपनी भूमिका की घोषणा करता है तो वह इसी सिद्धांत का संकेत करता है कि अभिनेता पात्र से रवायत है, वह अपनी अभिनय कला द्वारा केवल पात्र का प्रदर्शन करता है, उसे प्रस्तुत करता है।

लोक नाटकों में तो बराबर अभिनेता घोषणा करके दर्शकों के सम्मुख ही विविध पात्रों की वेषभूषा ग्रहण करते हैं, और बहुत बार तो नाटकीय क्रियाव्यापार तथा अपने नाटकीय प्रयोजनों के संबंध में भी दर्शकों को पूर्वसूचना देते हैं। प्रहसन शैली के नकल और भड़ैती आदि नाटकों में तो अभिनेता जैसे बराबर अपने पात्र से अलग खड़ा रहता है और अपनी कला द्वारा पात्र की पात्रता का प्रदर्शन करता है, और उस प्रदर्शन में वह जैसे अपने पात्र पर टीकाएँ भी करता चलता है। महाराष्ट्र के तमाशा नाटक में जिस सहजता के साथ अभिनेता अनेक स्थितियों में अपने पात्र से बाहर और विलग होकर तटस्थ भाव से खड़ा हो जाता है, वह अपने आप में एक विचित्र प्रकार का नाटकीय अनुभव है। गुजरात के भवई नाटक में नाटक के कथात्मक अंशों का गायन करने वाले कोरस से कोई गायक अथवा वादक जिस प्रकार से उठकर किसी विशेष स्थिति में नाटकीय क्रिया-व्यापार में नियोजित हो जाता है, उसमें भी नाटकीय पात्र के इसी असंपृक्त, प्रदर्शनमूलक स्वरूप की कल्पना का संकेत मिलता है।

ब्रेख्त द्वारा प्रवर्तित अभिनय शैली का मूल आधार यह है कि अभिनेता को यह नहीं सोचना चाहिए कि वह नाटकीय पात्र का पररूपण कर रहा है, बल्कि उसे तो यह सोचना चाहिए कि वह किसी दूसरे व्यक्ति की क्रियाओं और व्यापारों को अतीत के किसी निश्चित समय में प्रस्तुत कर रहा है। अभिनेता वास्तव में पुरानी घटनाओं की पुनर्सृष्टि करता है। यह धारणा कि नाटकीय व्यापार हर बार दर्शकों के सम्मुख नए सिरे से घटित होता है, इस विचार को जन्म देती है कि नाटकीय पात्रों के नाम और व्यवहार स्थिर, जड़ और अपरिवर्तनशील मानव स्वभाव की अभिव्यक्तियाँ हैं, और उनके ऊपर भाग्य का ऐसा व्यापक प्रभाव रहता है कि मनुष्य के अपने प्रयत्नों का कभी कोई प्रभाव ही नहीं हो सकता, और उनके कारण स्वभाव में कोई परिवर्तन नहीं होता। यही कारण है कि महा-रंगमंच में स्थिर और अत्यंत व्यक्तिवादी तत्त्वों के निर्माण का प्रयत्न नहीं रहता। वहाँ तो पात्र व्यक्ति के सामाजिक कार्यों और प्रयोजनों से उद्भूत और विकसित होते हैं और उन्हीं के परिवर्तनों से परिवर्तित भी होते हैं।

यथार्थधर्मी रंगमंच में अभिनेता अंतर्दर्शन द्वारा अपनी कला का विकास करता है। वह जिस पात्र का चित्रण करता है, उसके व्यक्तित्व में समावेश करके उसी के ही साथ प्रकट होने का प्रयत्न करता है। इसी पद्धति द्वारा नाटकीय पात्र एक-दूसरे के संबंधों में प्रतिष्ठित होते हैं, और पात्रों का स्वभाव उनके संबंधों को निर्धारित करता है। इस प्रकार के रंगमंच की मूल इकाई एक पात्र होता है। इसके विपरीत ब्रेख्त का रंगमंच बहिर्मुखी है। उसके लिए नाटकीय पात्रों का आंतरिक जीवन अप्रासंगिक और असंगत है, सिवाय इसके कि वह पात्रों की प्रवृत्तियों और कार्यों को प्रभावित करता है। क्योंकि सबसे छोटी सामाजिक इकाई एक व्यक्ति नहीं बल्कि दो व्यक्ति होते हैं। इस प्रकार से महा-रंगमंच में मानवीय स्वभाव के स्थान पर मानवीय संबंधों का अध्ययन प्रस्तुत किया जाता है। ब्रेख्त के महाकाव्योचित, आख्यानप्रधान और ऐतिहासिक रंगमंच में पात्र महत्त्वपूर्ण नहीं होते, बल्कि वह कथानक महत्त्वपूर्ण हो जाता है, जिसमें वे नियोजित होते हैं। इस प्रकार ब्रेख्त ने पात्रों के आंतरिक जीवन से हटकर उनके पारस्परिक व्यवहारों और संबंधों पर जोर दिया है।

ब्रेख्त के नाटकीय सिद्धान्तों और विचारों के साथ-साथ यदि हम उसके नाटकों के रूपबंध और रचना व्यवहारों का परीक्षण करें तो हमको लगेगा कि उसमें जैसे भारतीय नाट्य परंपरा को ही नया रूप-संस्कार मिला हो। नाटकीय रूपबंध के ये तत्त्व तथा रचना व्यवहार हमको संस्कृत नाटकों, मध्ययुगीन नाट्य परंपरा तथा सभी क्षेत्रों के अनेक प्रकार के लोक नाटकों में मिलते हैं। संस्कृत नाटकों में क्रिया-व्यापार, नृत्यमूलक, शैलीबद्ध और ओजपूर्ण काव्य, संगीत आदि का जो समन्वित रूप प्रस्फुटित और विकसित हुआ है, उसी का ही एक रूपांतरित और आधुनिक रूप हमको ब्रेख्त के नाटकों में मिलता है। संस्कृत नाटकों के समान ही ब्रेख्त के नाटकों में नाटकीय और आख्यानमूलक कथातत्त्वों और संवादों को एक साथ स्वीकार किया गया है और इस प्रकार नाटकीय अनुभव को अधिक व्यापक बनाया गया है तथा दोनों के पारस्परिक संतुलन से नाट्य कला को एक नया आयाम दिया गया है। संस्कृत नाटकों के समान ब्रेख्त के नाटकों में भी प्रस्तावना रहती है, यद्यपि उसका स्वरूप और नाटकीय प्रयोजन कुछ भिन्न है। संस्कृत रंगमंच के समान ब्रेख्त द्वारा प्रवर्तित रंगमंच भी बहुकला-समन्वित रंगमंच है,

‘संपूर्ण’ रंगमंच है। संस्कृत नाट्य लेखन की ‘नाटक में नाटक’ की विशिष्ट युक्ति का प्रयोग भी ब्रेख्त ने अपने नाटकों में किया है, जैसे कि शेक्सपियर और पिरेंडेलो करते हैं। .

जिस प्रकार संस्कृत नाटकों में अनेक संवाद नाटकीय क्रिया-व्यापार का निर्देश करने के साथ-साथ पूरे परिवेश का विस्तृत वर्णन भी करते हैं और क्रिया-व्यापार को एक अभूतपूर्व चित्रमयता प्रदान करते हैं। (शाकुंतलम् नाटक का पहला दृश्य इसका सर्वोत्तम उदाहरण है), उसी प्रकार के ब्रेस्ट के नाटकों में भी कभी तो नाटकीय संवाद और कभी कथावाचक क्रिया-व्यापार की पृष्ठभूमि और पात्रों की मनोदशा का सूक्ष्म वर्णन प्रस्तुत करते हैं। ब्रेस्ट के नाटकों में कथावाचक का वही स्थान है और वह नाटक के रूप-शिल्प को उसी प्रकार से प्रभावित तथा नियमित करता है, जिस प्रकार से कि आसाम के अंकिया नाटक में सूत्रधार अथवा अनेक दूसरे पारंपरिक नाट्य रूपों में सूत्रधार, अथवा उसी का कोई अन्य पर्याय रूप। कथावाचक के अतिरिक्त ब्रेस्ट यह काम कोरस से भी लेता है। भारतीय लोक नाटकों में रासलीला, नाच और यक्षगान में भी कोरस रहता है, यद्यपि इन नाटकों में कोरस आनुषंगिक और मात्र व्याख्याकार न होकर पूरे रूपबंध का ही मूलाधार होता है।

संस्कृत नाटकों में नाटकीय कथा का अंकों में विभाजन आधुनिक पश्चिमी नाटकों के समान काल और स्थान के परिवर्तन का संकेत नहीं करता। अंक-विभाजन केवल कथावस्तु और भावस्थिति के परिवर्तन की सूचना देने के लिए होता है, उसी प्रकार से जिस प्रकार से वाद्यवृंद अथवा नृत्यप्रदर्शन में एक स्वर-अनुक्रम या एक भाव-चरण। संस्कृत नाटककारों के समान ब्रेख्त भी नाटक की संरचनाओं में स्थान और काल की अन्वितियों के प्रति उदासीन है। उसके नाटकों में काल अथवा स्थान-परिवर्तन का परिचय कभी तो कथावाचक देते हैं और कभी स्वयं अभिनेता और कभी रंगमंच पर पोस्टरों पर लिखकर ही स्थान और काल आदि का परिचय करा दिया जाता है। संस्कृत नाटकों तथा लोक नाटकों में भी ऐसी ही युक्तियों से कथा के स्थान और काल का परिचय दिया जाता है।

काल और स्थान की अन्वितियों की अवहेलना करके ब्रेख्त भी संस्कृत नाटककारों के समान ही कई पद्धतियों से नाटकीय कथावस्तु को संगठित करता है और उसमें एक बाह्य फैलाव तथा ढीलापन होते हुए भी उसे एक प्रकार की भीतरी अन्विति और एकता प्रदान करता है। यह एकता गणित में एक ही केंद्र वाले अनेक वृत्तों की पारस्परिक एकता के समान होती है। वास्तव में भारतीय परंपरा में महाकाव्यों की कथात्मक एकता के निर्माण के लिए इसी एक-केंद्रीय बहुकथा-वृत्तों की रचना पद्धति का अनुसरण किया गया है, और इसका सबसे सफल उदाहरण तुलसीदास की महान रचना रामचरित मानस है, जिसमें वक्ता-श्रोता के कई वर्ग अपने आप में कथा-गायन में स्वतंत्र होकर भी विभिन्न स्तरों पर विभिन्न प्रकार से एक-दूसरे से संबद्ध हैं। संस्कृत नाटकों में कथा को संगठित करने तथा उसके प्रभाव को तीव्र करने के लिए नाटक के रूपबंध में प्रवेशक और विष्कंभक आदि परिचयात्मक और सारांशात्मक संपर्क-दृश्य-खंडों की कल्पना की गई है। इन दृश्यों में नाटक का वह गौण और सूक्ष्म क्रिया-व्यापार प्रस्तुत किया जाता है जो पात्रों के मनोभावों और स्थितियों के गूढ़ अर्थों का उद्घाटन करने की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हो जाता है और जिस प्रकार का व्यापार आधुनिक नाटकों में प्रस्तुत करके केवल संवादों में सूचित कर दिया जाता है। ब्रेख्त भी अपने नाटकों में ऐसी ही पद्धतियों से व्यतीत होती

हुई नाटकीय कथा को दुहराता है, कथा-सारांश प्रस्तुत करता है, तथा भावी कथा का निर्देश तथा व्यापार पर टिप्पणी करता है। ब्रेख्त के नाटकों में यह कार्य कथावाचक और कोरस करता है।

महा-नाटक आधुनिक शैली के तर्कसंगत और सुबद्ध नाटक को त्यागकर अपने लिए एक शिथिल और घटनाबहुल नाटकीय रूपबंध स्वीकार करता है, जिसमें न तो कुतूहल जागृत करने की आवश्यकता रहती है और न कथा के क्रमिक विकास के द्वारा घटनाओं के उत्कर्ष के निर्माण की ही आवश्यकता रहती है। महा-नाटक में नाटकीय कथा अलग-अलग एक-दूसरे से स्वतंत्र अनेक कथा स्थितियों में विभाजित रहती है और ये स्थितियाँ अपने आप में पूर्ण और स्वायत्त होती हैं। नाटक का प्रभाव परस्पर विरोधी घटनाओं और कथा स्थितियों के संतुलन, समायोजन और 'मोंताज' द्वारा निर्मित किया जाता है। अरस्तू परंपरा का नाटक केवल अपनी पूर्णता में ही समझा और ग्रहण किया जा सकता है, किंतु ब्रेख्त परंपरा का महा-नाटक छोटे-छोटे खंडों में विभाजित करके भी ग्रहण किया जा सकता है और उसमें उसी प्रकार से रस लिया जा सकता है, जिस प्रकार से कि पाठक उपन्यास के अलग-अलग अध्यायों में रस लेता है या जिस प्रकार से कि चीन की क्लासिकल नाट्य परंपरा में उन अत्यंत लंबे नाटकों के खंडों में जो कि स्वतंत्र रूप में अपने आप में पूर्ण नाटकों के रूप में प्रस्तुत किए जाते हैं। यही कारण है कि ब्रेख्त अपने नाटकों को अंकों और दृश्यों में विभाजित न करके खंडों और उपखंडों में विभाजित करता है और प्रत्येक उपखंड का एक स्वतंत्र शीर्षक रहता है। इस संबंध में हम लीला नाटकों, रामलीला और रासलीला को भी ले सकते हैं जिनमें नाटकीय कथा के एक-एक खंड को स्वतंत्र रूप से प्रदर्शित किया जाता है। प्राचीन परंपरा में भी इस प्रकार के प्रदर्शनों का उल्लेख मिलता है। प्रसिद्ध संस्कृत नाटकों का एक-एक अंक स्वतंत्र रूप से अलग-अलग दिन प्रस्तुत किया जाता था। संस्कृत परंपरा का एकमात्र अवशेष रूप केरल का कूडिआट्टम नाटक आज भी उसी परंपरा का अनुसरण कर रहा है।

महा-नाटक में जिस प्रकार से कि विभिन्न कथा खंड अपनी स्वतंत्र सत्ता रखते हैं, उसी प्रकार से उसके प्रदर्शन में भी साहित्येतर तत्त्व, रंगसज्जा, संगीत, मुद्राव्यवहार आदि भी अपना स्वायत्त रूप सुरक्षित रखते हैं और वे नाटकीय संवादों के केवल आनुषंगिक तत्त्व रहकर उसी को पोषित नहीं करते और न वातावरण अथवा भाव की सृष्टि और दृश्य वर्णन में ही योग देते हैं, बल्कि उनका अपना स्वायत्त स्वरूप होता है। संगीत विशेष प्रकार की भावात्मक नाटकीय स्थितियों को तीव्र और गहन बनाने के लिए चातुरी के साथ नाटक में ही नहीं जोड़ दिया जाता, बल्कि संगीत खंड वास्तव में नाट्य के विशिष्ट उपादानों के रूप में नाटक में समाविष्ट किए जाते हैं, जो नाटक के प्रवाह को रोकते हैं, कथा के सत्याभास को तोड़ते हैं और इस प्रकार से नाटकीय व्यापार को एक प्रकार की विचित्रता और अस्वाभाविकता प्रदान करते हैं। प्रदर्शन के कला तत्त्वों को स्वतंत्र सत्ता देने के साथ-साथ ब्रेस्ट उनके द्वारा सत्याभास की भावना को भंग करता है। यही कारण है कि उसके प्रदर्शनों में बिजली के मंचीय यंत्र छिपाए नहीं जाते, दर्शक उनको तथा वाद्ययंत्रों को और उनके प्रयोग को देखता रहता है।

(ख) भरत, स्तानिस्लाव्स्की और ब्रेख्त के अभिनय सिद्धांत¹

डॉ. राधावल्लभ त्रिपाठी
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष
संस्कृत विभाग
सागर विश्वविद्यालय, सागर

भरत तथा स्तानिस्लाव्स्की

भरतमुनि ने अपने नाट्यशास्त्र की रचना नटों को प्रशिक्षित करने के लिए की थी। उनके व्याख्याकार आचार्य अभिनवगुप्त कहते हैं कि नाट्य का प्रायोगिक शास्त्र भरतमुनि ने ब्रह्मा से सीखा, फिर उन्होंने यह शास्त्र प्रयोग में लगे अपने शिष्यों को सिखाया। इसके साथ ही भविष्य में होने वाले नटों के लाभ के लिए फिर उन्होंने उस शास्त्र को ग्रंथ के रूप में निबद्ध भी किया।

स्तानिस्लाव्स्की (1863-1938) हमारे समय के महान् नाट्यनिर्देशकों में एक हैं। उन्होंने अपनी रंगयात्रा में अपने प्रयोगों, अनुभवों तथा अन्तर्दृष्टि के द्वारा रंगमंच का एक दर्शन विकसित किया, अपने सहकर्मी अभिनेताओं के लाभ के लिए वे वर्षों तक रंगदर्शन पर प्रवचन करते रहे तथा उनके प्रवचनों को ग्रंथों के रूप में प्रकाशित भी किया गया। स्तानिस्लाव्स्की ने अभिनय की जिन प्रविधियों को विकसित किया, उन्हें संक्षेप में “सिस्टम” या “मेथड” कहा गया। यह मेथड या सिस्टम कई अर्थों में भरतमुनि की अभिनयदृष्टि तथा अभिनय दिशा के बहुत निकट है।

कालिदास, भवभूति तथा राजशेखर आदि नाटककारों ने भरतमुनि का एक महान् नाट्यप्रयोक्ता के रूप में स्मरण किया है (विवरण के लिए देखें- प्रस्तुत लेखक की पुस्तक - Lectures on natyasastra 1992, पृ. 92)। उनका नाट्यशास्त्र महज एक किताब नहीं, सदियों तक जारी रहने वाली एक जीवन्त परम्परा रही है। स्तानिस्लाव्स्की के व्याख्याकार बेनेडेटी का कहना है कि स्तानिस्लाव्स्की का सिस्टम कोई अमूर्त विचार नहीं है। वह प्रयोग तथा प्रक्रिया है यह काम करने वाले अभिनेताओं के काम की पद्धति है। उसे सिस्टम या व्यवस्था इसी अर्थ में कहा जा सकता है कि वह सुस्पष्ट, तर्कसंगत तथा व्यवस्थित है (बेनेडेटी जे., 1982, भूमिका, पृ. 1) शास्त्र या नियम के अंधानुकरण का भरत और स्तानिस्लाव्स्की दोनों ने विरोध किया है। स्तानिस्लाव्स्की कहते हैं कि अभिनेता के भीतर जो सहज रचनात्मक व्यवस्था है, वही सिस्टम है, उससे अलग उनका अपना या और किसी का सिस्टम नहीं हो सकता। यह सिस्टम भी स्थिर नहीं है, यह लगातार बदलता है (स्तानिस्लाव्स्की 1980, भूमिका पृ. 1)।

भरतमुनि की दृष्टि से भी रंगमंच एक सतत् परिवर्तनशील गद्यात्मक है, क्योंकि इसका अधार लोक है, लोक स्वयं लगातार बदल रहा है, तो नाट्य भी स्थिर या अपरिवर्त्य कैसे हो सकता है? नाट्यशास्त्र में लोक नाट्य के तीन प्रमाणों में से एक कहा गया है। भरत कहते हैं कि इस लोक को शास्त्र की

¹ नाट्यशास्त्र विश्वकोश - (सं. डॉ. राधावल्लभ त्रिपाठी) से साभार

सीमाओं में नहीं बाँधा जा सकता, क्योंकि यह अपनी विविधता में अपार है, इसलिए प्रयोक्ता को चाहिए कि जिन बातों का निर्णय शास्त्र से नहीं हो सकता, उनके लिए लोक का आश्रय ले। वास्तव में लोक पर समूचा शास्त्र भी टिका हुआ है, यदि लोक न रहे, तो सारे शिल्प और मनुष्यों का सारा कर्तव्य भी समाप्त हो जाएगा (नाशा. 120-27)।

लोक के साथ नाट्य के लिए अन्य दो प्रमाण जो भरतमुनि ने बताए हैं, वे हैं वेद तथा अध्यात्म। अध्यात्म से आशय प्रयोक्ता या अभिनेता की अपनी चेतना से है। भरत और स्तानिस्लाव्स्की दोनों ही अभिनेता की अंतर्दृष्टि पर जोर देते हैं।

स्तानिस्लाव्स्की कहते हैं- "The actor simply following the coded set of rules stands on the stage with an empty soul. स्तानिस्लाव्स्की, 1980, पृ. 18) अभिनेता सबसे पहले अपनी आत्मा में प्रतिष्ठित रहे, यहीं से वह नाटक की दुनिया रच सकता है। स्तानिस्लाव्स्की ने अभिनेता को अपने आत्म या सत्त्व में अवस्थित करने की प्रक्रिया की खोज अपनी नाट्ययात्रा में की और उसके द्वारा वे नाट्य के सत्य तक पहुँचे। उनके व्याख्याकार बेनेडेटी ने इस प्रक्रिया को बताते हुए कहा है- "the logic sequence of the physical actions and feelings will lead the actor to truth and the truth will evoke belief and together, they will create what Stanislavsky calls 'I am', which means 'I exist. I live, I feel and I think in the same way as the character I am representing on the stage does'.... 'I am' evokes emotions and feeling and enables the actor to enter into the feeling of his part. 'I am' is according to Stanislavsky the condensed and almost absolute truth on the stage."

भरत ने नाट्य के लिए वेद को एक प्रमाण भी माना है और नाट्य को उन्होंने चार वेदों के अतिरिक्त पाँचवाँ वेद भी कहा है। कालिदास नाट्य को चाक्षुष यज्ञ कहते हैं। इस परम्परा में नाट्य वेद है और उसका अनुष्ठान एक यज्ञ है। यज्ञ में यजमान अपने सीमित व्यक्तित्व या अहंकार की आहुति देकर अनन्त से जुड़ता है। नाट्य में भी अभिनेता अपने सीमित व्यक्तित्व का विसर्जन करता है और अनन्त से जुड़ता है। नाट्य अपने आप में अनन्त विश्व को समेटे हुए है। नाट्योत्पत्ति के मिथक में ब्रह्मा कहते हैं

नैकान्ततोऽत्र भवतां देवानां चानुभावनम्॥

त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तनम्॥

(नाशा०, 1.107)

अभिनवगुप्त भरत के आशय को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि नाट्य के अवलोकन से प्रेक्षक का चित्त निर्मल होता है तथा वह संस्कारों को ग्रहण करता है (द्र०-उपर्युक्त पर अभिनवभारती)

स्तानिस्लाव्स्की की अवधारणाएँ भरत और अभिनवगुप्त के मन्तव्यों से काफी कुछ समाकार हैं। फर्क यह है कि स्तानिस्लाव्स्की इन दोनों से इतिहास में बहुत दूरी पर खड़े हुए हैं। उनके सामने विज्ञान और तकनीकी का युग है। उनके समय का अभिनेता भौतिक सुख-सुविधाएँ चाहता है। स्तानिस्लाव्स्की समय की धारा के विपरीत अभिनेता को भौतिकता के प्रलोभनों से दूर रहकर रंगमंच को एक साधनास्थली समझने तथा उसके लिए जीवन का उत्सर्ग करने का उपदेश देते रहे। उनके इस आग्रह ने

उन्हें आधुनिकतावादी अभिनेताओं का कोप भाजन भी बनाया। पर स्तानिस्लाव्स्की उन अभिनेताओं को कड़ी फटकार सुनाते हैं, जो दोहरी जिन्दगी जी रहे हैं। जो रंगमंच पर महान् आदर्शों को रूपायित करते हैं; पर असली जिन्दगी में उसके ठीक उलटे चलते हैं। “सही कलाकार वही आदमी है, जिसके लिए रंगमंच ही जीवन का सब कुछ है, रंगमंच उसके लिए देशसेवा का एकमात्र माध्यम है। रंगमंच ही उसका देश है उसकी प्रेरणा है, तथा उसके लिए शाश्वत साहस का स्रोत है।” (The true artist in the man to whom the theatre is the be all and the end all of his entire life the stage is his only way of serving his country- The stage is his country, his inspiration, his source of eternal courages (Stanislavaky 1980 p-& 107)

स्तानिस्लारकी विसर्जन में अभिनेता के जीवन की अर्थवत्ता देखते हैं, “जिसकी अभिव्यक्ति पावन हृदय के सौन्दर्य : तथा विचारों की आग में होती है। इस विसर्जन का संबंध अभिनेता के आंतरिक जीवन से है (वही, पृ० 110)। यदि भरत की या भारतीय-परम्परा में नाट्य यज्ञ या वेद है, तो स्तानिस्लाव्स्की के लिए भी रंगमंच ‘कला का देवालय’ है, “जहाँ केवल उदात्तता और सौन्दर्य के लिए ही जगह है” (वही, पृ० 95)।

भरतमुनि की परम्परा में रस ही नाट्य का प्राण है, रस के बिना नाट्य में कहीं कुछ घटित हो ही नहीं सकता-“न रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते” (नाशा०. अ० 6)। रसों में चार मूल रस हैं। जिनका संबंध चार पुरुषार्थों से है। इस प्रकार रसास्वाद जीवन के पुरुषार्थों से अनिवार्यता अनुषक्त है। योग साधना तथा अध्यात्म मनुष्य को मुक्ति देता है, काव्य या नाट्य भी भावुक या सहृदय को मुक्ति देता है। आनंद दोनों में ही परम प्रयोजन है। भट्टनायक तो कहते हैं कि काव्य या नाट्य से मिलने वाले रस का जो आनंद है, वह योगियों के आनंद से भी विलक्षण है।

वाग्धेनोर्दुग्धमेत हि रसं यद् बालतृष्णया।

तेन नास्य समः स स्यात् दुष्यते योगिभिर्हि यः ॥

(अभिनवगुप्त द्वारा ध्वन्यालोकलोचन में उद्धृत)

रस की सृष्टि तथा उसके आस्वाद दोनों के लिए हृदय ही पावनता अपेक्षित है। रंगमंच की प्रक्रिया पर विचार करते हुए स्तानिस्लाव्स्की भी यही कहते हैं। वे रंगमंच पर विकारों के प्रक्षेप या यथार्थ की सतही अनुकृति का विरोध करते हैं (स्तानिस्लाव्स्की, 1963, पृ० 82)।

रस एक जटिल तथा सम्मिश्र अनुभव है। भरत की दृष्टि से यह नाट्यसंग्रह के ग्यारह (या तेरह) तत्त्वों का निचोड़ है। ये तत्त्व हैं-रस, भाव, अभिनय, धर्मी, वृत्ति, प्रवृत्ति, सिद्धि, स्वर, आतोद्य, गान तथा रंग या रंगमंच। नाट्यशास्त्र के एक करलीय संस्करण में इनमें दो तत्त्व और जोड़े गये हैं-प्रकृति तथा उपचार। इन ग्यारह या तेरह तत्त्वों के अन्तःसंबंध तथा अंतःक्रिया में नाट्य निष्पन्न होता है। आचार्य अभिनवगुप्त ने इन तत्त्वों की समुदायरूपता में नाट्यानुभव माना है।

स्तानिस्लाव्स्की भी नाट्यानुभव को एक जटिल तथा सम्मिश्र अनुभव मानते हैं। उनके अनुसार नाट्य की संरचना बहुआयामी होती है। कोई भी नाट्यालेख उनके अनुसार सात स्तरों पर रचा जाता है। इन सात

स्तरों में-बाह्य जगत, नाट्य की सामाजिक अधिरचना, उसकी काव्यात्मकता या रीत्यात्मकता, उसकी सौन्दर्यमूलकता, उसके पात्रों का आभ्यन्तर जगत् तथा अभिनेता की भावभूमि-ये सभी समाविष्ट हैं। (स्तानिस्लाव्स्की, 1963, पृ० 11)।

नाट्य संग्रह के ग्यारह तत्वों में धर्मों की अवधारणा केन्द्रीय महत्त्व रखती है। धर्मों का अर्थ है रंगमंच पर नाटक की इतिकर्तव्यता, उसका अपने मुहावरे में ढलना। धर्मों दो प्रकार की हैं-लोकधर्मों और नाट्यधर्मों। लोक का यथावत् रूप नाट्य प्रस्तुति में झलकता हो, तो लोकधर्मों और अभिनेता जब उसी में अपनी ओर से कुछ अतिशय ला कर उसे प्रस्तुत करें, तो नाट्यधर्मों होती है। लोकधर्मों में हमारा भौतिक जगत् आभासित होता है, नाट्यधर्मों में अभिनेता का आभ्यन्तर जगत्। स्तानिस्लाव्स्की ने किसी भी भूमिका की रचना के दो पक्ष माने हैं-भौतिक तथा आध्यात्मिक। जिस तरह भरतमुनि की धर्मों की अवधारणा में उसके दोनों पक्ष-लोकधर्मों तथा नाट्यधर्मों अनिवार्यता और अभिभाज्यतया एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं, उसी प्रकार स्तानिस्लाव्स्की में भूमिका के निर्वाह की ये दोनों स्थितियाँ भी परस्पर अनुषक्त हैं। “रंगमंच पर भौतिक जीवन की रचना में तो उसका आधा काम ही हो पाता है।... क्योंकि कला का मुख्य उद्देश्य बाहर को नहीं, मानवीय आत्मा की रचना को सम्प्रेषित करना है।” यह अवश्य है कि जो सीधे इस आत्मिक अनुभव तक नहीं पहुँच पाते, वे भौतिक पक्ष से आरम्भ करते हैं।

रंगमंच पर मनुष्य की आत्मा की खोज ने स्तानिस्लाव्स्की को योगदर्शन और योगसाधना की ओर आकृष्ट किया। अभिनेता को वे अपने-आप पर एकाग्र होने की सलाह देते थे। नाटक के पाठ में कुछ अंश वे छुड़वा देते, इन अंशों की प्रस्तुति फुसफुसाहट या मौन के द्वारा करने की सलाह देते थे। मौन का अर्थ था अभिनेता का अपने में गहरे तक उतरना और उसके द्वारा नाटक के पाठक के भीतर छिपे हुए उप-पाठ से साक्षात्कार।

भरतमुनि के प्ररथान में लोकधर्मों तथा नाट्यधर्मों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। स्तानिस्लाव्स्की के प्रस्थान में भी भौतिक दृष्टि तथा आध्यात्मिक दृष्टि एक दूसरे से अविभाज्य रूप से जुड़ी हुई है। लोकधर्मों के बिना नाट्यधर्मों नहीं बन सकती और नाट्यधर्मों के बिना लोकधर्मों अपने में कुछ नहीं है। यही बात स्तानिस्लाव्स्की अपनी यथार्थवाद की अवधारणा में स्वीकार करते हैं। उन्होंने स्वभाववाद का इसी आधार पर विरोध किया है—

Naturalism for him implied the indiscriminate reproduction of the surface of life- Realism on the other hand while taking material from the real world and from direct observation, selected only those elements which revealed the relationships and tendencies being under surface. (बेनेडेटी जे. ए 1982, पृ. 11)।

नाट्य जीवन का अनुकरण है-यह भरतमुनि और उनकी परम्परा के आचार्य बार-बार कहते आए हैं। पर वह जीवन का सतही अनुकरण नहीं है। अभिनेता सतही यथार्थ को अतिक्रान्त करता है। रंगमंच पर यह अतिक्रान्ति नाट्यधर्मिता के द्वारा सम्भाव्य होती है। भरतमुनि नाट्यधर्मों का विवेचन इसी अतिक्रान्त की अपार सौन्दर्यमूलक संभावनाओं का आख्यान है। स्तानिस्लाव्स्की के लिए तो नाटकीयता अभिनेता का

सर्वस्व है (वही, पृ० 24)। यह नाटकीयता रंगमंच में अनेक स्तरों पर अनुप्रविष्ट होती है। नाटक की कथा में कल्पना का पुट यथार्थ की सतही अनुकृति के बजाय यथार्थ की परतों को उघाड़ने के लिए है। नाटक की कथा को रंगमंच पर साकार करने के लिए अभिनेता को फिर इसमें अपनी कल्पना का पुट देना होता है। इसके द्वारा अभिनेता अपने चारों ओर एक रचनात्मक वृत्त निर्मित कर लेता है और यह रचनात्मक वृत्त उसे भीड़ के सामने रहते हुए भी अपने में एकाकी बने रहने के लिए सहायक होता है। अपने में एकाकी रहकर वह अपने भीतर के स्रोत से नाट्य को रचता चला जाता है। तब उसे बाहर से प्राप्त मानकों, विधिविधानों पर निर्भर नहीं रहना होता।

स्तानिस्लारकी ने जिसे “भीड़ के आगे एकान्त” कहा है, वह भरतमुनि द्वारा चतुर्विध अभिनय के रूप में व्याख्यायित है। आंगिक, वाचिक तथा आहार्य अभिनेता के लिए बाह्य स्रोत हैं, सत्त्व उसके भीतर है। सत्त्व में प्रतिष्ठित रहकर ही वह भूमिका के आरपार देख सकता है। यह देख पाना एक तरह से दूसरे चोले में घुसना होता है। भरतमुनि ने इसके लिए परकायप्रवेश का ही दृष्टांत दिया है। अभिनेता अपनी साधना, सूक्ष्म-दृष्टि और एकाग्रता के द्वारा अपने खुद के चोले के बाहर आ जाता है और फिर दूसरे के चोले में वह जा सकता है। इस प्रक्रिया में असीम कष्ट तथा असीम आनंद दोनों को वह पाता है। अभिनेता के रूप में यह उसका मरण भी है और यही उसका नया जीवन भी है।

वाचिक, आंगिक और आहार्य की सारी प्रक्रिया वस्तुतः इसी परकाय प्रवेश के लिए की जाने वाली साधना है। स्तानिस्लाव्स्की इस प्रक्रिया से अनभिज्ञ नहीं हैं। वे इसकी सिद्धि के लिए सोपानदशी बताते हैं। उनके बताये दस सोपान ये हैं—

(1) यदि, (2) प्रदत्त परिस्थितियाँ, (3) कल्पना (4) अवधान (5) मांसपेशियों को ढीला छोड़ना (6) प्रसंग तथा समस्याएँ (7) सत्य और विश्वास (8) भावात्मक स्मृति (9) सम्प्रेषण तथा (10) बाह्य उपादान।

स्तानिस्लाव्स्की के ये दस सोपान पूरी तरह तर्कसंगत तो नहीं हैं और वे अतिव्याप्ति और अव्याप्ति के दोषों से सर्वथा अस्पृष्ट हों, ऐसा भी नहीं है। यदि से आशय है अभिनेता का कल्पना करना कि यदि में वह होता, जिसका मुझे अभिनय करना है, तो मैं क्या-क्या करता। कल्पना, भावात्मक स्मृति तथा अवधान एक-दूसरे से बहुत अधिक जुड़े हैं। पहले सोपान-यदि-को मिलाकर ये सब उस सारी प्रविधि के करीब पहुँचते हैं। जिसे भरत ने सात्त्विक अभिनय कहा है। माँसपेशियों को ढीला छोड़ना आंगिक अभिनय की तैयारी है। बाह्य उपादान से तो सीधे-सीधे आशय आहार्य अभिनय से ही है। इस तरह इस सोपान-दशी के द्वारा स्तानिस्लाव्स्की ने प्रयोग का जो क्रम बनाया है, उसमें अभिनेता को अपने भीतर एकाग्र होना सबसे प्राथमिक आवश्यकता है। भरतमुनि ने अभिनेता के अपने भीतर की इस एकाग्रता को सत्त्व कहा है। सत्त्व ही सारे अभिनय का बीज है।

तत्र कार्यः प्रयत्नरतु नाट्यं सत्त्वे प्रतिष्ठितम्। (नाशा., 22.1)

सत्त्व की इस स्थिति में अभिनेता भूमिका में ऐसे प्रवेश कर जाता है, जैसे एक जीव अपनी देह त्याग कर अन्य देह में प्रवेश करता है।

यथा जन्तुः स्वभावं स्वं परित्यज्यान्यदैहिकम्।

तत्स्वभावं हिं भजते देहान्तरमुपाश्रितः॥

वेषेण वर्णकैश्चैव छादितः पुरुषस्तथा॥

परभावं प्रकुरुते यस्य वेषं समाश्रितः॥ (नाशा०. 21.90.91)

मिकैल शैफिन (1788-1863), जिनका स्तानिस्लाव्स्की पर गहरा प्रभाव पड़ा, इस स्थिति की व्याख्या करते हुए कहते थे कि अभिनय पात्र की त्वचा के भीतर सरकना है—Acting is crawling under the skin of the character—बेनेडेटी जे., 1992, पृ० 71 स्तानिस्लाव्स्की भी भरतमुनि के परकाय प्रवेश के सिद्धान्त को स्वीकार कर लेते हैं। जब वे कहते हैं कि मैं पात्र की वेशभूषा के भीतर अपने आप को कल्पित कर के देखता हूँ— I try to imaging myself in them (स्तानिस्लाव्स्की 1964, पृ० 24)। अपनी भूमिका के भीतर पहुँचना स्तानिस्लाव्स्की की दृष्टि में किसी भी अभिनेता का रूपान्तरण है, इसमें वह या तो किसी और का हिस्सा बन जाता है या कोई और उसका हिस्सा बन जाता है। स्तानिस्लाव्स्की ने अपने व्याख्यानों में कई जगह अभिनेता के उस रूपान्तरण की चर्चा की है, जो भूमिका के निर्वाह के समय घटित होता है। इब्सन के नाटक में नायक की भूमिका करते समय अपने अनुभव की विवृत्ति करते हुए वे कहते हैं—

"The image and passions of that part became my own organic ones, or rather, the reverse was true, my own feelings were transformed into Stockmann's and in the process, I experienced the greatest joy a actor can ever experience, namely the ability of speaking the thoughts of another man on stage, of putting yourself entirely at the service of someone else's—passions, and of reproducing someone else's action as if they were your own- (Stanislavsky on *Art of Stage*- p- 16)

सिद्ध अभिनेता अपने-आप को तत्काल आमूलचूल उन क्षणों में बदल डालता है, नौसिखिये को इसके लिए तैयारी या साधना करनी पड़ती है। सिद्ध अभिनेता अभिनय के दौरान स्तानिस्लारकी के अनुसार एक आविष्ट स्थिति या पराचेतना में पहुँच जाता है, जिसके लिए उन्होंने superconsciousness शब्द का इस्तेमाल किया है भरतमुनि ने अभिनेता की इस क्षमता का आंकलन अपने सिद्धि-विचार में किया है। नाट्यप्रयोग में सिद्धि दो प्रकार की है—देवी तथा मानुषी। देवी सिद्धि में प्रेक्षक प्रयोग के देश-काल से पूरी तरह तादात्म्य स्थापित कर लेता है इस समय अभिनेता के रूप में नहीं भाता। मानुषी सिद्धि में प्रेक्षक अभिनेता को अभिनेता के रूप में देखता है। भरत तथा स्तानिस्लाव्स्की दोनों ही देवी सिद्धि के पक्षधर हैं। इसके लिए अभिनेता को अपने भीतर गहरे उतरना पड़ता है। स्तानिस्लाव्स्की का दृष्टिकोण यहाँ शब्दांतर में नाट्यशास्त्र में निरूपित सात्त्विक अभिनय की ही व्याख्या है—

The essence of art and the main source of creativity are hidden deep in man's soul, there in the centre of our inaccessible super & consciousness, our mysterious "I" has its being and inspiration itself- That is the store & house of our most important material.

(स्तानिस्लाव्स्की, 1963, पृ० 81)

अन्ततः भरत और स्तानिस्लाव्स्की दोनों के लिए अभिनयकर्म एक साधना है और अभिनेता एक योगी है। स्तानिस्लाव्स्की ने तो अपने अभिनेताओं को भारतीय योगसाधना की प्रविधि अभिनयकर्म में अपनाने की सलाह भी दी थी। वास्तव में स्तानिस्लाव्स्की का काम तथा उनकी सोच पश्चिमी रंगमंच की विकासयात्रा में उस महत्त्वपूर्ण मोड़ को इंगित करता है, जहाँ पश्चिमी रंगमंच भारतीय तथा एशियाई रंग-परंपरा के साथ प्रत्यक्ष रूप में जुड़ता हुआ विश्व-रंगमंच के लिए नई भूमिका रच रहा है।

भरत तथा ब्रेख्त

समकालीन रंगमंच पर ब्रेख्त का अवतरण एक क्रांतिकारी घटना रही है। ब्रेख्त ने यूरोप के रंगमंच की हालत को ही नहीं बदला, उसके सौंदर्यशास्त्र को भी नया रूप दिया। ब्रेख्त ने अरस्तू से चली आयी नाट्य परम्परा पर प्रश्नचिह्न लगाते हुए दर्शक और अभिनेता के बीच की एक अदृश्य चौथी दीवार को ढहा दिया, जिसे ढाई हजार साल की उस परम्परा ने मजबूती से खड़ा कर रखा था।

इस समय के हमारे रंगमंच पर ब्रेख्त का असर सबसे ताजा और गहरा कहा जा सकता है। निश्चय ही ब्रेस्ट का दुनिया के रंगमंच को योगदान बहुत बड़ा है। पर उसकी अंधाधुंध नकल को स्वस्थ प्रवृत्ति नहीं कहा जा सकता। ब्रेख्त का सही उपयोग हम अपने रंगमंच की जीवित और प्राणवान् परम्पराओं को समझकर ही कर सकते हैं।

ब्रेख्त के रंगमंच का एक मूल सूत्र अभिनेता द्वारा अपनी भूमिका से अलग होकर दर्शक को सीधे संबोधित करना है। हमारे रंगमंच की दुनिया में करीब तीन हजार साल पहले से यह चीज मौलिक रूप में मौजूद रही है और परम्परागत भारतीय नाट्य में अभी भी देखी जा सकती है। इस देश में नाटक की शुरुआत प्रस्तुतकर्ता द्वारा श्रोता या प्रेक्षक से सीधे बातचीत के द्वारा ही हुई। प्रागैतिहासिक काल में सूत, चारण या कुशीलव इतिहास, पुराण या गाथाओं को जनता के सामने गा-गाकर सुनाया करते थे। आगे चलकर सूत ने सूत्रधार के रूप में अपने साथ एक-दो अभिनेताओं को जोड़कर मंडली बनाई थी, जिसकी प्रस्तुतियों में मुख्य भाग कथा के नैरेशन का होता था, अभिनय उसके साथ-साथ चलता था। संस्कृत नाटक में यह सूत्रधार बराबर मौजूद रहा। वह प्रस्तावना में नाटक की कथा के बारे में प्रेक्षक से सीधे बातचीत ही नहीं करता अपितु, नाटक के जारी रहते समय भी वह कई बार बीच-बीच में आकर हस्तक्षेप करता है। ऐसे भी नाटक हैं, जिनमें मुख्य पात्रों की भूमिकाओं के जारी रहते समय सूत्रधार प्रकट होकर उनके बारे में कई पद्य बोलता है। वह प्रस्तुति के दौरान प्रेक्षकों के समक्ष नाटक की घटनाओं की व्याख्या करता चलता है। संस्कृत रंगमंच की हजारों वर्ष की परम्परा के जीवित अवशेष कूडियाट्रम् में सूत्रधार तथा विदूषक मूल नाटक के साथ काफी आजादी लेते हुए दर्शकों से वार्तालाप करते रहते हैं, एक नाटक की एक प्रस्तुति में केवल विदूषक का संबोधन ही कई दिनों तक चलता है। हमारे लोकनाट्य के कई रूपों में अभिनेता अपने अभिनय में अपनी भूमिका की व्याख्या दर्शक के आगे करने लगता है। यही नहीं, वह उस भूमिका के बारे में गाये जाने वाले समूह गीत में भी शामिल हो जाता है और उसके बाद फिर अपनी भूमिका में लौट आता है। ब्रेख्त ने अभिनेता के लिए इसी स्थिति को आदर्श माना है जहाँ वह चरित्र से अपने को पृथक कर ले-“अभिनेता के लिए कतई जरूरी नहीं कि वह खुद को वैसा ही प्रदर्शित करे, जैसा चरित्र उसे अभिनीत करना है। उसे सिर्फ उस चरित्र का मंच पर बखान करना है, उसी तरह जिस तरह किसी पुस्तक में उसका वर्णन किया जा सकता है।”

सूत्रधार के हस्तक्षेप तथा अभिनेता द्वारा दर्शक से सीधे साक्षात्कार से हमारी परम्परा में ठीक वह चीज पैदा होती है, जिसे ब्रेख्त ने पार्थक्य-प्रभाव (एलियनेशन-इफेक्ट) कहा है। यह पार्थक्य-प्रभाव ब्रेख्त के रंग-दर्शन का मूल आधार है, जिसके द्वारा उसने यूरोप के रंगमंच की समूची परिकल्पना को बदल दिया।

ब्रेख्त की रंगमंचीय परिकल्पनाओं, सौंदर्यशास्त्रीय सिद्धांतों तथा अभिनय पद्धतियों का परम्परागत भारतीय नाट्य से साम्य एकदम स्वाभाविक है, इसमें खींचातानी करके तुलना बिठाने की कोई बात नहीं। फर्क इस बात का है कि हमारी परम्परा में जो चीज आदिम रूप में मौजूद थी, वह ब्रेख्त के शब्दों में उसके रंगमंच पर अत्यधिक यांत्रिक और वैज्ञानिक विकास के बाद तथा अरस्तू की परम्परा के खिलाफ प्रतिक्रिया के फलस्वरूप आकार ले सकी। खुद ब्रेख्त ने ही यह भी स्वीकार किया है कि उसके रंगमंच पर नया कुछ भी नहीं है, जो प्रयोग उसने किए हैं, वे हिन्दुस्तान, जापान और चीन के रंगमंच पर सदियों पहले हो चुके थे। ब्रेख्त एशियाई रंग परम्परा से प्रभावित भी था। यही कारण है कि ब्रेख्त ने रंगमंच का जो शास्त्र गढ़ा है, वह अनेक बातों में नाट्यशास्त्र के बहुत निकट है, जिसे भरत आज से करीब ढाई हजार वर्ष पूर्व लिख चुके थे। भरत ने काव्य और नाटक में अंतर नहीं माना है और हमारी पारंपरिक रंगचेतना काव्य और नाटक को अलग-अलग विधाओं के रूप में देख भी नहीं सकती थी, क्योंकि हमारे यहाँ नाटक का बीज काव्यपाठ में निहित रहा है, ब्रेख्त ने अरस्तू के समय से चले आ रहे नाटक तथा कविता को अलग-अलग मानने वाले ड्रामेटिक थियेटर का विरोध करते हुए अपने रंगमंच को उसकी तुलना में एपिक थियेटर या महाकाव्यात्मक रंगमंच कहना पसंद किया, क्योंकि भरत की परम्परा की तरह उसमें कविता का पाठ, कथा का बखान या नैरेशन का तत्त्व मौजूद था। भरत और ब्रेख्त दोनों दर्शक और अभिनेता को वस्तुजगत् से परे किसी दूसरी दुनिया में ले जाने के विरोधी हैं। ब्रेख्त ने दर्शक के मन में यह भ्रमजाल पैदा करने की कड़ी आलोचना की है कि वह कुशल अभिनेताओं द्वारा काफी रिहर्सल के बाद तैयार कर के प्रस्तुत किया जाने वाला प्रदर्शन नहीं, बल्कि सचमुच की घटनाएँ देख रहा है। भरत की परम्परा भी यह मानती है कि अभिनेता को खुद के राम, दुष्यंत आदि होने का भ्रम पैदा करने की जरूरत नहीं, उसे उनकी चरित्रगत विशेषताओं को साकार करना है। इसीलिए भरत और उनके अभिनव आदि व्याख्याकारों ने नाटक की प्रस्तुति को असली दुनिया की नकल और तज्जनित भ्रम मानने पर आपत्ति की है। रसास्वाद की भ्रममूलक व्याख्या का भी इन आचार्यों ने विरोध किया है। उन्हीं के स्वर में ब्रेख्त कहता है—“यदि मैं रिचर्ड थर्ड देखने जाता हूँ, तो इसका आशय यह नहीं कि मैं रिचर्ड तृतीय के जैसा अपने आपको महसूस करना चाहता हूँ। मेरा उद्देश्य यही हो सकता है कि मैं उस चरित्र के वैशिष्ट्य और असाधारणता को समझना चाहता हूँ।” भरत और ब्रेख्त दोनों रंगमंच को किसी जादुई माहौल में ले जाने के विरुद्ध हैं, जहाँ प्रस्तुत की जा रही चीजों के बारे में यह भ्रम हो कि वे सचमुच में घटने जा रही हैं। किसी भी जादू और करिश्मे से भरी चीज से हमें अपने मंच को बचाना होगा और दर्शक को भी एक सम्मोहन-भरे तनाव में गुजरने से रोकना होगा। इसके साथ ही ब्रेस्ट प्रेक्षक के द्वारा मंच पर प्रस्तुत घटनाओं और चरित्रों से तादात्म्य का भी विरोधी है। चित्र की रचना का उदाहरण देते हुए कहता है कि चित्रकार चित्र बनाता है, दर्शक उसे देखता है। दोनों का अरितत्व चित्र से अलग है। यहाँ यह बात ध्यान देने की है कि नाटक को देखने से होने वाली जटिल अनुभूति को समझाने के लिए

हमारे आचार्य शंकुक ने भी चित्र का ही उदाहरण दिया है। प्रेक्षक चित्रतुरगन्याय से नाटक से प्रस्तुत चीजों को समझता है। चित्र में बना घोड़ा चित्रकार और दर्शक दोनों से भिन्न वस्तु है और उसे बनाते समय या देखते समय उसके साथ तादात्म्य अपेक्षित नहीं है। इसके साथ है चित्र में बने हुए घोड़े के बारे में दर्शक न तो यह कह सकता है कि वह सचमुच का असली घोड़ा है, अगर वह घोड़ा नहीं है और न ही यह कि वह घोड़े से मिलती-जुलती कोई और चीज है। इसी प्रकार राम का अभिनय करने वाला अभिनेता न तो अभिनय के समय यह अनुभव कर सकता है कि मैं सचमुच राम ही हूँ और न दर्शन ही यह अनुभव करता है कि वह वास्तविक राम ही है।

रसानुभूति के सिद्धान्त के बारे में कई बार यह भ्रम खड़ा कर दिया जाता है कि उसमें प्रेक्षक का चरित्र तथा घटनाओं के साथ तादात्म्य आवश्यक है जब कि स्थिति इसके विपरीत है। भरत और उनकी परम्परा के सभी आचार्यों का यही आशय रहा है कि प्रेक्षक यदि तादात्म्य का अनुभव करेगा, तब रसानुभूति होगी ही नहीं। ब्रेख्त की ही तरह हमारे यहाँ भी नाट्यानुभव के लिए पार्थक्य एक बुनियादी शर्त है। अभिनेता अपने-आपको वास्तविक राम समझने लगे, तो वह अभिनय कर ही नहीं सकेगा। दर्शक भी यदि राम के साथ तादात्म्य अनुभव करे तो वह नाटक के रस से वंचित रहेगा। भरत के प्रथम व्याख्याकार लोल्लट ने कहा था कि प्रेक्षक अभिनेता में राम आदि का अनुसंधान करता है। अनुसंधान अपने-आप में एक पार्थक्यजनित प्रक्रिया है, दर्शक राम से तटस्थ होकर नट में राम का अनुसंधान कर सकता है। लोल्लट के बाद शंकुक ने अनुसंधान की इस प्रक्रिया को अभिनेता और प्रेक्षक दोनों पर लागू करते हुए अनुकृति तथा अनुमिति के द्वारा समझाया। अभिनेता अपनी शिक्षा, अभिनय कुशलता तथा अभ्यास के द्वारा राम आदि पात्रों का अनुसंधान करते हुए उनका अनुकरण करता है और प्रेक्षक उसमें राम आदि की अनुमिति करता है। अतएव पार्थक्य का तत्त्व भट्टनायक तथा अभिनव की व्याख्याओं में भी एकदम स्पष्ट है। यह बात अवश्य है कि इन आचार्यों ने अभिनेता के मूल पात्र से और प्रेक्षक के नाटक की दुनिया से पार्थक्य बनाए रखने पर बहुत जोर नहीं दिया, क्योंकि कलासर्जना और कलास्वाद की प्रक्रियाएँ इतनी जटिल और मिश्रित होती हैं कि उनमें पार्थक्य की अनुमिति ही सर्वोपरि नहीं मानी जा सकती। उनकी जटिल बनावट में पार्थक्य के साथ-साथ तादात्म्य का भी उतना ही योग रहता है। अभिनेता रचना के एक स्तर पर मूल पात्र की मनःस्थिति को उसके साथ एकाकार होकर जीता है, तो दूसरे उससे अलग होकर उसे अभिव्यक्त करता है। यही स्थिति दर्शक के साथ है। ब्रेख्त ने भी नाटक के प्रस्तुतीकरण के समय अभिनेता की ओर से तथा उसके अवलोकन में प्रेक्षक की ओर से तादात्म्य की संभावना और अनिवार्यता को नकारा नहीं है, अलबत्ता तादात्म्य की बात को बहुत जोर देकर नहीं कहता। इसका कारण भी स्पष्ट है। ब्रेख्त ने अरस्तू की हजारों वर्ष पुरानी जिस परम्परा के खिलाफ मोर्चा लिया था, उसमें तादात्म्य पर बल देने में अति ही कर दी गई थी। अभिनेता और प्रेक्षक दोनों से अपने विवेक और अपनी इयत्ता को तिलांजलि देकर नाटक की दुनिया से तदाकार होने की अपेक्षा की जाती थी। इस प्रवृत्ति का कड़ा विरोध करते हुए ब्रेख्त ने होरेस के आर्स पोएटिका का हवाला दिया है, जिसमें होरेस अभिनेता को सीख देता है कि यदि तुम दर्शक को हँसाना चाहते हो, तो खुद हँसने की ताब रखो यदि उसे रुलाना चाहते हो, तो पहले खुद अपने आपको आँसुओं में डुबा दो। सिसरो ने पोलस नामक रोमन अभिनेता का एक संस्मरण लिखा है जिसके अनुसार जब पोलस को अपने भाई की मृत्यु से व्यथित

इलेक्ट्रा का अभिनय करना था। ठीक उसी समय उसके अपने बेटे की मृत्यु हुई थी और वह अपने साथ मृतक पुत्र का अस्थिकलश मंच पर लेकर आया था तथा अपने पुत्र की मृत्यु के वास्तविक दुःख के कारण उसने इलेक्ट्रा के दुःख का प्रदर्शन करने के लिए अपने पुत्र के अस्थिकलश को इलेक्ट्रा का बताते हुए ऐसा सजीव अभिनय किया था कि दर्शक रोने लगे थे। इस पर टिप्पणी करते हुए ब्रेख्त ने कहा है-‘यह शुद्ध बर्बरता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।’ आचार्य भरत की दृष्टि से भी अभिनेता और प्रेक्षक के साथ इस ज्यादाती को बर्बरता ही कहा जा सकता है। भरत ने नाट्य को विनोदजनक और विश्रामजनक कहा है। वे भी प्रेक्षक को उस सम्मोहन भरे तनाव में से ले जाने के पक्ष में नहीं जिससे उसकी अपनी विवेकबुद्धि ही बिसर जाए।

ब्रेख्त ने रंगमंच की पुरानी परम्परा को तोड़ते हुए हमारे समय की आर्थिक और सामाजिक स्थितियों के संदर्भ में नए प्रयोग किए। उसने त्रासदी को कौमेडी और कौमेडी को त्रासदी बनाया, जहाँ अरस्तु का प्रेक्षक जार-जार आँसू बहाता था, वहाँ ब्रेख्त ने उसे हँसाया, जिस जगह पर वह विरूपता और घृणा से भर उठता था, वहाँ ब्रेख्त ने उसे गंभीर होकर सोचने के लिए मजबूर किया। सबसे बढ़कर ब्रेख्त ने अपने रंगमंच पर पार्थक्य-प्रभाव के द्वारा प्रेक्षक की आलोचना बुद्धि और विवेक के स्वातंत्र्य को प्रतिष्ठित किया। संस्कृत नाटकों के साथ भी भरत की परम्परा के तथा लोकमंच के कलाकारों ने इस तरह के प्रयोग किए। संस्कृत नाटक की शास्त्रीय परम्परा के रंगमंच-कुडियाट्टम में ठीक उस समय जब नायक दुःख और करुणा में डूबा विलाप करता हुआ कोई अत्यंत गंभीर संवाद बोलता है, विदूषक अपने समय की या अपनी घर-गृहस्थी की कोई हल्की-फुल्की बात उस पैरोडी में कहकर सारे वातावरण को बदल देता है। भारतीय लोकनाट्यों-तमाशा, भवाई, मांच, स्वांग आदि में भी यह प्रक्रिया अक्सर देखी जा सकती है। पर ब्रेख्त की तरह दोनों ही परंपराओं में शास्त्रीय तत्वों के साथ उलटफेर जीवन की गरिमा और गंभीरता का मखौल के लिए नहीं, उसे और गहराई में समझने के लिए है। ब्रेख्त ने अपने रंगमंच के लिए स्मोकर्स थियेटर (धूम्रपान करने वालों का नाट्य) इस संज्ञा का इस्तेमाल भी इसलिए नहीं किया गया था कि वह रंगमंच को मात्र मनोरंजन का हल्का-फुल्का साधन समझता था। स्मोकर्स थियेटर-यह नाम भी शेक्सपीयर के रंगमंच के खिलाफ प्रतिक्रिया में आया था, जहाँ के गुरु-गंभीर किन्तु उस माहौल में त्रासदी देखते समय दर्शक दीर्घा में बैठे किसी व्यक्ति को राहत पाने के लिए चुरट सुलगा लेना भी बम-विस्फोट करने के समान घातक अपराध माना जा सकता था।

ब्रेख्त के बारे में दो बातें ध्यान में रखने की हैं। एक तो ब्रेख्त यूरोप के रंगमंच का अंतिम सत्य नहीं है। वह विशेष सामाजिक, आर्थिक संदर्भों तथा तकनीकी विकास के दौर में परिस्थिति विशेष से जन्मे एक आंदोलन का प्रतिनिधित्व करता है। ब्रेख्त ने खुद भी स्वीकार किया है कि उसका मंच हर स्थिति के लिए परिपूर्ण नहीं है, वह एक दौर में उपजा है। दूसरे, ब्रेख्त ने जिन बातों को भारत या एशिया के मंच से उधार लिया था, उन्हीं बातों को हम ब्रेख्त से लें तो यह हमारी बीमारी मनोवृत्ति का ही द्योतक होगा। उन चीजों को हम अपनी परम्परा से सीधे लेकर अपने रंगमंच को अधिक बहुआयामी और संपन्न बना सकते हैं।

हिन्दी रंग-चिन्तन¹

डॉ० रमेशकुमारी खनेजा
रीडर, हिन्दी-विभाग
मुक्त शिक्षा विद्यालय
दिल्ली विश्वविद्यालय

सामान्य परिचय

आधुनिक युग में नाटक की मूल चेतना, रंगचेतना से सम्बद्ध है। नाटक निरा साहित्यिक वाग्विलास ही नहीं है अपितु अभिनय-गर्भित है। नाटक का परीक्षा भवन रंगशाला है। नाटक में कथानक, पात्र, संवाद, देशकालादि तत्त्वों की उचित नियोजना होने पर भी यदि वह अभिनय की दृष्टि से शिथिल है तो उसे नाट्यकोटि में नहीं रखा जा सकता। चूँकि, किसी भी साहित्य-स्रष्टा अथवा नाटककार में विचार तत्त्व की प्रधानता होती है। एक ओर साहित्य सिद्धान्तों का शास्त्रीय विवेचन उसकी कर्तव्य-सीमा के अन्तर्गत आता है तो दूसरी ओर यह भी सम्भव नहीं है कि नाट्य-रचना से पूर्व उसके अपने मस्तिष्क में कुछ ऐसे आदर्श न रहे जिनका पालन वह अपने नाटकों में न करना चाहे। कहने का अभिप्राय: यह है कि किसी भी नाटककार का स्वयं का नाट्य-चिन्तन भी उसकी रचनाओं के लिए पार्श्वभूमि का निर्माण करता है। रंगचेतना और रंग-चिन्तन एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। भले ही नाटककार नाट्ययांग विवेचन या स्वयं के नाट्य-चिन्तन की अपेक्षा उसके प्रयोग पक्ष की ओर अधिक सजग रहता है।

आपके पाठ्यक्रम में जिन नाट्यकारों एवं रंग-समीक्षकों का रंग-चिन्तन निर्धारित है। वे इस प्रकार हैं—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, जयशंकर प्रसाद, जगदीशचन्द्र माथुर, मोहन राकेश, लक्ष्मीनारायण लाल और नेमिचन्द्र जैन। इस पाठ में हम इन्हीं प्रमुख नाटककारों के रंग-चिन्तन पर विचार करेंगे।

(क) भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का रंग-चिन्तन

भारतेन्दु की प्रखर प्रतिभा-किरण हिन्दी के साहित्य-क्षितिज पर एक अद्भुत आलोक के साथ प्रस्फुटित हुई। रीतिकालीन अवसाद में डूबी निशा के अन्धकार में हिन्दी ऊँघ रही थी। ऐसे अवसर पर एक ऐसे प्रतिभा सम्पन्न युग-प्रवर्तक की आवश्यकता थी जो इस अंधकार में अपने प्रतिभा-प्रकाश से साहित्य को नवीन दिशा प्रदान कर सके। पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति के अन्धानुकरण से समाज अधःपतन की ओर उन्मुख हो रहा था, हिन्दी साहित्य जीवन से दूर पड़ रहा था। भारतेन्दु ने उसे जीवन के साथ मिलाया। उनके समवर्ती और परवर्ती लेखकों ने नाट्य-रचना करते समय भारतेन्दु के

¹ नोट: हिन्दी नाटककारों और रंग समीक्षक के रंगचिन्तन में प्रस्तुत सामग्री को ध्यान से पढ़ना चाहिए। इसका कारण यह है कि इस सामग्री के कुछ प्रमुख पक्षों का उपयोग आप अपने प्रश्नपत्र-4012 'प्रस्तुति प्रक्रिया का अध्ययन' में भी कर सकते हैं।

नाट्य-सिद्धान्त चिन्तन को व्यावहारिक रूप में ग्रहण किया। उनका 'नाटक' शीर्षक निबन्ध वस्तुतः हिन्दी में नाटक के सैद्धान्तिक विवेचन की दृष्टि से प्रथम मौलिक प्रयास है। यह निबन्ध 1883 में प्रकाश में आया। कुछ समीक्षकों ने भारतेन्दु के इस निबन्ध के आधार पर भावुकतावश उन्हें हिन्दी का भरत मुनि तक कह डाला है। (*हिन्दी नाटकों की शिल्पविधि* डॉ. गिरिजा सिंह पृ० 30)

इससे पहले हिन्दी का अपना कोई नाट्यशास्त्र अथवा सैद्धान्तिक ग्रन्थ दिशा बोधक के रूप में भारतेन्दु के समक्ष नहीं था। भारतेन्दु ने ही सर्वप्रथम 'नाटक' निबन्ध में हिन्दी नाटक के सिद्धान्तों को रूपायित किया। 'नाटक' निबन्ध के आधार स्रोत के रूप में भारतीय नाट्यशास्त्र, दशरूपक साहित्यदर्पण काव्यप्रकाश विल्सन हिन्दू थियेटर्स, लाइफ ऑफ दी एमिनेन्ट परसन्स, ड्रामेटिस्ट एण्ड नोवलिस्ट हिस्ट्री डिं इटालिक और आर्य दर्शन आदि ग्रन्थ रहे हैं। उस पुस्तक में भारतेन्दु ने नाटक की आत्मा, नाट्य प्रबोधन, रंगशिल्प आदि की विशेष रूप से तथा नाट्य स्वरूप, नाट्यवस्तु, नाटक के भेद आदि विषयों की सामान्य चर्चा की है।

भारतेन्दु के रंग-चिन्तन की प्रवृत्तियाँ

नाटक का स्वरूप-नाटक के सम्बन्ध में भारतेन्दु की अवधारणा है कि अभिनेतागण अभिनय के द्वारा जो कार्य-व्यापार प्रस्तुत करते हैं, उसी का नाम नाटक है। अपने 'नाटक' निबन्ध में नाटक शब्द की व्याख्या करते हुए उन्होंने लिखा है-“नाटक शब्द का अर्थ है नट लोगों की क्रिया।” नट कहते हैं विद्या के प्रभाव से अपने या किसी वस्तु के स्वरूप के फेर कर देने वाले को या स्वयं दृष्टिरोचन के फिरने को। नाटक में पात्रगण अपना स्वरूप धारण करते हैं या वेशविन्यास के पश्चात् रंगभूमि में स्वीकार्य कार्य साधन के हेतु फिरते हैं। भारतेन्दु का अभिप्राय यह है कि नाटक तथा अन्य साहित्य विधाओं का विभेदक धर्म अभिनय है। उक्त परिभाषा में दूसरी बात यह कही गई है कि नट अपने स्वरूप का तिरोभाव करके नाटक में वर्णित पात्र के रूप का स्वयं पर आरोप करके इसी के अनुसार चेष्टाएँ कर रहा है। वहाँ भारतेन्दु ने नाटक की परिभाषा संस्कृत आचार्यों के अनुरूप ही की है। दशरूपककार धनंजय ने रूप के आरोप के कारण नाट्य को रूपक माना है। (*रूपकं तत्समरोपात-हिन्दी दशरूपक* पृ. 4) विश्वनाथ ने भी इसी मत का समर्थन किया है। भारतेन्दु के अनुसार 'दृश्यकाव्य वह है जो कवि की वाणी को उसके हृदयगत आशय और हावभाव सहित प्रत्यक्ष दिखला दे। (नाटक पृ. 5)

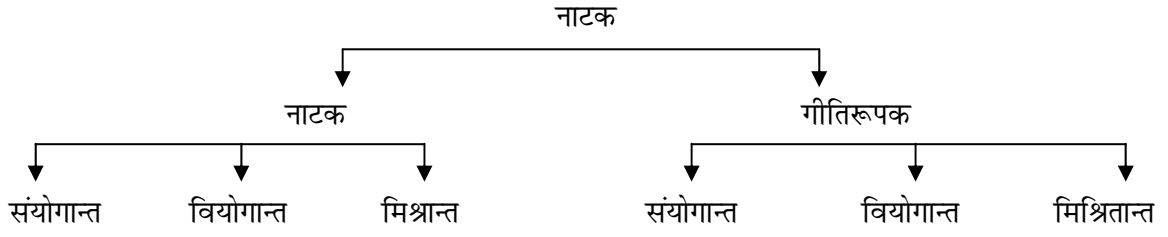
भारतेन्दु की दृश्यकाव्य सम्बन्धी व्याख्या सामान्य है फिर भी अभिनय और रंगमंच से नाटक को अभिन्न मानने के कारण अपने आप में सम्पूर्ण है। संस्कृत नाट्यशास्त्र में दृश्यकाव्य को रूपक की संज्ञा दी गई है! नाटक को रूपक का प्रमुख भेद माना गया है। परन्तु भारतेन्दु ने नाटक को रूपक का भेद मानते हुए भी उसे उसका पर्याय माना है। अतः हिन्दी में नाटक शब्द का जो अर्थविस्तार आधुनिक-युग में हुआ है, उसका वास्तविक श्रेय भारतेन्दु को ही है।

नाटक के भेद-भारतेन्दु ने नाटक के मुख्य तीन भेद मानते हुए लिखा है “नाटक शब्द की अर्थ-ग्राहिता यदि स्वस्थ खेल ही में की जाय तो हम इसके तीन भेद करेंगे काव्य मिश्र, शुद्ध कौतुक और भ्रष्ट।”

शुद्ध कौतुक के सम्बन्ध में उनका मन्तव्य है शुद्ध कौतुक यथा कठपुतली, व खिलौने आदि से सभा आदि को दिखलाना, गूंगे बहिरे का नाटक, बाजीगरी व घोड़े के तमाशे में संवाद, भूत प्रेतादि की नकल और सभ्यता की अन्यान्यदिल्लगियों को कहेंगे। (पृष्ठ 5) अतः जिस अभिनय या प्रदर्शन में कौतुक का अथवा चमत्कार का प्राधान्य होता है वह शुद्ध कौतुक के अन्तर्गत आता है। वह एक प्रकार का सस्ता मनोरंजन का साधन है। ‘भ्रष्ट’ नाटकों से भारतेन्दु का मत लोक नाटकों (भाँड यात्रा, लीला आदि) से है। जिनमें नाटकीय एवं काव्यमयता का अभाव रहता है। ‘भाँड, इन्द्र सभा, रास, यात्रा, लीला और झाँकी आदि। पारसियों के नाटक महाराष्ट्रों के खेल यद्यपि काव्य मिश्र है तथापि काव्यहीन होने के कारण वे ही भ्रष्ट समझे जाते हैं। (नाटक पृ. 6) काव्य मिश्र नाटकों को भारतेन्दु ने परिभाषित नहीं किया। फिर भी ऐसा लगता है कि इसे ही वे आदर्श नाटक मानते हैं। इसमें गद्य-पद्य दोनों का प्रयोग किया जाता है। काव्य मिश्र नाटकों को प्राचीन तथा नवीन भेदों में विभक्त भी किया है। प्राचीन नाटकों के अन्तर्गत उन्होंने परम्परागत दस नाट्य रूपक और अठारह उपरूपकों का उल्लेख किया है। नाटक के नवीन भेदों का उन्होंने पाश्चात्य नाट्य सिद्धान्तों के प्रभाव स्वरूप वर्णन करते हुए लिखा है- “आजकल योरोप के नाटकों की छाया पर जो नाटक लिखे जाते हैं और बंग देश में इस चाल के बहुत से नाटक बन भी चुके हैं। वह सब नवीन भेद में परिगणित हैं। प्राचीन की अपेक्षा नवीन की परम मुख्यता बारम्बार दृश्यों के बदलने में है और इसी हेतु एक-एक अंक में अनेक गर्भाकों की कल्पना की जाती है। क्योंकि इस समय में नाटक के लेखों के साथ विविध दृश्यों को दिखलाना भी आवश्यक समझा गया है। ये नवीन नाटक मुख्य दो भागों में बँटे हैं-एक नाटक दूसरा गीतिरूपक। जिसमें कथाभाग विशेष गीतिन्यून हो वह नाटक और जिसमें गीति विशेष हो वह गीतिरूपक।” (10-11, नाटक पृ०)। गीतिरूपक और नाटक का विभेदक तत्त्व भारतेन्दु के कथावस्तु ओर गीति को समझा है-शायद भारतेन्दु के समय इस नाट्य विधा की प्रचुर सामग्री का अभाव था। आज के युग में नाटक से गीति नाट्य का विभेदक तत्त्व भावावेग को माना गया है।

भारतेन्दु ने नाटक के अन्त को देखते हुए उन्हें तीन कोटियों में रखा है—

- (1) संयोगान्त-कथा संयोग पर समाप्त हो।
- (2) वियोगान्त-कथा का अन्त नायक या नायिका के दुःख पर हो।
- (3) मिश्र-कुछ लोगों का तो प्राण वियोग हो कुछ सुख पाये।



दुखान्त नाटक का हिन्दी में प्रादुर्भाव पश्चिम के प्रभाव स्वरूप हुआ। संस्कृत आचार्यों ने आनन्द को प्रमुखता दी है हिन्दी साहित्य में वियोगान्त नाटक की अवतारणा श्रेय भारतेन्दु को है। भारतेन्दु के नीलदेवी (मिश्रित), भारत दुर्दशा (दुखान्त) अन्य कृतियाँ सुखान्त हैं।

नाटक की आत्मा—भारतेन्दु ने नाटक में रस को सर्वाधिक महत्व प्रदान किया है। इसके अभाव में उत्तम से उत्तम भाव भी सहृदय को प्रभावित नहीं कर सकता। विषय विषमोपधम् नाटक में भारतेन्दु ने लिखा है “कविवाणी धीर रस सौ रहे भारत की नित हो जाय”। भारतेन्दु की रस विषयक अवधारणा संस्कृत आचार्यों के साथ मिलती है फिर भी इन्होंने कतिपय मौलिक सूत्रों की अवधारणा भी की है। भरतमुनि ने नाटक में शान्तरस को मान्यता न देकर आठ रसों का उल्लेख किया है।

शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानकाः।

वीभत्सादुभुत संज्ञो चैत्यष्टो नाट्ये रसा स्मृताः॥

धनंजय ने भी भरतमुनि के मत का समर्थन किया है। शेष सभी आचार्यों मम्मट, हेमचन्द्र, विश्वनाथ, जगन्नाथ आदि ने शान्तरस के स्वतन्त्र अस्तित्व को माना है। भारतेन्दु ने भी शान्त (रस) को स्वतंत्र रस माना है। इसके अतिरिक्त भक्ति व हास्य, प्रेम व माधुर्य, सख्य, वात्सल्य, प्रमोद व आनन्द रसों को भी मान्यता दी है। भले ही भारतेन्दु ने इन नवीन रसों की उद्भावना की है। किन्तु उनकी इस मान्यता में अतिव्याप्ति दोष मिलता है।

नाटक का प्रयोजन (उद्देश्य)—मम्मट आदि संस्कृत आचार्यों ने आनन्द को ‘सकल प्रयोजन मौलिभूत’ कहा है। भारतेन्दु ने इसके अतिरिक्त लोकसंस्कार, भक्ति देश वत्सलता आदि को नाटक का उद्देश्य माना है। उन्होंने बाह्य प्रयोजनों (यश, धन आदि) को मान्यता नहीं दी। नाटक का मुख्य उद्देश्य है सामाजिकों को रसमग्न करना। उनका कथन है “इन नवीन नाटकों की रचना के मुख्य उद्देश्य हैं (1) शृंगार, (2) हास्य, (3) कौतुक (4) समाज सुधार और देश वत्सलता, समाज संस्कारक नाटकों में देश की कुरीतियों का मुख्य कर्तव्य कर्म है। यथा शिक्षा की उन्नति, विवाह सम्बन्धी कुरीति निवारण, धर्म सम्बन्धी अन्यान्य विषयों में संशोधन आदि किसी प्राचीन कथा भाग का इस बुद्धि से संगठन कि देश की उससे कुछ उन्नति हो इसी प्रकार के अन्तर्गत है।” (नाटक पृ. 11-12) अतः भारतेन्दु के इन पाँच उद्देश्यों को आनन्द और समाज संस्कार के अन्तर्गत ही लिया जा सकता है। नाट्य प्रयोजन के विषय में भारतेन्दु का मत युगानुसार राष्ट्रीय सामाजिक चेतना से प्रेरित है।

नाटक के तत्त्व—कथावस्तु—कथावस्तु नाटक का आधारभूत तत्त्व है जिस पर भारतेन्दु ने अत्यन्त मनोयोगपूर्वक विवेचन किया है। उन्होंने कथावस्तु को दो भागों में विभक्त किया है। नाटकीय इतिहास अथवा कोई विवरण विशेष का नाम वस्तु है। वस्तु दो प्रकार की है यथा अधिकारिक वस्तु और प्रासंगिक वस्तु (नाटक पृ. 24) संस्कृत आचार्यों ने ख्यात, उत्पाद्य तथा मिश्र तीन प्रकार की कथावस्तु मानी है। किन्तु भारतेन्दु ने इन्हें अप्रयोजनीय माना है और इसे समसामयिक विचारधारा और जीवन मूल्यों के साथ जोड़ा है। परम्परा का अंधानुकरण उनकी प्रवृत्ति नहीं है। नाटक की कथावस्तु के अंग के रूप में उसकी प्रस्तावनाएँ, अंक विभाजन और दृश्य विभाजन, को आवश्यक माना है।

अंक विभाजन—कथावस्तु के अंकगत विभाजन तथा दृश्यों में उनके विभाजन के विस्तार के सम्बन्ध में लिखा है—नाटक का अवयव वृहद होने से एक रात्रि में अभिनय कार्य समाहित नहीं होगा। इस हेतु दस अंक से अधिक नाटक निर्माण-विधि और युक्ति के विरुद्ध हैं। प्रथम अंक का अवयव जितना होगा द्वितीय का अवयव तदपेक्षा न्यून होना चाहिए। ऐसे ही क्रम से अंक का अवयव छोटा करके ग्रन्थ समाप्त करना चाहिए (नाटक पृ. 21) भारतेन्दु ने लिखित रूप में भले ही दस अंकों का नियम निर्धारित किया हो। किन्तु व्यावहारिक रूप में उनके नाटक तीन-चार अंकों से बड़े नहीं है। आधुनिक युग में भी अंकों में बड़े-छोटे होने पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाया गया। नाटक तीन या उससे कम अंकों में भी लिखा जा सकता है।

सूच्य कथावस्तु—नाटक में जिन विषयों का प्रदर्शन निषिद्ध है। उन्हें भारतेन्दु ने विरोधक संज्ञा दी है। इस सम्बन्ध में उनका मत है नाटक में जिन विषयों का वर्णन निषिद्ध है। उनका नाम विरोधक है। उदाहरण—इराह्वान अतिविस्तृत युद्ध राज्यदेशादि का विस्तार, प्रबलवात्य, दन्तच्छेद नखच्छेद अंशादि वृहत्काय जन्तु का अतिवेग से गमन नौका परिचालन और नदी में संतरण प्रभृति अघनीय विषय। (नाटक-27) संस्कृत नाट्याचार्यों का भी यही मत है। उन्होंने वस्तुओं के दो भेद माने हैं—सूच्य और दृश्य। सूच्य कथावस्तु को अर्थोपक्षेपक कहा गया है। भारतेन्दु ने भी इसी मत का समर्थन करते हुए लिखा है—“नाटक में विष्कम्भक रखने का तात्पर्य है, कि नाटकीय वस्तु रचना में जो अंश अत्यधिक नीरस आडम्बरात्मक हैं उनके भिन्नवेशित होने से सामाजिक लोगों को विरक्ति और अरुचि हो जाती है। नाटक प्रणेतागण इन घटनाओं को पात्र विशेष के मुख से संक्षेप में विनिर्गीत कराते हैं।” आधुनिक युग में नाटकों में छोटे छोटे सम्वादों के प्रयोग के कारण सूच्य वस्तु का महत्त्व और भी बढ़ गया है भले ही विष्कम्भक का प्रयोग परम्परागत रूप में नहीं किया जाता। पात्रों के कथोपकथन द्वारा ही कुछ घटनाओं की सूचना दे दी जाती है।

प्रस्तावना—भारतेन्दु ने प्रस्तावना के पाँच भेदों का उल्लेख किया है—(1) कथोद्धात (2) उद्घात्मक (3) प्रयोगातिशय (4) प्रवर्तक (5) अवगलित। इनकी व्याख्या करते हुए उन्होंने लिखा है, “जहाँ सूत्रधार की बात सुनकर उसके साथ वाक्य के अर्थ का मार्ग ग्रहण करके पात्र प्रविष्ट करते हैं उसे कथोद्धात कहते हैं।” हरिश्चन्द्र ने प्रेमयोगिनी में इसका प्रयोग किया है। “सूत्रधार प्रभृति की बात सुनकर अन्य प्रकार अर्थ प्रतिपादनपूर्वक जहाँ पात्र प्रवेश होता है उसे उद्घात्मक प्रस्तावना कहते हैं।

एक प्रयोग करते-करते धुनाक्षर न्याय से दूसरे ही प्रकार का प्रयोग कौशल में प्रयुक्त और उसी प्रयोग का आश्रय करके पात्र प्रवेश करे तो उसको प्रयोगातिशय प्रस्तावना कहते हैं।” प्रस्तावना का प्रयोग आधुनिक नाटककारों ने भी किया है। अब इसे सूचना उपक्रम आदि नाम दिये गये हैं।

पात्र, चरित्र-चित्रण—भारतेन्दु ने नायक-नायिका एवं विदूषक आदि प्रमुख पात्रों के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त किये हैं। नायक के सम्बन्ध में उनका विचार है—“विनय शीलता, बन्दान्यता, दक्षता, क्षिप्रता, शौर्य, प्रिय भाषिता. लोक स्वतंत्रता-वाग्मिता प्रभृति गुण समूह सम्पन्न युवा को नायक होने का अधिकार है। (नाटक पृ० 2) नायिका में भी यथासम्भव यही गुण होने चाहिए। (पृ० 27) नायक और नायिका के विषय में भारतेन्दु ने किसी नवीन सिद्धान्त की उद्भावना नहीं की। यहाँ वे संस्कृत नाट्यशास्त्र का आधार ग्रहण करते प्रतीत होते हैं। किन्तु व्यवहार में उन्होंने नायक-नायिका विषयक इन नियमों को न अपना कर अपनी स्वच्छन्द वृत्ति का परिचय दिया है।

नाटक में विदूषक की अवस्थिति उन्होंने अनिवार्य नहीं मानी है। इस सम्बन्ध में उनका मत है—“बहुत से नाटक लेखकों का सिद्धान्त है कि अथ इति की भाँति विदूषक की नाटक में सहज आवश्यकता है। किन्तु यह एक भ्रम मात्र है। वीर व करुण-रस प्रधान नाटक में विदूषक का प्रयोजन नहीं रहता। शृंगार पुष्टि के लिए विदूषक का प्रयोजन होता है। सो भी सभी स्थलों में नहीं, क्योंकि किसी-किसी अवसर पर विदूषक के बदले विट, चेट, पीठमर्द, नर्मसखा सभी का प्रवेश विशेष स्वाभाविक होता है। संयोग शृंगार में इसकी स्थिति विशेष स्वाभाविक होती है। (पृ० 35)।

भारतेन्दु का विदूषक सम्बन्धी यह दृष्टिकोण संतुलित है। वास्तव में विदूषक का कार्य है प्रेक्षकों का विनोद करना। शृंगार रस और हास्य रस का तो परस्पर विरोध नहीं है किन्तु वियोग शृंगार में इसकी उपस्थिति रसोत्कर्ष से बाधित भी हो सकती है।

कथोपकथन—नाटक का सबसे उपयोगी तत्त्व कथोपकथन है। नाट्य शरीर या कथावस्तु इसी के द्वारा आगे बढ़ती है। भारतीय आचार्यों ने कथोपकथन को अभिनय की संज्ञा दी है। भारतेन्दु ने इस विषय में संक्षिप्त किन्तु सुलझे हुए विचार व्यक्त किये हैं। (अ) ग्रन्थ-कर्ता ऐसे चातुरी और नैपुण्य से पात्रगण की बातचीत करें कि जिस पात्र का जो स्वभाव हो वैसी ही उसकी बातचीत भी विरचित हो। पात्र की बात सुनकर उसके स्वभाव का परिचय ही नाटक का प्रधान अंग है। (नाटक पृ० 2) (आ) वेश और वाणी दोनों ही पात्र की योग्यतानुसार होनी चाहिए वस्तुतः कथोपकथन पात्र के चरित्र का उद्घाटक तत्त्व है। यदि उसमें यह गुण नहीं है तो उसकी कोई सार्थकता नहीं है। कथोपकथन का अन्य आवश्यक गुण भारतेन्दु ने संक्षिप्तता और उसकी अर्थवत्ता को माना है “नाटक में वाक प्रपंच एक प्रधान दोष है। नाटक में वाचालता की अपेक्षा मितभाषिता के साथ वाग्मिता का सम्यक आदर होता है। थोड़ी-सी बात में अधिक भाव की अवतारणा ही नाटक जीवन का महौषध है। (पृ० 29), भारतेन्दु के अनुसार संवाद व्यवहार कुशल, भाव व्यञ्जक, संघर्षमय और चुस्त होने चाहिए।

भाषा—भाषा ही भावाभिव्यक्ति का मूलाधार है। नाटककार अपने अन्तः स्फुरित भावों को मार्मिक, रमणीय, सरस और प्रभावोत्पादक ढंग से व्यक्त करना चाहता है। भाषा ही भावों का आभूषण है जिसके अभाव में रस का परिपाक सुन्दर ढंग से नहीं हो सकता। भाषा के सम्बन्ध में भारतेन्दु की प्रसिद्ध धारणा है--

**जामै रस कछु होत है पढ़त ताहि सब कोय
बात अनूटी चाहिए भाषा कोऊ होय।**

यहाँ भारतेन्दु भाषा की सरलता एवं सर्वग्राह्यता पर बल देते प्रतीत होते हैं। क्योंकि नाटक का प्रदर्शन रंगमंच पर होता है इसलिए इसमें क्लिष्ट भाषा के स्थान पर सरल भाषा का प्रयोग होना चाहिए। नाट्य भाषा के सम्बन्ध में भारतेन्दु की अन्य धारणा यह है कि भाषा पात्रानुकूल होनी चाहिए—“यदि भृत्य पात्र प्रवेश करे तो जैसे बहुमूल्य परिच्छेद उसके हेतु अस्वाभाविक है जैसे ही पंडितों से संभाषण की भाँति विशेष संस्कृत गर्भित भाषा भी उसके लिए अस्वाभाविक है” (पृ० 34) पात्रानुकूल भाषा से उनका यह तात्पर्य नहीं कि बंगाली बंगाली भाषा बोले और गुजराती गुजराती भाषा। भारतेन्दु अपने पात्रों से ऐसी हिन्दी भाषा का प्रयोग कराने के पक्ष में हैं जिससे उन पात्रों के वर्ग एवं समाज की भाषा का हल्का सा स्पर्श हो।

संस्कृत नाटकों में गद्य के साथ पद्य का भी प्रयोग होता है। भारतेन्दु ने भी पद्य का प्रयोग किया है किन्तु पद्य के सीमातिक्रमण को दोष माना है। “अंक में अधिक पद्य का समावेश दूषणावह होता है। (पृ० 26) सिद्धान्त रूप में भारतेन्दु का यह मत उचित है। किन्तु उन्होंने स्वयं नीलदेवी, चन्द्रावली आदि नाटकों में गीतों का प्रयोग गद्य से अधिक किया है।

देशकाल—नाटक में जिस देश और काल का विषय चुना गया हो उसका चित्रण नाटककार को सावधानी से करना चाहिए। भारतेन्दु ने देश एवं काल की अन्विति की सीमित चर्चा अपने नाट्य-चिन्तन के अन्तर्गत करते हुए लिखा है “अति दीर्घकाल सम्पाद्य घटना सकल नाटक में अल्पकाल के मध्य में वर्णन करना यद्यपि दूषणावह नहीं है तथापि नाटक के देशगत और कालगत वैलक्षण्य का अतिशय वर्णन अनुचित है।” (पृ. 28) देश काल की एकता के सम्बन्ध में उनका यह वक्तव्य विवेक सम्मत है। क्योंकि उन्होंने देश एवं कालगत एक्य के नियम के कठोरतापूर्वक पालन की बात नहीं की है। भले ही पाश्चात्य नाट्यशास्त्रियों ने संकलन त्रय को एक नाट्य रुढ़ि के रूप में मान्यता दी थी। किन्तु जैसे-जैसे रंगमंच का विकास होता गया बहुत सी बातें प्रेक्षक की कल्पना शक्ति पर छोड़ दी जाने लगी। फिर भी देशकाल को नाटक के लिए उपयोगी तत्त्व माना जाने लगा।

रंगशिल्प—रंगविधान एवं अभिनय की दृष्टियों से भारतेन्दु का अपना निजी महत्त्व है। भारतेन्दु एक ऐसे रंगमंच को जन्म देना चाहते थे जो जन आन्दोलन के लिए उपयोगी हो सके। इनकी रंगयोजना में सरल एवं सुलभ उपकरणों से काम लिया जाता था। क्योंकि शौकिया तौर पर नाटक खेलने वाले रंगकर्मी ही इस रंगमंच पर नाटक प्रस्तुत करते थे। इसीलिए हम देखते हैं कि भारतेन्दु के नाटकों में रंगविधान

तथा अभिनय के जो रूप मिलते हैं वे सरल और सुकर होते हैं। अव्यावसायिक रंग मंडलियों द्वारा उनकी आसानी से व्यवस्था की जा सकती है। पारसी रंगमंच जैसी अलंकृत और आडम्बरी रंगसज्जा की यहाँ जरूरत नहीं पड़ती।

भारतेन्दु ने अभिनय की परिभाषा संस्कृत नाट्यशास्त्र के अनुरूप करते हुए लिखा है—“काल कृत अवस्था विशेष के अनुकरण का नाम अभिनय है। भारतेन्दु ने अभिनय के विभिन्न भेद आंगिक, वाचिक, सात्विक एवं आहार्य बताये हैं। जो कि भरतमुनि के विचारों का ही शब्दानुवाद हैं।

भारतेन्दु ने ‘अभिनय विषयक’ अन्यान्य स्फुट नियम शीर्षक के अन्तर्गत अभिनय के कुछ अन्य नियमों की अभिव्यक्ति की है। यथा

1. **पात्रों के स्वर**—शोक, हर्ष, हास, क्रोधादि के समय में पात्रों के स्वर को भी घटाना उचित है। जैसे स्वाभाविक स्वर बदलते हैं, वैसे ही कृत्रिम भी बदलें। आप ही आप ऐसे स्वर में कहना चाहिए कि बोध हो कि धीरे-धीरे कहता है किन्तु तब भी इतना उच्च हो कि श्रोतागण निष्कण्टक सुन लें।

2. **पात्रों की दृष्टि**—यद्यपि परस्पर वार्ता करने में पात्रों की दृष्टि परस्पर रहेगी। किन्तु बहुत से विषय पात्रों को दर्शकों की ओर देखकर कहने पड़ेंगे। इस अवसर पर अभिनय चातुर्य यह है कि यद्यपि पात्र दर्शकों की ओर देखे किन्तु यह बोध न हो कि वह बातें वह दर्शकों से कहते हैं।

3. **पात्रों के भाव**—नृत्य की भाँति रंगस्थल पर पात्रों के हस्तक भाव व मुख नेत्र भ्रू के सूक्ष्मतम भाव दिखलाने की आवश्यकता नहीं। स्वर भाव और यथायोग्य स्थान पर अंगआंगी भाव ही दिखलाने चाहिए।

4. **पात्रों का फिरना**—यह एक साधारण नियम भी माननीय है कि फिरने व जाने के समय पात्रगण अपनी पीठ दर्शकों को बहुत कम दिखलावे। किन्तु इस नियम पालन का इतना आग्रह न करे कि जहाँ पीठ दिखलाने की आवश्यकता हो वहाँ भी न दिखलावे। (नाटक पृ. 37 से 38)

इन अभिनय निर्देशों से यह ज्ञात होता है कि भारतेन्दु को रंगमंच एवं अभिनय का व्यावहारिक ज्ञान भी था। उनके द्वारा दिये गये ये निर्देश इस युग की रंगकल्पना तथा नाट्य चिन्तन को प्रौढ़ता प्रदान करते हैं।

शिल्प सम्बन्धी कुछ उपकरणों में पथ्यगृह, जवनिका तथा दृश्यबन्ध आदि पर भी भारतेन्दु ने अपने विचार व्यक्त किये हैं। नेपथ्यगृह की अनेक विध उपयोगिका की मांग करते हुए उन्होंने लिखा है—

“अलंकारयिता इसी स्थान में पात्रों को वेश भूषणादि से सजाते हैं। जब रंगभूमि में आकाशवाणी दैवी वाणी अथवा और कोई मानुषी वाणी का प्रयोजन होता है तो वह नेपथ्य में से ही गाई या कही जाती है” (नाटक पृ० 23)।

इस कथन से यह व्यंजित है कि रंगस्थल के पश्चात् भाग में जो एक गुप्त स्थान है उसी का नाम नेपथ्य है। नेपथ्य की परिभाषा भारतेन्दु जी ने संस्कृत नाट्यशास्त्र के अनुसार ही की है।

‘जवनिका’ शब्द का स्वरूप निर्धारण करते हुए भारतेन्दु ने लिखा है—“कार्य अनुबोध से समस्त रंगस्थल को आवरण करने के लिए नाट्यशाला के सम्मुख जो चित्र प्रक्षिप्त रहता है उसका नाम जवनिका या बाह्यपटी है। जब रंगशाला में चित्रपट परिवर्तन का प्रयोजन होता है इस समय यह जवनिका गिरा दी जाती है। (नाटक पृ० 150) जनविका शब्द का अर्थ उन्होंने एक ऐसे मुख्य पर्दे से लिया है जिसके द्वारा दृश्य परिवर्तन किया जाता है। पर्दों पर विभिन्न चित्र अंकित करके ही उस युग में विभिन्न दृश्यों का निर्माण किया जाता था। भारतेन्दु ने इसी दृश्यपट के लिए अन्तःपटी, चित्रपटी तथा दृश्य आदि शब्दों का प्रयोग किया है।” किसी चित्रपट द्वारा नदी, पर्वत, वन या उपवन आदि की प्रतिछाया दिखलाने को प्रतिकृति कहते हैं। इसी का नामन्तर अतः पटी या चित्रपटी व दृश्य का स्थान है। ये चित्रपट नाटक में अत्यन्त प्रयोजनीय वस्तु हैं और इनके बिना खेल अत्यन्त नीरस होता है। (पृ० 15)।

चित्रपटी से भारतेन्दु का अभीष्ट नाटक की पृष्ठभूमि से है जिससे अभिनय में वांछित प्रभाव की सृष्टि की जाती है। भारतेन्दु के समय तक आज जैसे रंगमंच की सुविधायें नहीं थीं। इसलिए शायद भारतेन्दु ने इस पर अधिक जोर दिया होगा।

नाट्य प्रदर्शन में संगीत को भी आवश्यक तत्त्व मानते हुए भारतेन्दु ने लिखा है। “जब तक एक विषय समाप्त होगा जवनिका पार करके पात्रगण अन्य विषय दिखलाने को प्रस्तुत होंगे। तब तक पटक्षेप के साथ ही नेपथ्य में चर्चरिका आवश्यक है। क्योंकि बिना उसके अभिनय शुष्क हो जाता है। जहाँ बहुत स्वर मिल कर कोई बाजा बजे या गान हो उसको चर्चरिका कहते हैं। इसमें नाटक की कथा के अनुरूप गीतों या रागों का बजना योग्य है।”

समाहार रूप में हम यह कह सकते हैं कि भारतेन्दु का नाट्यचिन्तन हिन्दी नाट्यकला को सर्वथा एक नए रूप में ढालने वाला था। उन्होंने संस्कृत नाट्यशास्त्र, लोकनाट्यों तथा योरोपीय नाटक से भिन्न-भिन्न तत्त्व ग्रहण करते हुए उनके समन्वय द्वारा हिन्दी नाटक को एक नये चाल में ढाला उनके नाट्यचिन्तन में हमें परम्परा का निर्वाह एवं मौलिकता का समावेश मिलता है। नाटक को अनावश्यक रूप से जटिल बनाने वाले संस्कृत नाट्य शास्त्र के पूर्वरंग नान्दी, आशी, नाट्यालंकार विष्कम्भक आदि बहुत से विधिविधानों को छोड़ दिया है। अपनी सीमाओं में उन्होंने नाट्य चिन्तन का जो प्रयास किया है, वह मौलिक है।

(ख) जयशंकर प्रसाद : रंग-चिन्तन

नाट्यचिन्तन के क्षेत्र में ‘प्रसाद’ ने मानव ज्ञान के भण्डार को समृद्ध करने का यत्किंचित प्रयास किया है। मानव-ज्ञान के विकास का केन्द्र-बिन्दु है-मानव का सुख, स्वातंत्र्य व समृद्धि से सम्बन्धित चिन्तन। इस बिन्दु पर प्रसाद जी की देन बहुमूल्य है। ‘प्रसाद’ एक सजग विचारशील दार्शनिक हैं। उनके अनेक विचार प्रगतिशील, ताजा नवीन मौलिक हैं। उनके विचारों का स्तर और गुण मौलिक चिन्तन की

स्फुरणा है। वे स्थूल अर्थ में किसी पार्टी के प्रचारक नहीं, अतः स्वतन्त्र चिन्तन का परिणाम होने से सहज प्रेरणा-प्रसूत होने से वे अधिक व्यापक और ग्राह्य हैं। 'प्रसाद के चिन्तन में अनेक बिन्दु ऐसे भी हैं। जिनसे विद्वान सहज ही सहमत नहीं हो पाते अनेक विचारों ने तो आक्षेप-आक्रोश को उभारा है। उनके नाट्य साहित्य में भी बुद्धिवाद, नारी, रंगमंच, भाषा, रस आदि से सम्बन्धित अनेक विचार बिन्दु बहुत विवादास्पद हैं। फिर भी उनका चिन्तन प्रगतिशील है। वे शुद्धिबुद्धि एवं विवेक से मानव एवं समाज के आनन्द व कल्याण का सही मार्ग दिखा सकने में समर्थ हुए हैं। सामयिक एवं शाश्वत दोनों ही स्तरों पर उनकी चिन्तना जाग्रत रही है। उनकी मनीषा सूक्ष्म एवं पैनी है।

प्रसाद की नाट्य चेतना का उदय 20वीं सदी के दूसरे दशक में हुआ। इस समय आधुनिक हिन्दी-नाट्य रचनाओं पर मुख्यतः बंगला-नाटकों का प्रभाव पड़ चुका था और हिन्दी रंगमंच पर पारसी कम्पनियों की जड़ जम चुकी थी। किन्तु अभी तक मौलिक नाटकों का कोई सिद्धान्त स्थिर नहीं हो पाया था। वस्तुतः उस युग के नाटककारों पर अंग्रेजी के नाट्य-सिद्धान्तों का अधिक प्रभाव था। भारतीय साहित्य में बंगला-साहित्य ने ही सबसे पहले अंग्रेजी सिद्धान्तों को अपनाया और इसी बंगला साहित्य के द्वारा उसका प्रभाव हिन्दी साहित्य पर पड़ा। उस समय बंगला भाषा में नाट्य-रचना का प्रचलन पर्याप्त था। अतः ज्योतिरीन्द्रनाथ ठाकुर, गिरीशचन्द्र घोष, द्विजेन्द्रलाल राय, क्षीरोद प्रसाद विद्याविनोद और सर्वोपरि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के सामूहिक एवं व्यापक प्रभाव से प्रसाद भी अछूते न रहे। वास्तव में पश्चिमी नाट्य चेतना का प्रभाव बंगला विशेषतः द्विजेन्द्रलाल राय के माध्यम से हिन्दी नाट्य-जगत में आया। प्रसाद जी को नवीन नाट्य-दृष्टि भले ही पश्चिमी नाट्य-सिद्धान्तों से मिली है। किन्तु अपनी रुचि और संस्कृति के कारण प्रसाद सबसे अधिक भारतीय हैं। इसीलिए उनका नाट्य चिन्तन एक रूप से पूर्व और पश्चिम के नाट्य-सिद्धान्तों की सम्मेलन भूमि है जिसको उन्होंने अपनी प्रतिभा के बल पर बहुत कुछ नया रूप दे डाला है।

प्रसाद के नाट्य-चिन्तन का अनुशीलन करने से पूर्व यह जान लेना आवश्यक है कि हिन्दी नाट्य-साहित्य के जन्मदाता भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ही थे। उन्होंने नाट्य-रचना के सम्बन्ध में अपने निबन्ध में लिखा है। "नाट्य-कला-कौशल दिखाने को देश, काल और पात्रगण के प्रति विशेष रूप से दृष्टि रखनी उचित है। पूर्वकाल में लोकातीत असम्भव कार्य की अवतारणा सभ्यगण को जैसी हृदयग्राहिणी होती थी वर्तमान काल में नहीं होती। अब नाटककादि दृश्यकाव्य में अस्वाभाविक सामग्री-परितोषिक काव्य हृदय-सभ्य-मण्डली को नितान्त अरुचिकर है। इसलिए स्वाभाविक रचना ही इस काल के सभ्यगण की हृदयग्राहिणी है। इसमें अब लौकिक विषय का आश्रय करके नाटककादि दृष्टि-काव्य प्रणयन करना उचित नहीं है। अब नाटक में कहीं 'आशी' प्रभृति नाट्यालंकार कहीं 'प्रकरी' कहीं 'विलोचन' कहीं 'संकेत' -कहीं 'पंचसंधि' आदि ऐसे विषयों की कोई आवश्यकता नहीं रही। संस्कृत-नाटक की भाँति हिन्दी नाटक में इनका अनुसंधान करना या किसी नाटकांग में इनको यत्नपूर्वक भरकर हिन्दी नाटक लिखना व्यर्थ है।" प्रसाद का नाट्य चिन्तन भी भारतेन्दु के नाट्य-चिन्तन से साम्य रखता है और उन्होंने अपने 'रंगमंच' शीर्षक में लिखा है-"युग की मिथ्या धारणा से अभिभूत नवीनतम की खोज में इस निज्म का भूत वास्तविकता का भ्रम दिखाता है। समय का दीर्घ अतिक्रमण करके जैसा पश्चिम ने नाट्यकला में

अपनी सब वस्तुओं को ध्यान दिया है, वैसा क्रम विकास कैसे किया जा सकता है, यदि हम पश्चिम के आज को ही सब जगह खोजते रहेंगे। और यह भी विचारणीय है कि क्या हम लोगों के सोचने का, निरीक्षण का दृष्टिकोण सत्य और वास्तविक है? अनुकरण में फैशन की तरह बदलते रहना साहित्य में अपनी ठोस वस्तु का निर्माण नहीं करता। वर्तमान और प्रतिक्षण का वर्तमान सदैव दूषित रहता है। भविष्य के सुन्दर निर्माण के लिए, कलाओं का अकेले प्रतिनिधित्व करने वाले नाटक के लिए तो ऐसी 'जल्दबाजी' बहुत ही अवांछनीय है। यह रस की भावना से अस्पष्ट व्यक्ति-वैचित्र्य की यथार्थवादिता का ही आकर्षण है जो नाटक के सम्बन्ध में विचार करने वालों को उद्विग्न कर रहा है। प्रगतिशील होना जरूरी है, किन्तु अधिक उछलने में पद खलन का भी भय है। साहित्य में युग की प्रेरणा भी आदरणीय है, किन्तु इतना अलम् नहीं। जब हम समझ लेते हैं कि कल को प्रगतिशील बनाए रखने के लिए हमको वर्तमान सभ्यता का जो सर्वोत्तम है अनुकरण करना चाहिए, तो हमारा दृष्टिकोण भ्रमपूर्ण हो जाता है। अतीत और वर्तमान को देखकर ही भविष्य का निर्माण होता है। इसलिए हमको साहित्य में एकांगी लक्ष्य नहीं रखना चाहिए। पश्चिम ने अपना सब कुछ छोड़कर नए को नहीं पाया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रसाद का नाट्य-चिन्तन प्राचीन और अर्वाचीन नाट्य-चिन्तन का सम्मिश्रण है। भारतेन्दु ने जहाँ बाह्य रूप पर ही अपना अधिक ध्यान दिया, वहाँ प्रसाद ने उसके आन्तरिक रूप पर भी। अतः उन्होंने एक ओर तो प्राचीनता का ध्यान रखा, दूसरी ओर अंग्रेजी और बंगला साहित्य से प्रभावित होकर एक नवीन नाट्य-शैली की खोज करते हुए अपने नाटकों में स्वच्छन्दतावादी नाट्यकला का सूत्रपात किया।

अपने साहित्यिक जीवन के पैंतीस वर्ष की सीमित अवधि में प्रसाद ने तेरह नाटक लिखे। इनमें से सज्जन, कल्याणी-परिणय, करुणालय व प्रायश्चित एकांकी ही कहे जायेंगे तथा एक घूंट और कामना भावरूपक हैं। शेष नाटक राज्यश्री, विशाख, अजातशत्रु, जनमेजय का नागयज्ञ, स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी ऐतिहासिक हैं।

नाटकों के तंत्र में प्रसाद ने क्रान्तिकारी परिवर्तन किये हैं। अपनी नाट्ययात्रा में उन्होंने कई निरर्थक भारतीय नाट्य-रूढ़ियों का बहिष्कार किया है, जैसे ही नान्दी, प्रस्तावना, भरतवाक्य आदि और कुछ पश्चिमी उपयोगी-परम्पराओं को अपना लिया है जैसे अंक-दृश्य-विभाजन, युद्ध, मृत्यु जैसे वर्जित दृश्यों का प्रदर्शन आदि। उन्होंने भारतीय नाट्यशास्त्र का ढाँचा ज्यों-का-त्यों उठाकर उसका अंधपालन नहीं किया, प्रत्युत युगरुचियों के अनुसार उसका सम्मार्जन भी किया है। नाट्यवस्तु के विभाजन में प्रसाद ने कार्यावस्थाओं, अर्थ-प्रकृतियों और संधियों को ध्यान में रखते हुए भारतीय नाट्यपरम्परा का भी अनुसरण नहीं किया, बल्कि पाश्चात्य प्रणाली में उनका विकास भी पाँच भागों में किया जा सकता है। यद्यपि डॉ. जगन्नाथप्रसाद शर्मा ने उनके नाटकों की शास्त्रीय विवेचना करते हुए उनमें कार्यावस्थाएँ, अर्थ प्रकृतियाँ और संधियाँ ढूँढ निकाली हैं तो भी उनको प्रसाद के नाटकों की समीक्षा का एकमात्र आधार नहीं बनाया जा सकता। प्रसाद ने शास्त्र का आश्रय अवश्य लिया है, किन्तु शास्त्रीयता के अनुशासन से वे सदा मुक्त रहे हैं। उनके नाटक कथानक की दृष्टि से जटिल हैं। इसलिए इनमें कार्यावस्थाओं का सही समावेश नहीं हो पाया है। उनके नाटकों में संस्कृत परम्परा के समान गोपुच्छ सदृश संगठन दिखाई नहीं देता। अजातशत्रु, स्कन्दगुप्त तथा चन्द्रगुप्त नाटकों में नाट्य-संधियाँ स्पष्ट रूप में दिखाई नहीं देतीं। 'स्कन्दगुप्त'

को कुछ लोगों ने शास्त्रीय नाटक अवश्य माना है, किन्तु दूसरी ओर यह नाटक पाश्चात्य कार्यावरणों की दृष्टि से भी खरा उतरता है। 'राज्यश्री' में भी नाट्य-संधियाँ दिखाई नहीं देतीं। इसलिए प्रसाद के नाटकों की विषय वस्तु को न तो शुद्ध भारतीय नाट्य परम्परा के मानदण्ड से परखा जा सकता है और न पाश्चात्य मानदण्डों से। उन्होंने नाट्य-प्रयोग के लिए भारतीय नाट्यशास्त्र की वे सब सीमाएँ तोड़ दी हैं जो वर्तमान परिस्थितियों में अपना महत्त्व खो चुकी थीं और कई उन पाश्चात्य पद्धतियों को ग्रहण कर लिया जो हिन्दी नाटक के उद्धार के लिए उपयोगी थीं।

प्रसाद रसवादी कलाकार थे। उन्होंने "रस को नाटक का प्राण तत्व मानकर भारतीय रस-पद्धति का पोषण किया है।" 'नाटकों में रस का प्रयोग' शीर्षक निबन्ध में उन्होंने लिखा है—“जैसे विश्व के बीच से विश्वात्मा की अभिव्यक्ति होती है उसी तरह नाटकों में रस की।” (हंस दिसम्बर 1936) संस्कृत आचार्यों ने नाटक के द्वारा रससृष्टि पर पर्याप्त बल दिया है। प्रसाद जी की दृढ़ मान्यता है कि रस को नाटक से असंलग्न नहीं किया जा सकता। उनका मत है—“फिर भी रस अपने स्वरूप में नाट्यों की अपनी वस्तु थी! और उसी में आत्मा की मूल अनुभूतिपूर्णता को प्राप्त हुई थी। इसलिए स्वीकार किया गया—‘काव्येषु नाटकं रम्यं।’ (काव्य और कला अन्य निबन्ध)।

प्रसाद ने भारतीय रससिद्धान्त को काव्यशास्त्र की दिशा में एक महान देन माना है। उनके विचार से भारतीय रसवाद साधारणीकरण के अधिक निकट है किन्तु पाश्चात्य व्यक्ति-वैचित्र्यवाद में साधारणीकरण के लिए अधिक अवकाश नहीं है। साधारण काव्य की प्रक्रिया के द्वारा नाट्यकार एवं सामाजिक की अनुभूति में अभिन्नता स्थापित होती है। हृदय में वासना-रूप से स्थिति मनोवृत्तियों के द्वारा क्रिया उत्पन्न होती है तथा क्रिया से चरित्र का निर्माण होता है। रंगमंच पर उस चरित्र के प्रत्यक्ष प्रेक्षण के द्वारा सहृदयों में तादात्म्य की स्थिति उत्पन्न होती है। फलतः इनके (प्रेक्षकों के) हृदय में आनन्द अथवा रस की अभिव्यक्ति होती है। किन्तु पश्चिम के व्यक्तिवाद में ऐसा नहीं है। उनका विचार है—“भारतीय रसवाद में मिलन, अभेद सुख की सृष्टि मुख्य है। इसमें लोकमंगल की कल्पना प्रच्छन्न रूप में अन्तर्निहित है सामाजिक स्थूल रूप से नहीं दार्शनिक सूक्ष्मता के आधार पर वासना से ही क्रिया सम्पन्न होती है और क्रिया के संकलन से व्यक्ति का चरित्र बनता है। चरित्र में महत्ता का आरोप हो जाने पर, व्यक्तिवाद का वैचित्र्य उन महती लीलाओं से विद्रोह करती है। यह है पश्चिम की कला का गुणनफल रसवाद में वासनात्मकता या स्थितं मनोवृत्तियाँ, जिनके द्वारा चरित्र की सृष्टि होती है, साधारणीकरण के द्वारा आनन्दमय बना दी जाती हैं इसलिए वह वासना का संशोधन न करके उसका साधारणीकरण करता है। इस समीकरण के द्वारा जिस अभिन्नता की रससृष्टि वह करता है, उसमें व्यक्ति की विभिन्नता, विशिष्टता हट जाती है और साथ ही सब तरह की भावनाओं को एक धरातल पर हम एक मानवीय वस्तु कह सकते हैं। सब प्रकार के भाव एक दूसरे के पूरक बनकर, चरित्र और वैचित्र्य के आधार पर पूरक बनकर रस की सृष्टि करते हैं। रसवाद की यही पूर्णता है।”

प्रसाद जी की मान्यता के अनुसार नाटककार, नाट्याभिनेता एवं सहृदय की अनुभूतियों का साधारणीकरण होता है तथा इन तीनों भावों में अभिन्नता की स्थापना होती है। इस प्रसंग में उनकी उक्ति इस प्रकार है—“अब यह सहज में अनुमान किया जा सकता है कि रस-विवेचना में संवित का

साधारणीकरण त्रिवृत है। कवि, नट और सामाजिक में वह अभेद भाव से एकरस हो जाता है।” संस्कृत तथा हिन्दी आचार्यों ने प्रसाद के इस मत के विषय में अनेक तर्क-वितर्क उपस्थित किये हैं। किन्तु प्रसाद ने एतद्विषयक विवाद में न पडकर सहजभाव से स्वविचारों को प्रकाशित किया है। इस प्रकार अन्य क्षेत्रों की तरह रस-चिन्तन के क्षेत्र में भी प्रसाद की देन मौलिक है।

प्रसाद के नाट्यसाहित्य में इतिहास और कल्पना सम्बन्धी चिन्तन हमें दो स्रोतों से प्राप्त होता है।-(1) प्रत्यक्ष कथन से और (2) नाटकों में इतिहास तत्व के समावेश के स्वरूप से। प्रथम रूप में ‘प्रसाद’ की धारणा हमें ‘अजातशत्रु’ के कथा-प्रसंग तथा ‘विशाख’ (प्रथम संस्करण) की भूमिका से प्राप्त होती है।

इतिहास की घटनाओं की प्रायः पुनरावृत्ति होते देखी जाती है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि उसमें कोई नई घटना होती ही नहीं। कोई असाधारण नाई घटना भी भविष्य में फिर होने की आशा रखती है। मानव समाज की कल्पना का भण्डार अक्षय है, क्योंकि वह इच्छा-शक्ति का विकास है। इन कल्पनाओं का, इच्छाओं का मूल सूत्र बहुत ही सूक्ष्म और अपरिस्पष्ट होता है। जब वह इच्छा-प्राप्ति किसी व्यक्ति या जाति में केन्द्रीभूत होकर अपना सफल या विकसित रूप धारण करती है, तभी इतिहास की सृष्टि होती है। विश्व में जब तक कल्पना इयत्ता को नहीं प्राप्त होती, तब तक वह रूप परिवर्तन करती हुई पुनरावृत्ति करती ही जाती है। समाज की अभिलाषा अनन्त स्रोतवाली है। पूर्व कल्पना के पूर्ण होते-होते एक नई कल्पना उनका विरोध करने लगती है, और पूर्व कल्पना कुछ काल तक ठहरकर, फिर होने के लिए अलग क्षेत्र प्रस्तुत करती है। इधर इतिहास का नवीन अध्याय खुलने लगता है। मानव समाज के इतिहास का इसी प्रकार संकलन होता है।” (अजातशत्रु कथा प्रसंग, पृ० 7)

“इतिहास का अनुशीलन किसी जाति को अपना आदर्श संगठित करने के लिए अत्यन्त लाभदायक होता हैक्योंकि हमारी गिरी दशा को उठाने के लिए हमारी जलवायु के अनुकूल जो हमारी जातीय सभ्यता है, उससे बढ़कर उपयुक्त और कोई भी आदर्श अनुकूल होगा कि नहीं इसमें हमें पूर्ण संदेह है। मेरी इच्छा भारतीय इतिहास के अप्रकाशित अंश में से उन प्रकांड घटनाओं का दिग्दर्शन कराने की है जिन्होंने हमारी वर्तमान स्थिति को बनाने का बहुत कुछ प्रयत्न किया है।” (विशाख की भूमिका)

‘कल्पना-सुख’ शीर्षक कविता में प्रसाद ने कल्पना के स्वरूप को उसके प्रशस्ति के माध्यम से पूर्णतया व्यक्त कर दिया है। जो संक्षेप में इस प्रकार है “कल्पना ‘सुखदान’ है। वह मनुजों (भावुकों, सहृदयों) का जीवन प्राण है। वह व्योम के समान विशद है, मनुष्य उसका पार नहीं पा सकते। वह प्रत्यक्ष, भावी और भूत प्रकृति कल्पना के तार को ही तानकर शुचि संसार रूपी पट बुनती है। वह विश्व का विश्राम है। कल्पना इसके हृदय को आनन्द का दान करती रहती है। नहीं तो यह संसार विषम है, यहाँ शान्ति की बयार कहाँ।” स्कन्दगुप्त नाटक में भी इन्हीं भावों को व्यक्त करते हुए प्रसाद ने लिखा है-“कोमल कल्पना वाणी की वीणा में झंकार उत्पन्न करेगी।”

प्रसाद का चिन्तन व्यापक और सुसंश्लिष्ट चिन्तन है जो अपने में मानव जीवन और ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों को सुन्दर अनुपात में समेटे हुए हैं। उनके इतिहास और कल्पना तत्व के चिन्तन पर भी यह बात लागू होती है। उन्होंने इतिहास को अतीत की स्थूल भौतिक जीवन की घटनाओं का एक आलेख मात्र न कहकर उसे आत्मा की अभिव्यक्ति कहा है।

चरित्र-चित्रण के विषय में प्रसाद के निम्नलिखित विचार-सूत्र अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं—

“कथावस्तु भिन्न प्रकार से उपस्थित करने की प्रेरणा बलवती हो गई है। कुछ लोग प्राचीन रस सिद्धान्त से अधिक महत्त्व देने लगे हैं—चरित्र-चित्रण पर। उनमें भी अग्रसर हुआ है दूसरा जो मनुष्यों के विभिन्न मानसिक आकारों के प्रति कुतूहलपूर्ण है, अथवा व्यक्ति वैचित्र्य पर विश्वास रखने वाला है। ये लोग अपनी समझी हुई कुछ विचित्रता मात्र को स्वाभाविक चित्रण कहते हैं, क्योंकि पहला चरित्र-चित्रण तो आदर्शवाद से बहुत घनिष्ठ हो गया है। चरित्र का समर्थक है, किन्तु व्यक्ति-वैचित्र्य वाले अपने को यथार्थवादियों में ही रखना चाहते हैं” “यह विचारणीय है कि चरित्र-चित्रण को प्रधानता देने वाले ये दोनों पक्ष रस से कहाँ तक सम्बद्ध होते हैं। इन दोनों पक्षों का रस से सीधा सम्बन्ध तो दिखाई नहीं देता है, क्योंकि इसमें वर्तमान युग की मानवीय मान्यताएँ अधिक प्रभाव डाल चुकी हैं, जिसमें व्यक्ति अपने को विरुद्ध स्थिति में पाता है। फिर उसे साधारणतः अभेद वाली कल्पना रस का साधारणीकरण कैसे हृदयंगम हो?” (1) “आत्मा की अनुभूति व्यक्ति और उसके चरित्र-वैचित्र्य को लेकर ही अपनी सृष्टि करती है। भारतीय दृष्टिकोण रस के लिए चरित्र और व्यक्ति-वैचित्र्य को रस का साधन मानता रहा, साध्य नहीं।” (2) “रस में चमत्कार ले आने के लिए इनके बीच का माध्यम ही मानता आया सामाजिक इतिहास में, साहित्य दृष्टि के द्वारा, मानवीय वासनाओं को संशोधित करने वाला पश्चिम का सिद्धान्त व्यापारों में चरित्र निर्माण का पक्षपाती है। यदि मनुष्य कुछ भी अपने को कला के द्वारा सम्भाल पाया, तो साहित्य ने संशोधन का नाम कर लिया। दया और सहानुभूति उत्पन्न कर देना ही उसका ध्येय रहा है। वर्तमान साहित्यिक प्रेरणा जिसमें व्यक्ति वैचित्र्य और यथार्थवाद मुख्य है—मूल में संशोधनात्मक ही है... भारतीय रसवाद में मिलन अभेद सुख की सृष्टि ही मुख्य है। रस में लोक मंगल की कल्पना, प्रछन्न रूप से अन्तर्निहित है। सामाजिक स्थूल रूप से नहीं किन्तु दार्शनिक सूक्ष्मता के आधार पर वासना से ही क्रिया सम्पन्न होती है और क्रिया के संकलन से व्यक्ति का चरित्र बनता है। चरित्र में महत्ता का आरोप हो जाने व व्यक्तिवाद का वैचित्र्य उन महती लीलाओं से विद्रोह करता है। यह है पश्चिम की कला का गुणनफल। रसवाद में वासनात्मक स्थित मनोवृत्तियाँ जिनके द्वारा चरित्र की सृष्टि होती है, साधारणीकरण के द्वारा आनन्दमय बना दी जाती है। इसलिए यह वासना का संशोधन न करके उनका साधारणीकरण करता है।” (3) “इस एकीकरण के द्वारा जिस अभिन्नता की रस सृष्टि वह करता है उसमें व्यक्ति की विभिन्नता, विशिष्टता हट जाती है और साथ ही यह सब तरह की भावनाओं को एक धरातल पर हम एक मानवीय वस्तु कह सकते हैं। सब प्रकार के भाव एक दूसरे के पूरक बनकर, चरित्र और वैचित्र्य के आधार पर रूपक बनाकर रस की सृष्टि करते हैं। रसवाद की यही पूर्णता है।” (4) “यह रस की भावना से अस्पष्ट व्यक्ति वैचित्र्य की यथार्थवादिता ही का आकर्षण है, जो नाटक के सम्बन्ध में विचार करने वालों को उद्विग्न कर रहा है।” (5) आलोचकों का कहना है कि “वर्तमान युग

की रंगमंच की प्रवृत्ति के अनुसार भाषा सरल और वास्तविक भी हो। वास्तविकता का प्रच्छन्न अर्थ इब्सेनिज़म के आधार पर कुछ और भी है। वे छिपकर कहते हैं, हमको अपराधियों से घृणा नहीं सहानुभूति रखनी चाहिए। इसका उपयोग चरित्र-चित्रण में व्यक्तिवैचित्र्य के समर्थन में भी किया जाता है।” (6) “रंगमंच पर ऐसे वस्तुविन्यास समस्या बनकर रह जायेंगे। प्रभाव का सम्बद्ध स्पष्टीकरण भाषा की क्लिष्टता से भी भयानक है।” (काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ. 42, 83, 84, 95, 96, 116, 117, 119)

उपर्युक्त विचार सूत्रों के द्वारा हम प्रसाद के चरित्र-चित्रण और व्यक्ति-वैचित्र्य सम्बन्धी दृष्टिकोण को भली-भाँति समझ सकते हैं। प्रसाद ने रस को ही सर्वोपरि माना है, चरित्र-चित्रण व व्यक्ति वैचित्र्य को नहीं। उनके चिन्तन का मुख्य आधार है—रस ही जीवन में सर्वोपरि वस्तु है। इसे भुला देने से हम साहित्य के मूल लक्ष्य से दूर भटक जायेंगे। जहाँ तक चरित्र-सृष्टि में मनोवैज्ञानिक प्रयोग का सवाल है, प्रसाद ने मनोविज्ञान को स्वस्थ और उचित सीमा तक बराबर महत्त्व दिया है। उन्होंने पश्चिम के चरित्रकौशल को उदारतापूर्वक स्वीकार कर रस को और पुष्ट करने का प्रयास किया है। उन्होंने रस और चरित्र-चित्रण दोनों को स्वीकार करके अपनी नई भूमिका तैयार की है। अतः कोरा परम्परापालन जैसा कोई अभियोग उन पर नहीं लगाया जा सकता।

भाषा एवं संवाद—नाटक में पात्रों के बीच भावों और विचारों का आदान-प्रदान प्रायः भाषा के द्वारा होता है। भाषा के माध्यम से पात्रों के बीच इस भाव-विचार-विनिमय को संवाद कहते हैं। प्रसाद जी ने भाव भंगिमा तथा संवाद दोनों को नाटक का उपयोगी उपकरण माना है। उनके अनुसार नाटकीय कथोपकथन की सार्थकता दो कारणों से है—कथोपकथन नाटक के कथा तन्तुओं को संगठित करता है तथा उसके द्वारा शिष्टाचार में वृद्धि होती है। अपने इस मन्तव्य को प्रसाद ने इन शब्दों में व्यक्त किया है— “कोई भाषा अपने विनय और शील तथा सदिच्छा की अभिव्यक्ति के लिए गौरव कर सकती है। और उस शिष्टाचार का प्रथम सोपान भावभंगी और कथोपकथन है, जिससे नाटक का संगठन होता है। भाषा में शिष्टाचार का प्रचार करने में नाटक के कथोपकथन बहुत कुछ हाथ बँटाते हैं।” (तेरहवाँ हिन्दी साहित्य-सम्मेलन, कानपुर, कार्यविवरण, दूसरा भाग 1923)। अतः संवाद और अभिनय नाटक की कथा को विकसित करने के प्रमुख साधन हैं। नाटकीय कथोपकथन की भाषा सामान्य स्तर की न होकर उच्चस्तरीय होती है। संवादों से संबंधित प्रसाद जी के विचार सर्वांग-निरूपक न होते हुए भी उनकी मौलिक चिन्तन दृष्टि अनुस्यूत है।

स्वगत-कथन का सिद्धान्ततः तो प्रसाद ने विरोध किया है। किन्तु अपनी रचनाओं में इसका इतना अधिक प्रयोग किया है कि वह दोष की सीमा पर पहुँच गया है। ‘विशाख’ नाटक में ‘महापिंगल’ नामक पात्र की उक्ति से विदित होता है कि वे सिद्धान्ततः इसके पक्ष में नहीं थे—‘जैसे नाटक के पात्र स्वगत जो कहते हैं वह दर्शक समाज व रंगमंच सुन लेता है’ पर पास खड़ा हुआ दूसरा पात्र नहीं सुन सकता, उसको भरत बाबा की शपथ है, उसकी तरह राजा की बुद्धि देश भर का न्याय करती है पर राजा को न्याय नहीं सिखा सकती। इस कथन से स्पष्ट है कि प्रसाद ने जनान्तिक संवाद शैली (aside) का निषेध

किया है। उनके सभी नाटकों में एकान्त भाषण का प्रचुर प्रयोग हुआ है। किन्तु अन्य पात्रों की उपस्थिति में स्वगत का प्रयोग कम हुआ है। पाश्चात्य विद्वानों ने स्वगत कथन को रंगमंच की दृष्टि से कृत्रिम मानकर प्राचीन नाटकों की इस पद्धति का विरोध किया है। आज का दर्शक और नाटककार इस तथ्य रूढ़ि की उपयोगिता के बावजूद इसे स्वीकार नहीं कर पाता। डॉ. सिद्धनाथ कुमार का मत है—“प्रत्येक युग में कुछ ऐसी नाट्य रूढ़ियाँ होती हैं, जिन्हें नाटककार और दर्शक दोनों ही स्वीकार करते हैं। ये नाट्य-रूढ़ियाँ-एक प्रकार से दर्शकों और नाटककारों के बीच समझौते हैं। प्राचीन संस्कृत नाटकों में स्वगत कथन और आकाशभाषित कथन होते थे। वे नाटककारों को अस्वाभाविक लगते थे न दर्शकों को। दोनों ने उसे स्वीकार कर लिया था। आज वह समझौता भंग हो गया है।” डॉ. दशरथ ओझा भी इसी मत के समर्थक लगते हैं “संस्कृत नाटकों की यह जनातिक शैली आज नितान्त असंगत मानी जाती है। सफल आधुनिक नाटककार इसका प्रयोग करना अनुचित समझता है।” कुछ आलोचक स्वगत का प्रयोग अव्यावहारिक नहीं मानते। डॉ. वीरेन्द्रकुमार शुक्ल का वक्तव्य है—“स्वगत भाषण नाटकीय घटना प्रवाह के विकास का पूर्व परिचय देता है, स्वगत-कथन नाटकीय घटनाओं का सांकेतिक निर्देश है जो भावी घटना चक्र की रूपरेखा बताता है। इस उद्देश्य से संवादों में स्वगत चित्रण को अपनाया जाता है। पर स्मरण रहे स्वगत केवल संकेत मात्र ही रहे, उसके आकार की अधिकता संवादों की शिथिलता की द्योतक है।”

स्वगत भाषण के सम्बन्ध में आचार्यों एवं नाटककारों के चिन्तन में पर्याप्त मतभेद है। प्रसाद भी इसके सम्बन्ध में किसी निर्दिष्ट निष्कर्ष पर नहीं पहुँचे थे।

नाटक के रचना-शिल्प के सम्बन्ध में प्रसाद ने विशेष रूप से कुछ नहीं कहा तथापि नाटकान्तर्गत प्रयुक्त भाषा के सम्बन्ध में उनकी स्थापनाएँ मालिक और महत्त्वपूर्ण हैं। प्रसाद का भाषा विषय चिन्तन सतही न होकर अत्यन्त गहन व मूलवर्ती है। भाषा विषयक सामयिक रुचि विशेष को ही आधार बनाकर उनके भाषा सामर्थ्य को नहीं आंकना चाहिए। क्योंकि नाटक की भाषा का एक विशेष स्वरूप व स्तर होता है, फिर आत्मा की गहराइयों से बोलने वाले की भाषा में एक अतिरिक्त दीप्ति व उष्मा होती है। प्रसाद की नाटकीय भाषाशैली सर्वदा विवादास्पद रही है और पक्ष-विपक्ष में अलग-अलग मत व्यक्त किये जाते हैं। स्वयं प्रसाद का मत है कि “भिन्न-भिन्न देश और वर्ग वालों से उनके देश और वर्ग के अनुसार भाषा का प्रयोग कराने से नाटक को भाषाओं को अजायबघर बनाना पड़ता है जो कहीं अधिक अप्राकृतिक हो जाती है और सामाजिकों के लिए भी इतनी भाषाओं से परिचय रखना असम्भव है। इसके अतिरिक्त इस विषय की अधिक आवश्यकता भी नहीं दिखाई पड़ती है। न जाने कितने विदेशियों को हम अपनी ही तरह हिन्दी बोलते-समझते पाते हैं। जहाँ भावुकता और कल्पना के बल पर इतने बड़े अभिनय को नकल और अभिनय न समझ कर सच्ची घटना मानते हैं और उसके साथ हँसते-रोते सुख-दुःख अनुभव करते हैं, वहाँ ऐसी बात यथार्थ है अथवा अयथार्थ इसके विचार का अवसर ही कहाँ रह जाता है। जब हम सिल्यूकस और कार्नेलिया को अपने सम्मुख खड़ा देखते हैं तब वे यथार्थ मालूम पड़ते हैं और जब वे परिष्कृत भाषा का प्रयोग करने लगते हैं तब यथार्थ हो जाते हैं यह भी कोई तर्क है। अतएव भाषा विविधता के लिए आग्रह न करना ही हितकर है। स्वरूप भिन्नत्व केवल वेश-भूषा से

ही व्यक्त कर देना चाहिए।” इसी प्रकार अपने ‘रंगमंच’ शीर्षक निबन्ध में भी उन्होंने कहा है, “मैं तो कहूँगा कि सरलता और क्लिष्टता पात्रों के भावों और विचारों के अनुसार भाषा का प्रयोग नाटकों में होना चाहिए, किन्तु इसके लिए भाषा का एकतन्त्रता नष्ट करके कई तरह की खिचड़ी भाषाओं का प्रयोग हिन्दी नाटकों के लिए ठीक नहीं। पात्रों की संस्कृति के अनुसार उनके भावों में और विचारों में तारतम्य होना भाषाओं के परिवर्तन से अधिक उपयुक्त होगा। देश काल के अनुसार भी सांस्कृतिक दृष्टि से भाषा में पूर्ण अभिव्यक्ति होनी चाहिए।” प्रसाद की मान्यता है कि भाषा ही नाटकगत भावों के संप्रेषण का एकमात्र साधन नहीं है। भावाभिनय को भाषा की तुलना में अधिक महत्त्व देते हुए उन्होंने कहा है- “भाषा की सरलता की पुकार भी कुछ ऐसी है। ऐसे दर्शकों और सामाजिक का अभाव नहीं, किन्तु प्रचुरता है जो पारसी स्टेज पर गाई गई गजलों के शब्दार्थों से अपरिचित रहने पर तीन बार तालियाँ पीटते हैं। क्या हम नहीं देखते कि बिना भाषा के अबोल-चित्रपटों के अभिनय में भाव सहज ही समझ में आते हैं और कथकलि के भावाभिनय भी शब्दों की व्याख्या ही हैं? अभिनय तो सुरुचिपूर्ण शब्दों को समझाने का काम रंगमंच से अच्छी तरह करता है।” (काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ. 76)

प्रसाद के उपयुक्त वक्तव्यों से यह स्पष्ट है कि भाषा की सरलता की दुहाई व्यर्थ है। क्योंकि सहृदय केवल भाषा के माध्यम से भावों को हृदयंगमन नहीं करते। प्रसाद के विचार से भाषा की सरलता अथवा क्लिष्टता से नाटक के कथन की संप्रेषणीयता में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती, भाषा भावाभिव्यक्ति का साधन है और भावाभिनय उसका सहायक अंग है, किन्तु पात्रानुकूल भाषा की अपेक्षा भावानुकूल भाषा का प्रयोग उन्हें स्वीकार्य है।

प्रसाद ने संस्कृत नाटकों में व्यवहृत ‘प्राकृत’ भाषा को कृत्रिम एवं अस्वाभाविक मानकर हिन्दी नाटकों में इस प्रकार की प्रवृत्ति का स्पष्ट विरोध किया है। संस्कृत नाटकों में सीतादि उच्च वंश जात-नारियों के द्वारा प्राकृत का प्रयोग करके उनके प्रति अन्याय किया गया है। “मध्यकालीन भारत में जिस प्राकृत का संस्कृत से सम्मेलन रंगमंच पर कराया गया था, बहुत कुछ परिमार्जित और कृत्रिम-सी थी। सीतादि भी संस्कृत बोलने में असमर्थ समझी जाती थी। वर्तमान युग की भाषा-सम्बन्धी प्रेरणा भी कुछ-कुछ वैसी ही है।” प्रसाद ने संस्कृत नाटककारों तथा इनके अनुकरण पर भारतेन्दुकालीन नाट्यकारों ने जन भाषाओं के प्रयोग के प्रति भी असहमति व्यक्त की है।

प्रसाद ने पात्रानुकूल भाषा के प्रयोग को भी अव्यावहारिक मानकर उसका विरोध किया है। उनका मत है-“एक मत यह भी है कि भाषा स्वाभाविकता के अनुसार पात्रों की अपनी होनी चाहिए और इस तरह देहाती पात्रों से उनकी अपनी भाषा का प्रयोग कराया जाता है।... आज यदि कोई मुगलकालीन नाटक में लखनवी उर्दू मुगलों से बुलवाता है, तो वह भी स्वाभाविक या वास्तविक नहीं है। फिर राजपूतों की राजस्थानी भाषा भी आनी चाहिए। यदि अन्य असभ्य पात्र हैं तो उनकी जंगली भाषा भी रहनी चाहिए और इतने पर भी क्या वह नाटक हिन्दी का ही रह जायेगा? यह विपत्ति कदाचित् हिन्दी नाटकों के लिए ही है। अन्य किसी भाषा के नाटक में ऐसा बंधन नहीं है कि विभिन्न भाषा-भाषी पात्र पृथक-पृथक भाषा का प्रयोग करें, अतएव हिन्दी में भी ऐसा कठोर नियम नहीं होना चाहिए। नाटककार

और दर्शक विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं के ज्ञाता नहीं हो सकते। व्यावहारिक दृष्टि से नाटकों के लिए ऐसा प्रयोग विशेष उपयोगी सिद्ध नहीं हो सकता।”

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि प्रसाद के हृदय में पारसी नाटकों में प्रयुक्त भाषा के प्रति बहुत आक्रोश था। उन्होंने अपने नाटकों के लिए ऐसे प्रबुद्ध एवं शिक्षित दर्शक वर्ग की माँग की है जो उनके नाटकों की उच्चस्तरीय भाषा को उसकी संपूर्ण अर्थवत्ता के साथ समझ सके। अतएव प्रसाद का भाषा-संबंधी यह आदर्श उनके मौलिक नाट्य-चिन्तन का प्रमाण है।

किसी भी नाटककार की रंग परिकल्पना का अध्ययन एक ओर नाटककार के चिन्तन तथा जीवन-दृष्टि और दूसरी ओर युग की प्रचलित रंग-पद्धतियों के परिप्रेक्ष्य में ही सम्भव है। प्रसाद एक ऐसे नाटककार है जो अपने नाट्य साहित्य के माध्यम से सांस्कृतिक मूल्यों के प्रति आस्था तथा राष्ट्रीय भावनाओं के प्रति प्रेरणा उत्पन्न करना चाहते हैं। रोमांटिक और आदर्शवादी होने के कारण उनकी जीवन-दृष्टि सरल, भावप्रवण तथा अतिरंजनापूर्ण रही है। इसलिए उनकी रंगपरिकल्पना स्वच्छन्दतावादी अर्थात् सांकेतिक एवं प्रतीकात्मक रही है न कि यथार्थवादी। प्रसाद के उदय के साथ भारत में रंगमंच के स्वरूप की दो शाखाएँ विकसित हुईं, पहली, प्रस्तुतीकरण में कला एवं सुरुचि तथा दूसरी सस्ता मनोरंजन तथा भोंडी प्रस्तुति। बंगला नाटक में प्रथम परम्परा का उत्तरोत्तर विकास हुआ। दूसरी शाखा पारसी थिएटर की है जिसमें चमत्कार, सस्ता मनोरंजन तथा दूषित वातावरण है। इन दोनों का प्रसाद की रंगचेतना पर गहरा प्रभाव पड़ा। उन दिनों पारसी थिएटर लोकप्रिय हो रहा था और वह मनोरंजन के नाम पर जनता को भोंडा प्रस्तुतीकरण तथा दूषित वातावरण दे रहा था। प्रसाद इस प्रवाह को रोकना चाहते थे। उन्होंने द्विजेन्द्रलाल राय की नाट्य-संरचना और रंगपरिकल्पना से अनुप्रेरित होकर भावातिरेक एवं अतिरंजना का आश्रय लिया। इतिहास के प्रति युगानुरूप दृष्टि कार्य कर रही है। इस प्रकार निरंतर सांस्कृतिक एवं कलात्मक हास से उत्तेजित होकर प्रसाद ने रंगमंच की तुलना में नाटक को ऊँचा दर्जा दिया।

प्रसाद का मन्तव्य है कि रंगमंच को नाटक का अनुसरण करना चाहिए न कि नाटक को रंगमंच का। इस सम्बन्ध में उनका मत है—“रंगमंच की बाध्य-बाधकता का जब हम विचार करते हैं, तो उसके इतिहास से यह प्रकट होता है कि काव्यों के अनुसार प्राचीन रंगमंच विकसित हुए और रंगमंचों की नियमानुकूलता मानने के लिए काव्य बाधित नहीं हुए। अर्थात् रंगमंचों को काव्य के अनुसार अपना विचार करना पड़ा और प्रत्येक काल में माना जायेगा कि काव्यों के अथवा नाटकों के लिए ही रंगमंच होते हैं। काव्यों की सुविधा जुटाना रंगमंच का काम है। क्योंकि रसानुभूति के अनन्त प्रकार नियमबद्ध उपायों से नहीं प्रदर्शित किए जा सकते और रंगमंच ने सुविधानुसार काव्यों के अनुकूल समय-समय पर अपना परिवर्तन किया है।” (काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ० 75) इस से ज्ञात होता है कि प्राचीन रंगमंच ने तत्कालीन नाटकों की आवश्यकताओं के अनुसार विभिन्न आकार ग्रहण किए थे, हिन्दी रंगमंच में भी उसी परम्परा का निर्वाह होना चाहिए।

प्रसाद की रंगमंच-विषयक रथापना का एक ऐतिहासिक सम्बन्ध है और उसी के परिप्रेक्ष्य में उसका मूल्यांकन करना चाहिए। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, सन् 1920-30 के आसपास हिन्दी जगत् पर

पारसी थिएटर का खूब बोलबाला रहा था। प्रसाद इस स्थिति से बहुत अशान्त थे। अपने नाटकों की रचना उन्होंने उस रंगमंच के लिए नहीं की थी। इसके विपरीत अपने नाटकों के सफल मंचन के लिए वे निर्देशक, अभिनेता और दर्शकों से भी कुछ अपेक्षाएँ रखते थे। उन्होंने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहा है—“मेरी रचनाएँ तुलसीदास शैली या आगा हश्र की व्यावसायिक रचनाओं के साथ नहीं नापी-तोली जानी चाहिए। मैंने उन कम्पनियों के लिए नाटक नहीं लिखे हैं जो चार चलते अभिनेताओं को एकत्र कर कुछ पैसा जुटाकर, चार पर्दे मँगनी माँग लेते हैं और दुअन्नी, अठन्नी के टिकट पर इक्केवाले, खोमचे वाले और दुकानदारों को बटोर कर जगह-जगह प्रदर्शन करती फिरती हैं। ‘उत्तररामचरित’, ‘शकुन्तला’ और ‘मुद्राराक्षस’ नाटक कभी न ऐसे अभिनेताओं द्वारा अभिनीत हो सकते हैं और न जनसाधारण में रसोद्रेक के कारण बन सकते हैं। उनकी काव्यप्रधान शैली कुछ विशेषता चाहती है। यदि परिष्कृत बुद्धि के अभिनेता हों, सुरुचि-सम्पन्न सामाजिक हों और पर्याप्त द्रव्य काम में लाया जाए तो ये नाटक अभीष्ट प्रभाव उत्पन्न कर सकते हैं।” इस कथन से स्पष्ट होता है कि प्रसाद नाटक को सस्ते मनोरंजन का साधन न मानकर एक सार्थक कलात्मक अभिव्यक्ति मानते थे।

‘काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध’ में संकलित ‘रंगमंच’ नामक निबन्ध में श्री जयशंकर प्रसाद की निम्नलिखित उक्ति—“रंगमंच के सम्बन्ध में यह भारी भ्रम है कि नाटक रंगमंच के लिए लिखे जायें। प्रयत्न तो यह होना चाहिए कि नाटक के लिए रंगमंच हो, जो व्यावहारिक है”—ने अभिनेयता के प्रश्न को इस सीमा तक उलझाए रखा कि यह हिन्दी नाट्यालोचना की सीमा बन गया। अधिकांश विद्वानों ने उपर्युक्त उद्धरण का यही तात्पर्य निकाला कि रंगमंच का सीधा अनुभव न होने के कारण ही प्रसाद ने इस स्थापना पर बल दिया। इस प्रकार प्रसाद जी के नाटकों को साहित्यिक करार दिया गया अर्थात् वे रंगमंचीय नहीं हैं, केवल पाठ्य हैं। असल में प्रसाद किसी एक विशेष रंगमंच के अनुकूल नाट्य-सृजन करने को बाध्य नहीं है। उन्होंने रंगमंच की सर्वथा उपेक्षा नहीं की है, वस्तुतः रंगमंच के अभाव में उनका रंगमंच-विषयक यह चिन्तन बहुत स्वाभाविक है। जब प्रसाद ने यह कहा कि नाटक रंगमंच के लिए नहीं होना चाहिए तो उनकी दृष्टि आदर्श-भ्रष्ट पारसी रंगमंच पर थी जो व्यावसायिक उद्देश्य के लिए लेखक की रचना और प्रेक्षक के साथ खिलवाड़ करता था। उन्नीसवीं शताब्दी में इंग्लैंड में भी अभिनेता-प्रबन्धकों ने रंगमंच की ऐसी ही दुर्दशा कर रखी थी जिसका शाँ, बीयर मैन, आर्चर आदि ने घोर विरोध किया था। सच्चा नाटककार हमेशा विद्रोही होता है। सुविधाजनक मंच का निर्माण उसका कार्य नहीं होता। मंच पर नाटक का वास्तविक कर्ता नाटककार ही होता है, क्योंकि रंगमंच के लिए आधारभूत उपादान वही प्रस्तुत करता है। संसार का कोई भी समुन्नत रंगमंच अच्छे नाटककार के प्रादुर्भाव का कारण नहीं रहा। नाटक रंगमंच का निर्माण करता है, रंगमंच नाटकों का नहीं। नाटक केवल रंगमंच के लिए नहीं वरन् साहित्यिक अभिव्यक्ति के लिए भी लिखा जाता है।

नाटक रंगमंच के लिए लिखा जाता है और लिखा भी जाना चाहिए, किंतु घटिया रंगमंच ही नाटक की महानता की कसौटी नहीं माना जाना चाहिए। रंगमंच पर तो कोई भी निकृष्ट रचना सफल हो सकती है। वास्तव में नाटक एक मिश्रित कला है— मंच उसे उजाकर करता है, इसलिए उसका सम्बन्ध मंच से है, किन्तु निर्देशक और अभिनेता मंच पर जो सर्जना करते हैं, वह नाटक की साहित्यिक मूल्यवता पर ही

निर्भर करती है, इसीलिए उसका सम्बन्ध साहित्य से भी है। इस दृष्टि से नाटक को रंगमंच से न पृथक किया जा सकता है और न ही साहित्य के क्षेत्र से बहिष्कृत। यदि नाटक और रंगमंच में बौद्धिक तथा कलात्मक सामंजस्य न हो सके तो इसका दोष रंगमंच पर ही ठहरता है। प्रसाद को मन का रंगमंच नहीं मिला। इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि उनका काव्य नाटकीयता से परिपूर्ण है। इस आधार पर यदि वे कहते हैं कि रंगमंच को नाटक का अनुसरण करना चाहिए तो यह सर्वथा अनुचित है। आज का नाटककार भी इस पीड़ा का अनुभव कर 'नाटककार के रंगमंच' की माँग करता है और आज से वर्षों पहले भोज ने भी यही अनुभव किया था, 'अभिनेतृभ्यः कवीनेव बहुमन्यामहे'। प्रसाद ने कौन-सी नई बातें कहीं हैं। (प्रसाद के नाटक—डॉ. गोविन्द चातक पृ. 282)। अतएव नाटककार यदि अपने अनुकूल रंगमंच की माँग करे तो उस पर यह आरोप नहीं लगाना चाहिए कि उसे रंगमंच का ज्ञान ही नहीं। दुर्भाग्य से रंगमंच नाटककार के पीछे है जबकि रंगमंच को नाटककार के साथ होना चाहिए। रंगमंच को भी नाटककार की बराबरी में आना पड़ेगा—प्रसाद रंगमंच से यही अपेक्षा करते थे।

प्रसाद ने अपने 'रंगमंच' शीर्षक में एक ओर जहाँ पारसी रंगमंच को हेय बताया है, उस की भर्त्सना की है, वहाँ दूसरी ओर यथार्थवाद की पाश्चात्य परम्परा का भी विरोध किया है। रंगमंचीय यथार्थवाद में उनका विश्वास नहीं है। साहित्य के युग की प्रेरणा ग्रहण की जा सकती है लेकिन इतना ही पर्याप्त नहीं है। उनके शब्दों में—हिन्दी के कुछ अकाल पक्व आलोचक, जिनका पारसी स्टेज से पिंड नहीं छूटा है, सोचते हैं स्टेज में यथार्थवाद युग के पीछे हम चलने का स्वाँग भरते हैं, हिन्दी में नाटकों में यथार्थवाद अभिनीति होते देखना चाहते हैं और यह नहीं देखते कि पश्चिम में अब भी प्राचीन नाटकों का फिर सवाक् चित्र बनाने के लिए प्रयत्न होता रहता है। युग की मिथ्या धारणा से अभिभूत नवीनतम की खोज में इब्सेनिज्म का भूत वास्तविकता का भूत दिखता है— साहित्य में युग की प्रेरणा आदरणीय है, किन्तु इतना ही अलम नहीं—अतीत और वर्तमान को देखकर भविष्य का निर्माण होता है। इसलिए हमको साहित्य में एकांकी लक्ष्य नहीं रखना चाहिए।" विश्व के सभी प्रमुख नाटककारों—ब्रेख्त, कॉक्च्यू, मेयर होल्ड आदि ने यथार्थवाद को अस्वीकार कर प्रसाद की दृष्टि का समर्थन किया है।

यथार्थवाद और उसके द्वारा प्रतिपादित वास्तविकता के भ्रम का विरोध प्रसाद के मौलिक चिन्तन का प्रतीक है। नाट्यशास्त्र में भी वास्तविकता के भ्रम का विरोध किया गया है— "न चात्र नर्तक सुखीति प्रतिपत्तिः। नाप्ययदेव राम इति एव। न चाप्ययं न सुखीति। नापि रामः स्वयाबदा व वायमिति। न चापि तत्सदृश इति।" यूरोप में भी इसी प्रकार का रंगमंचीय विधान होता रहा किन्तु वहाँ रंगमंच शब्द ही मिथ्या और झूठ का पर्याय बन चुका था। यथार्थवादी रंगमंच पर यथार्थवाद का जो दिखावा होता रहा प्रसाद जी ने उसका दृश्य-विधान की दृष्टि से भी विरोध किया—“दृश्यों की योजना साधारण होने पर भी खिड़की के टूटे हुए काँच, फटा परदा और कमरे के कोने में मकड़ी का जाला दृश्यों में प्रमुख होते हैं— वास्तविकता के समर्थन में।” प्रसादजी का यह कथन इस बात का प्रमाण है कि वे रंगमंच के सभी स्वरूप तथा यथार्थवादी दृश्य-विधान की कमजोरियों को पहचानते थे। उनके मतानुसार नाटक जीवन नहीं, उसका आभास मात्र है। प्रेक्षागृह में बैठा हुआ प्रेक्षक यह जानता है कि वह वास्तविक जीवन नहीं, नाटक देखता रहा है। प्रेक्षक मनोरंजन के लिए नाटक देखने आता है जो संभवतः वास्तविक जगत से

ऊब कर आता है और वह रंगमंच पर भी वही यथार्थवाद का रूप देखता है तो सहन नहीं कर पाता और उठकर चल देता है। अतएव यथार्थवादी रंगमंचीय रूढ़ियाँ चाहें पाश्चात्य रंगमंच से हिन्दी रंगमंच में आई हो चाहे पारसी रंगमंच का प्रभाव हिन्दी रंगमंच पर पड़ा हो इस रंगमंचीय प्रवृत्ति ने हिन्दी रंगमंच के विकास में गतिरोध ही उत्पन्न किया है।

प्रसाद ने एक अन्य कारण से यथार्थवादी परम्परा का विरोध करते हुए लिखा है कि “यथार्थवादी छिपकर कहते हैं, अपराधियों से घृणा नहीं, सहानुभूति रखनी चाहिए। इसका उपयोग चरित्र-चित्रण में व्यक्ति-वैचित्र्य के संदर्भ में भी किया जाता है। रंगमंच पर ऐसे वस्तु-विन्यास केवल मात्र समस्या बनकर रह जायेंगे।’ वास्तव में प्रसाद की इस रंगमंच-सम्बन्धी धारणा में सत्यानाश का भी आधार है। अपराधी से सहानुभूति रखनी चाहिए। लेकिन अपराधी से सहानुभूति रखना भी बुरा है। जैसा कि यथार्थवादी रंगमंच पर दिखाया जाता है। यथार्थवाद रंगमंच का प्रमुख उद्देश्य शोक, घृणा, रोग, अपराध और भोग-विलास का चित्रण करना रहा है। प्रसाद ने जब इस बात पर विचार किया तो उनका यह कहना सत्य ही रहा है कि यथार्थवादी रंगमंच आदर्श के सभी पहलुओं को नकार रहा है। ‘प्लेज प्लेजेंट’ की भूमिका में शाँ प्रसाद के ही मत का समर्थन करते हुए लिखते हैं— मैं झूठे सदाचार, झूठी नैतिकता से प्रसन्न नहीं, ओर न गरीबी, भुखमरी, अपराध, शराबखोरी—लोभ, क्रूरता, लड़ाई या डकैती और सभ्यता के दूसरे ऐसे पहलू मुझे आकर्षित करते हैं जिन्हें रंगमंच पर देखने के लिए दर्शक टूट पड़ते हैं और सोचते रहते हैं कि जो वे करते हैं वही प्रगति है...। मैं जीवन में त्रासदी और कामदी को ढूँढता हूँ जो कभी भयानक होती है और कभी असंगत!” शाँ की भाँति गाल्सवर्दी ने भी प्रसाद के मत का समर्थन किया। किन्तु इसका एक भीषण परिणाम यह हुआ है कि लक्ष्मीनारायण मिश्र जैसे नाटककारों ने प्रसाद का डट कर विरोध किया।

यद्यपि प्रसाद जी ने यह स्पष्ट कहा है कि “नाटक रंगमंच के लिये नहीं होता, बल्कि नाटक के लिए रंगमंच होना चाहिए” तथापि रंगमंच की महती उपयोगिता को दृष्टिगत करके उसके स्वरूप-निर्माण के सम्बन्ध में भी उन्होंने कतिपय उपयोगी निर्देश दिए हैं। उनका कथन है कि रंगमंच के विकास के लिए केवल लोकधर्मी अभिनय (देशकाल के बन्धन से मुक्त अभिनय) परम्परा सहायक नहीं है, इसके विपरीत नाट्यधर्मी अभिनय भी उसके विकास के लिए आवश्यक है। “जिस तरह हम स्वाभाविक या प्राचीन शब्दों में लोकधर्मी अभिनय की आवश्यकता समझते हैं ठीक उसी प्रकार से नाट्यधर्मी भी, देशकाल, पात्र के अनुसार रंगमंच में संगृहीत होना चाहिए।” नाट्य-प्रदर्शन की सफलता अथवा असफलता सूत्रधार की रंगकला विशेषज्ञता और अभिनेताओं की अभिनय-निपुणता पर निर्भर मानते हुए उनका कथन है— रंगमंच पर सुशिक्षित और कुशल अभिनेता तथा मर्मज्ञ सूत्रधार के सहयोग की आवश्यकता है। देशकाल की प्रवृत्तियों का समुचित अध्ययन भी आवश्यक है। फिर तो पात्र रंगमंच पर अपना कार्य सुचारू रूप से कर सकेंगे। इन सबके सहयोग से ही हिन्दी रंगमंच का अभ्युत्थान सम्भव है।” प्रसाद भारतीय रंगमंच से पूर्णतः परिचित थे उनकी मान्यता है कि रंगशीर्ष तथा रंगपीठ रंगस्थल के दो विभाग थे जो अभिनय के लिए प्रयुक्त होते थे। मुख्य नाटक का अभिनय रंगशीर्ष पर और प्रस्तावना की योजना रंगपीठ पर होती थी। यवनिका इन दोनों के बीच स्थित रहती थी। दृश्यों की योजना यवनिका

के भीतर होती थी—‘पिण्डीबन्ध आदि नृत्य-अभिनय के साधारण अंश, चेटी आदि के द्वारा प्रवेशक की सूचना आदि जवनिका के बाहर ही रंगपीठ पर होते थे। रंगपूजा रंगशीर्ष पर जवनिका के भीतर होती थी।” ‘यवनिका’ शब्द के विषय में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। किन्तु प्रसाद की—‘यवनिका’ सम्बन्धी व्याख्या में गहन अन्वेषण एवं विवेक बुद्धि का परिचय मिलता है— “कुछ लोगों का कहना है कि भारतवर्ष में ‘यवनिका’ यवनों अर्थात् ग्रीकों से नाटकों में ली गई है किन्तु मुझे यह शब्द शुद्ध रूप से व्यवहृत ‘जवनिका’ भी मिला है।” अमरकोष में—**प्रतिसीरा जवनिका स्यात् तिरस्करिणी सा**, तथा इलायुद्ध में— अपटी कांड पटः **स्याम् प्रतिसीरा जवनिका तिरस्करिणी**। इसमें ‘य’ से नहीं किन्तु ‘ज’ से ही जवनिका का उल्लेख है। जवनिका से शीघ्रता का द्योतन होता है। ‘जव’ का अर्थ वेग और त्वरा से है। तब जवनिका उस पट को कहते हैं, जो शीघ्रता से उठाया-गिराया जा सके।” यवनिका के सम्बन्ध में प्रसाद की शोधपूर्ण स्थापना से उनके सूक्ष्म एवं भवेषणात्मक चिन्तन का बोध होता है।

इस प्रकार प्रसाद की ‘काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध’ पुस्तक में कई ऐसे विचार-बिन्दु विद्यमान हैं, जिनके आधार पर उनके नाट्य-चिन्तन का अनुमान लगाया जा सकता है। प्रसाद ने संस्कृत रंगमंच का सम्यक् अध्ययन किया था, किन्तु इसके साथ ही वे पाश्चात्य रंगमंच की समकालीन प्रवृत्तियों से भी परिचित थे। दोनों के सम्बन्ध में स्वतन्त्र चिन्तन करने के पश्चात् उन्होंने मौलिक और महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकाले थे। अन्त में डॉ. रामेश्वरदयाल के शब्दों में हम कह सकते हैं कि “उनका चिन्तन हवाई नहीं है; गम्भीर मनन से प्राप्त उनके विचारों के सुन्दर चित्र विराट काल-फलक पर फैली उनकी सुदीर्घ ऐतिहासिक दृष्टि के पेट पर बने हुए हैं। अतः वे यथार्थ व व्यवहार्य हैं। उनका चिन्तन समग्र मानव जीवन, मानव की सहज शारीरिक-मानसिक क्षमता और मानव की मूल आदर्शप्रियता—तीनों के सामंजस्य से तैयार हुआ है। फिर इस चिन्तन को उन्होंने, अधिकांशतः साहित्य या कला की माँग के अनुसार भाव व रस रूप में परिणत कर एक स्वस्थ तृप्तिकारी संजीवनी के रूप में प्रस्तुत किया है। इस विचार का कुछ अंश राष्ट्रीय महत्त्व का, कुछ अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व का और कुछ सार्वभौमिक व सार्वकालिक महत्त्व का है। मानव जीवन के सब क्षेत्रों पर समान दृष्टि रख कर मानवसुख के लिए प्रसाद ने जो चिन्तन किया है वह उनके साहित्य की एक महत्त्वपूर्ण विभूति है।”

(ग) मोहन राकेश का रंग-चिन्तन

हिन्दी में स्वतन्त्रता के बाद जीवन और साहित्य के मूल्यों तथा सौन्दर्य बोध में जो परिवर्तन हुआ है, उसकी स्पष्ट छाप युवा पीढ़ी के नाटककारों के चिन्तन में दिखाई देती है। नयी पीढ़ी के नाटककार पूर्व युग की नाट्य-पद्धति परम्परा और रूढ़ि का अनुमोदन करने की अपेक्षा कई नये प्रश्नों और जिज्ञासाओं से जूझते हुए दिखाई देते हैं। मोहन राकेश का भी साहित्य के सम्बन्ध में चिन्तन और अध्ययन गहन रहा है। किन्तु उन्होंने नाट्य-चिन्तन को अपनी बौद्धिक अभिव्यक्ति का साधन नहीं बनाया। इस सम्बन्ध में उन्होंने एक लेख में लिखा है— “मैं सिद्धान्त प्रतिपादन नहीं करना चाहता। मैं सिद्धान्तवादी नहीं हूँ और कभी हूँगा भी नहीं। मैं यह बात इसलिए कह रहा हूँ कि मैं उस बेचैनी के प्रति जागरूक हूँ जो मुझ में है और औरों में भी है— इस प्रकार की जिज्ञासा जो दीवार पर टकराने की आकांक्षा से जुड़ी है और जो इस दीवार की ईंटों को ध्वस्त करना चाहती है और कभी-कभी सर्जन का

पूर्वाभास भी।" "I have no wish to theories the matter here... prelude to some thing that may be in the making."

(Sangeet Natak-Journal of the Sangeet Natak Academic 'looking around as a play wright' (Mohan Rakesh p.21)

मोहन राकेश के नाट्य-चिन्तन को हम निम्नलिखित बिन्दुओं में रखकर देख सकते हैं—

1. नाटक का ऐतिहासिक परिवेश और युगबोध 2. नाटक की रचना प्रक्रिया 3. नाटककार और रंगमंच 4. शब्द और रंगमंच 5. रंगमंच सम्बन्धी अन्य विचार

नाटक का ऐतिहासिक परिवेश और युगबोध—राकेश ने इतिहास का उपयोग केवल मानवीय मूल्यों और सम्बन्धों की अनवरत तलाश के लिए ही किया है। उन्होंने अपने पहले दो नाटकों 'आषाढ का एक दिन' और 'लहरों के राजहंस' के कथ्य और कथानक ऐतिहासिक पर्यावरणों पर ही आरोपित करके संजोये हैं। फिर भी इतिहास वहाँ मात्र चल पाने के लिए अपनाई गई धूमिल धूलि धूसरित पगडण्डली मात्र ही है, ताकि उस पर चलकर वे अपनी आधुनिक मानसिकता की नाटकीय यात्रा सम्पादित कर सकें। अतीत के धुंधले या अविज्ञात पृष्ठों में से उन्होंने अपने युग की संवेदनाओं को ही खोज निकाला है। उनके विचार में— "मैंने इस इतिहास का उपयोग इसलिए किया, क्योंकि इस कथा के माध्यम से विशेष प्रकार की व्याख्या प्रस्तुत की जा सकती है।" (*साहित्यिक और सांस्कृतिक दृष्टि: मोहन राकेश*)। वे आधुनिक बोध को संपादित करने के लिए ही इतिहास का आश्रय लेते थे। उनकी दृष्टि में "साहित्य इतिहास के समय में बंधता नहीं, समय में इतिहास का विस्तार करता है।" (*लहरों के राजहंस* पृ. 9)। कुछ आलोचकों ने उनकी ऐतिहासिक कथावस्तु की प्रामाणिकता पर प्रश्न चिन्ह लगाये तो उन्होंने उत्तर दिया— "मुझे इस बात का विचार ही नहीं कि मैंने समसामयिक विषयों के अतिरिक्त भी कुछ लिखा है। क्योंकि इतिहास ने सर्जनात्मक लेखन के लिए मुझे कभी प्रेरित नहीं किया, किन्तु इस प्रश्न का उत्तर वे लोग भी दे सकते हैं जो यह जानते हैं कि सर्जनात्मक साहित्य का अर्थ सामयिक पत्रकारिता नहीं होता— वास्तव में घटनाएँ और समसामयिक नहीं होती। समसामयिक तो वह दृष्टि होती है जिससे हम उसे देखते हैं।" (Sangeet Natak Journal p. 18)

भले ही बाद में उन्हें ऐतिहासिकता की अनुपयोगिता का अहसास भी होने लगा था। उन्हें लगने लगा कि कहीं न कहीं इतिहास या इतिहासाभास का प्रयोग नाटक के प्रेक्षकों का ध्यान बंटाकर मूल विषय से भटका देता है। अतः 'आधेअधूरे' और 'पैर तले की जमीन' नाटकों के कथ्य-कथानक उन्होंने आधुनिक जीवन के पर्यावरणों से ही चुने। अतः नाटक के ऐतिहासिक परिवेश और आधुनिकता को लेकर राकेश का चिन्तन बिलकुल भिन्न और मौलिक रहा है।

नाटक की रचनाप्रक्रिया—मोहन राकेश के लेखन और चिन्तन में अनुभूति पक्ष को अधिक महत्त्व मिला है। उनकी स्थापना है कि जो नाट्य कृति जीवन के भीतर से उत्पन्न होगी, वह एक साथ सभी वर्गों के दर्शकों के मन को छूने वाली होगी। इस सम्बन्ध में वे अपना निजी अनुभव बतलाते हुए कहते हैं— "लेखन की इच्छा में जिस वस्तु से मुझे सबसे अधिक सरोकार होता है, वह यह है कि मैं नाटक

लिखे बिना नहीं रह सकता। मेरे अन्दर और बाहर की शक्तियाँ एक 'ऐसी विवशता' पैदा करती हैं, जिसके कारण अनेक कठिनाइयों के बावजूद मैं लिखने बैठ जाता हूँ। इसे केवल लिखने की विवशता ही नहीं कहना चाहिए वरन् यह अपने को अभिव्यक्त और सम्प्रेषित करने की विवशता भी है जो अपने में कम नाटकीय नहीं। एक नाटककार के रूप में मेरा कार्य रचना को रूपाकार में ढालना ही नहीं उसे पुनर्ग्रहण करना और गढ़ना ही नहीं, नाटक को सही परिप्रेक्ष्य में खोजना भी है। मैं अपने को किसी चीज की लहर में पाता हूँ—एक ऐसी स्थिति में जो अपने में एक शक्ति है एक संघर्ष और एक भयंकर विडम्बना पग-पग पर वो मुझ पर प्रहार करती है किन्तु फिर भी मुझे ऊपर उठा लेती है। आखिर यह 'कुछ' क्या है मुझे मालूम नहीं। यह हवा में है, युग में है, मुझ में है। मैं जानता हूँ यह है किन्तु इसे कोई नाम नहीं दे पाता। शायद इसीलिए मैं नाटक लिखता हूँ कि मैं कोई नाम नहीं दे पाता। (Sangeet Natak Journal (p- 18)

नाटककार और रंगमंच—मोहन राकेश नाटककार को सर्वाधिक महत्त्व देते हुए मंच को वस्तुतः नाटककार का रंगमंच ही मान कर चले हैं। राकेश से पूर्व नाटक के साहित्यिक रूप पर विशेष बल दिया जाता था, किन्तु राकेश ने नाटककार का सम्बन्ध रंगमंच से जोड़ दिया है। उनके मतानुसार जब तक नाटककार रंगमंच को भलीभाँति नहीं पहचानता, रंगमंच के व्याकरण और उसके मुहावरे को नहीं जानता और जब तक वह अपनी इस पहचान और समझ का सृजनात्मक उपयोग करने की क्षमता नहीं रखता, तब तक वह किसी श्रेष्ठ नाट्य-कृति का सृष्टा नहीं हो सकता। इसके साथ-साथ राकेश यह भी मानकर चले हैं कि रंगमंच की दृष्टियों में नाटक केवल नाटककार का माध्यम ही नहीं रह जाता, बल्कि वह एक संयुक्त प्रयास बन जाता है। उस प्रयास में नाटककार, निर्देशक और अभिनेता की समान सत्ता रहा करती है। इसके साथ-साथ रंगमंच की व्यापक धारणा में रंगशिल्पी और प्रेक्षक भी आ जाते हैं। व्यवस्थापक, मंच और उसकी सज्जा का भी पर्याप्त एवं समान महत्त्व रहा करता है। इन सबके सम्मिलित एवं सहयोग पूर्ण कर्मठ प्रयास से ही वास्तविक रंगमंच की तलाश और स्वरूप का निर्माण सम्भव हुआ करता है। इस सहयोग में नाटककार की भूमिका को एक अंग के रूप में मानते हुए उन्होंने लिखा है—“एक निर्देशक भी उतना ही सर्जनात्मक व्यक्ति होता है जितना कि एक नाटककार। रंगमंच पर जो निष्पत्ति सामने आती है उसका पूरा श्रेय मैं अपने को नहीं दे सकता (नाटक अंक 18, *रंगमंच और शब्द*, मोहन राकेश) (नोट-नाटककार और रंगमंच सम्बन्धी सामग्री आप को नटरंग अंक 21, में मिल सकती है।) आज का रंगमंच पहले से कहीं अधिक निर्देशक का माध्यम बनता जा रहा है—नाट्यकार इसमें उपेक्षित होता जा रहा है।

शब्द और रंगमंच—राकेश शब्द की महत्ता को स्वीकार करते हैं। उन्होंने अपने रंगकौशल की तलाश पश्चिम की बन्द गलियों से न करके सम्पूर्णतः अपने परिवेश और अपने ही पर्यावरणों से की है। वे यह मानकर चले हैं कि 'पश्चिम का तकनीकी रूप से समृद्ध और संश्लिष्ट रंगमंच भी अपने विकास की एक दिशा है, परन्तु उससे हटकर एक दूसरी दिशा भी है और मुझे लगता है कि हमारे प्रयोगशील रंगमंच की यही दिशा हो सकती है। वह दिशा रंगमंच के शब्द और मानवपक्ष को समृद्ध बनाने की है—अर्थात् न्यूनतम उपकरणों के साथ 'संश्लिष्ट से संश्लिष्ट प्रयोग कर सकने की।' (*साहित्यिक और*

सांस्कृतिक दृष्टि : मोहन राकेश पृ. 86)। इसी दृष्टि के कारण उन्होंने अपने नाटकों में उतना दृश्य को महत्त्व नहीं दिया, जितना श्रव्य को अर्थात् शब्दकार को वे मंथन की प्रक्रिया में विशेष महत्त्व देते हैं—“रंगमंच में शब्दकार का स्थान महत्त्वपूर्ण हो उठता है—उससे कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण जितना कि हम समझ पाये हैं।” राकेश नाट्य निर्देशक को एक प्रकार का व्याख्याकार ही मानते रहे हैं। व्याख्याकार होने के नाते निर्देशक का कार्य शब्दकार के मूल संवेद्य को नाट्य-प्रेक्षकों तक पहुँचाना ही हो सकता है। उनके विचार में मंच की प्रक्रिया में उसे किसी प्रकार के परिवर्तन का अधिकार नहीं दिया जा सकता, न ही उनके विचार मंच के समय शब्दकार एक सामान्य नियन्त्रित अतिथि की सत्ता तक ही सीमित रह सकता है। सभी प्रकार से निर्देशक के सहायक बनकर शब्दकार अभिनेता और अन्याय रंगशिल्पी सही नाटक और रंगमंच की तलाश कर सकते हैं। राकेश ने रंगमंच के लिए पश्चिमी चकाचौंध को महत्त्व नहीं दिया। उनका समूचा बल सादगी पर रहा है। इस सबके लिए प्रतीकात्मकता का अधिकाधिक प्रयोग किया है। इस प्रकार राकेश ने वस्तुतः रंगमंच को शब्द का रंगमंच ही माना है।

नाटक के अन्तर्गत एक लम्बी निःशब्दता पर विचार—करते हुए उन्होंने लिखा है— “शब्दों के बीच की निःशब्दता अपने में नाटकीय तनाव को वहन करने के कारण बहुत सार्थक हो सकती है— उसका अनुपात पहले आये और बाद में आने वाले शब्दों पर निर्भर करता है। वह शब्दों की यात्रा का ही एक पड़ाव है।” रंगमंच की शब्द निर्भरता पर उन्होंने लिखा है— “रंगमंच की शब्द निर्भरता का अर्थ रंगमंच के शब्द की आधारभूत भूमिका है। इस भूमिका का निर्वाह माध्यम की सीमाओं में शब्दों के संयम से हो सकता है, उनके अतिरिक्त प्रयोग से नहीं। शब्दों की बाढ़ से या बिना नाटकीय प्रयोजन से प्रयुक्त शब्दों से रंगसिद्धि सम्भव नहीं, क्योंकि बिम्ब को जन्म देने के साथ-साथ उस बिम्ब के संयोजित रहने की भावना भी शब्दों में होनी आवश्यक है।” (*नटरंग* : अंक 18 मोहन राकेश पृ. 11)

इस प्रकार राकेश ने बड़ी सूक्ष्मता से नाटकीय शब्द के स्वरूप पर विचार किया है। किन्तु इसका यह अर्थ भी नहीं कि वे शब्द को रंगमंच पर थोपना चाहते थे। शब्दों का रंगमंच केवल शब्दकार का रंगमंच नहीं हो सकता। पूरी रंगक्रिया में शब्दकार को उसका एक अंग बनकर जीना चाहिए।

रंगमंच सम्बन्धी कुछ अन्य विचार—मोहन राकेश ने सही रंगमंच की तलाश में भी महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। रंगमंच को दर्शक तक ले जाने और दर्शक को रंगमंच तक लाने के क्या उपाय होने चाहिए—आर्थिक संकटों में रंगमंच कैसे जीवित रहे—इन विषयों पर भी अपने विचार प्रस्तुत किए हैं। रंगमंच पर चाहे दृश्य को महत्त्व दिया जाये और चाहे श्रव्य को—महत्त्व वास्तव में विशेषतः आधुनिक सन्दर्भों में रंगमंच और अभिनेता का ही अन्ततोगत्वा हुआ करता है। अपने पहले नाटक ‘आषाढ़ का एक दिन’ की भूमिका में ही राकेश ने इस ओर स्पष्ट इंगित करते हुए लिखा है—‘हिन्दी रंगमंच’ किसी विशेष परम्परा के साथ अनुस्यूत नहीं है। पाश्चात्य रंगमंच की उपलब्धियाँ ही हमारे सामने हैं। परन्तु न तो हमारा जीवन उन सब उपलब्धियों की माँग करता है और न ही यह सम्भव प्रतीत होता है कि हम उस रंग शिल्प को व्यापक रूप से ज्यों का त्यों यहाँ प्रतिष्ठित कर दें।” (दो शब्द राकेश) अपनी इस मान्यता के अनुसार ही उन्होंने सही नाटक की तलाश में सही हिन्दी रंगमंच की तलाश भी आरम्भ की। वे यह मानकर चले कि—“हिन्दी रंगमंच का हिन्दी भाषी प्रदेश की सांस्कृतिक पूर्तियों और आकांक्षाओं

का प्रतिनिधित्व करना होगा, रंगों और राशियों के हमारे विवेक को व्यक्त करना होगा। हमारे दैनन्दिन जीवन के राग-रंग को प्रस्तुत करने के लिए, हमारे संवेदों और स्पन्दनों को अभिव्यक्त करने के लिए जिस रंगमंच की आवश्यकता है, वह पाश्चात्य रंगमंच से कहीं भिन्न होगा। इस रंगमंच का रूप विधान नाटकीय प्रयोगों के अभ्यन्तर से जन्म लेगा और समर्थ अभिनेताओं तथा दिग्दर्शकों के हाथों उसका विकास होगा।” (*आषाढ़ का एक दिन-दो शब्द*) विकास प्रक्रिया की इसी मानसिकता में राकेश ने सही नाटक की तलाश की है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मोहन राकेश ने अपेक्षाकृत नाट्यरचना पर अधिक बल दिया है, चिन्तन पर कम। उन्होंने नाटक में रंगमंच पक्ष पर बहुत बल दिया है और बार-बार इस बात को रेखांकित किया है कि नाटककार की वास्तविक सृजनभूमि रंगमंच ही है। इन्होंने नाटक के एक आधारभूत तत्त्व संवाद और भाषा पर कुछ मौलिक चिन्तन किया है। पहली बार काव्य को भाषा और नाटककार सम्वाद के बीच उन्होंने किसी कलात्मक अन्विति की तलाश करना जारी किया है।

पाठ्य सामग्री के लिए आधार ग्रन्थ

- | | | | |
|----|--|---|---------------------|
| 1. | <i>काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध</i> | — | जयशंकर प्रसाद |
| 2. | <i>प्रसाद के नाटक स्वरूप और संरचना</i> | — | डॉ. गोविन्द चातक |
| 3. | <i>हिन्दी नाटक : सिद्धान्त और अध्ययन</i> | — | डॉ. गिरीश रस्तोगी |
| 4. | <i>प्रसाद का नाट्य-चिन्तन</i> | — | डॉ. शिखर चन्द्र जैन |
| 5. | <i>प्रसाद साहित्य:चिन्तन और कला</i> | — | डॉ. इन्द्रनाथ मदान |
| 6. | <i>हिन्दी-नाट्य चिन्तन</i> | — | डॉ. कुसुम कुमार |

हिन्दी रंगमंच का अध्ययन

(क) अव्यावसायिक रंगमंच

डॉ० महेश आनंद
रीडर, हिन्दी विभाग
कॉलेज ऑफ आर्ट्स एण्ड कॉमर्स
दिल्ली विश्वविद्यालय

अव्यावसायिक रंगमंच का अभिप्राय उस रंगमंच से है, जहाँ रंगकर्मी रंगमंच को सृजनात्मक अभिव्यक्ति का साधन मानते हैं, केवल धन कमाने का नहीं। वे व्यावसायिक दबावों के भीतर 'बाक्स आफिस' की सफलता के फार्मूलों से समझौता नहीं करते। इनके रंगमंच दर्शकों को लुभाने-रिझाने या मनोरंजन देने का साधन न होकर व्यक्ति और समाज के रिश्तों, उनके यथार्थ और मूल्यों का परीक्षण करने वाला गंभीर माध्यम हैं। प्रायः सभी देशों में रंगमंच का विकास अव्यावसायिक रंगमंच द्वारा किये गये प्रयोगों द्वारा ही हुआ है।

भारत में हिन्दी, मराठी, बंगला, कन्नड़ आदि कई भाषाओं में मंडलियाँ मौजूद थीं, किन्तु रंगमंच की पहचान अव्यावसायिक रंगमंच द्वारा ही बनी। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि छठे दशक में क्षेत्रीय तथा भाषिक सीमाओं को पार करते हुए भारतीय नाटक एवं रंगमंच के बीच आदान-प्रदान का जो सिलसिला शुरू हुआ वह अव्यावसायिक रंगमंच के कारण संभव हुआ। 'आधे अधूरे' (हिन्दी), 'तुगलक' (कन्नड़) तथा 'एवं इंद्रजित' (बंगला) का हिन्दी, बंगला, मराठी, कन्नड़ अंग्रेजी में न केवल अनुवाद हुआ बल्कि इन भाषाओं में इन्हें खेला भी गया। जब हम इस रंगमंच को व्यावसायिक स्तर पर संगठित होने की बात करते हैं तो इसको व्यापारिक बनाने की बात नहीं करते बल्कि व्यावसायिक कुशलता, अनुशासन और प्रदर्शनों की निरंतरता की बात करते हैं। क्योंकि केवल आत्म प्रदर्शन या मन बहलाव के लिए शौकिया बने रहने से रंगमंच को लाभ नहीं मिलता और न ही ऐसा रंगकार्य किसी भी भाषा के रंगमंच की मुख्य धारा का महत्वपूर्ण अंग बनता है।

भारतेन्दु युग (1816-1900)—हिन्दी में अव्यावसायिक रंगमंच का प्रारंभ भारतेन्दु से होता है। इनसे पूर्व और उनके समय रामलीला, रासलीला, भांडों के तमाशे, स्वांग आदि कई पारंपरिक नाट्य रूप अपनी तमाम सीमाओं के साथ विद्यमान थे। इन्हें नया अर्थ देने या युग से जोड़ने की कोशिश नहीं की गई और न ही इनमें 'नाटकत्व' शेष रह गया था। भारतेन्दु ने इसी तरह के रंगमंच को 'भ्रष्ट' कहा। इसके अतिरिक्त इस युग के सामाजिक परिवेश में नाटक करना अच्छी बात नहीं समझा जाता था।

अव्यावसायिक रंगमंच का प्रारंभ—वैसे तो हिन्दी के अव्यावसायिक रंगमंच का प्रारंभ काशी के बनारस थिएटर (पुराना नाचघर) में 3 अप्रैल, 1868 को प्रदर्शित शीतलाप्रसाद त्रिपाठी के नाटक 'जनकी

मंगल' से होता है, जिसमें भारतेन्दु लक्ष्मण की भूमिका निभाते हुए अपनी अभिनय-क्षमता का परिचय देते हैं लेकिन इस मंच का स्पष्ट रूप भारतेन्दु द्वारा काशी में स्थापित 'कवितावर्दिनी सभा' (1870) से उभरा, जहाँ 'बालविधवा संताप' (काशीनाथ खत्री) तथा 'गोसंकट' (अंबिकादत्त व्यास) आदि नाटक खेले गये। इसी कड़ी में उन्होंने 'पेनी रीडिंग क्लब' (1873) की स्थापना करते हुए स्वयं 'श्रांत पथिक' और 'चूसा पैगम्बर' के स्वांग दिखाये। भारतेन्दु की प्रेरणा से 1884 में 'नेशनल थिएटर' बना, जिसके लिए उन्होंने अपने प्रसिद्ध नाटक 'अंधेर नगरी' की रचना सिर्फ एक रात में की। इसके अतिरिक्त भारतेन्दु के 'सत्य हरिश्चंद्र', 'अंधेर नगरी' आदि नाटक उनके निवास-स्थान, काशी नरेश और डुमराव (बिहार) नरेश के यहाँ खेले गए। भारतेन्दु के समय में ही कानपुर में 1876 में पं० रामनारायण त्रिपाठी ने 'सत्य हरिश्चंद्र', 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति', और 1882, में पं० रामनारायण मिश्र ने 'नीलदेवी' और 'अंधेर नगरी' का प्रदर्शन किया। बलिया में ददरी के मेले (1884) में हुए 'सत्य हरिश्चंद्र' के चर्चित प्रदर्शन में स्वयं भारतेन्दु ने हरिश्चंद्र की भूमिका अभिनीत की थी।

इतना ही नहीं भारतेन्दु ने नाटक और रंगमंच के अर्थ और उनकी उपयोगिता बताते हुए 'नाटक अथवा दृश्य काव्य' जैसा महत्त्वपूर्ण निबंध (1883) भी लिखा। यही वह महत्त्वपूर्ण बिंदु है जहाँ से हिन्दी नाट्य चिंतन की शुरूआत होती है।

नाटककार एवं रंगमंडलियों का उदय—जिस समय हिन्दी के साहित्यकारों एवं आम जनता में रंगकर्म के प्रति सम्मान की कोई भावना न थी, उस रंगविरोधी परिवेश में भारतेन्दु ने केवल 17 वर्षों में नाट्यलेखन, निर्देशन और अभिनय-क्षेत्रों में जो कार्य किया, उसे भुलाया नहीं जा सकता। उनके इसी रंगव्यक्तित्व से प्रेरणा लेकर अंबिकादत्त व्यास, किशोरीलाल गोस्वामी, राधाकृष्णदास (काशी), प्रतापनारायण मिश्र (कानपुर), काशीनाथ खत्री (आगरा), श्री निवासदास (दिल्ली), बालकृष्णभट्ट, देवकीनंदन खत्री (प्रयाग), बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमधन' (मिर्जापुर), शालिग्राम वैश्य (मुरादाबाद), केशवराम भट्ट (बिहारी), खड्गबहादुर मल्ल (गोरखपुर), राधाचरण गोस्वामी (वृंदावन) आदि नाटककारों ने नाटक ही नहीं लिखे, बल्कि इन्हें खेलने के लिए रंगमंडलियाँ भी बनाईं।

इन नाटककारों ने **प्रयाग** (आर्य नाट्य-समाज, 1870-71, श्री रामलीला नाटक मंडली, 898-1907), **कानपुर** (पं० नारायण त्रिपाठी की मंडली, 1876; भारत एंटरटेनमेंट क्लब, 1885, भारत मनोरंजनी सभा तथा एम.ए., क्लब, 1886; ए.बी. क्लब 1887, रसिक मंडल, 1896), **पटना** (पटना नाटक मंडली, 1876), **बलिया** (बलिया) नाट्य सभा, 1884), **मुजफ्फरपुर** (धर्म संरक्षिणी सभा, 1886) **आरा** (जैन नाटक मंडली, 1897) आदि अनेक स्थानों पर रंगमंडलियाँ बनाकर नाटकों के प्रदर्शन शुरू कर दिये।

काशी के बाहर बनी मंडलियों में से सर्वप्रथम प्रयाग की 'आर्य नाट्य-समाज' (1870-71) ने पारसी रंगमंच के मुकाबले में हिन्दी नाटक प्रस्तुत किये। किन्तु इस अव्यावसायिक हिन्दी रंगमंच को मान्यता मिली कानपुर के पं० रामनारायण त्रिपाठी 'प्रभाकर' और पं० प्रतापनारायण मिश्र द्वारा प्रस्तुत भारतेन्दु के नाटकों के प्रदर्शनों से। मिश्र जी साफ सुथरे प्रदर्शनों के हिमायती थे और भदे प्रदर्शनों की

अच्छी-खासी खबर लेते थे। इस युग के अंतिम वर्षों में प्रयोग में माधव शुक्ल ने महादेव भट्ट और गोपाल दत्त त्रिपाठी से मिलकर 'श्री रामलीला नाटक मंडली' (1898) की स्थापना करके अव्यावसायिक रंगमंच को नया मोड़ दिया। माधव शुक्ल ने 'सीता स्वयंवर' (1898) की रचना और प्रस्तुति में भाषा, भेष, भूषा, भाव आदि में सामयिकता एवं नवीनता का समावेश करके मंडली की ओर जनता को भली-भाँति आकृष्ट कर लिया।¹ माधव शुक्ल के इस नाटक के प्रदर्शन का इतना गहरा असर पड़ा कि प्रयाग में रामलीला खेलने वाले अग्रवालों के दल ने रामलीला के प्रदर्शन में वेश्याओं के नाच-गाने बंद कर दिये।

हिंदी नाटकों का प्रदर्शन—नवजागरण का संदेश—इस युग की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि अव्यावसायिक मंडलियों ने हिंदी के मौलिक नाटकों को ही खेला। उल्लेखनीय यह है कि इन मंडलियों ने उन्हीं नाटककारों के नाटक अधिक खेले जो उन रंगमंडलियों से संबद्ध थे। अन्य नाटककारों में से भारतेन्दु के नाटक 'सत्य हरिश्चंद्र', 'अंधेर नगरी', 'भारत-दुर्दशा', 'नीलदेवी', श्री निवास दास का 'रणधीर-प्रेममोहिनी', अबिकादत्त व्यास का 'गोसंकट', देवकीनंदन त्रिपाठी का 'जयनार सिंह आदि नाटक खेले गये।

भारतेन्दु युग के अंत में कानपुर के 'भारत एंटरटेनमेंट क्लब' (1885), ए.वी. क्लब (1887) तथा पटना की मंडली 'बिहार थियेट्रिकल ग्रुप' और 'बांकीपुर नाटक मंडली' (1884) ने पारसी तर्ज पर लिखे गये कुछ नाटक अवश्य खेले, पर ये संस्थाएँ इतनी प्रभावपूर्ण नहीं थी कि इनका प्रभाव हिन्दी रंगमंच पर पड़ता।

भारतेन्दु युग 1857 की राज्यक्रांति की असफलता के बाद शुरू होता है। इस क्रांति ने साहित्यकारों के लिए ऐसी जमीन तैयार कर दी थी, जिससे प्रेरित होकर इस युग के नाटककार ने लेखन एवं प्रदर्शन द्वारा सामाजिक-राजनीतिक आंदोलन के लिए जनजागरण का वातावरण बनाने का प्रयास किया। इसलिए इस युग में सामाजिक-राजनीतिक समस्याओं को प्रस्तुत करने वाले नाटक अधिक खेले गये। नाटककारों ने उनके द्वारा जनरुचि का परिष्कार करते हुए 'देशोन्नति' की शिखा को प्रमुख स्थान दिया। इसी परिप्रेक्ष्य में इन्होंने ब्रिटिश सरकार के विरोध में जनता को संगठित करने के लिए नवजागरण का संदेश दिया। केशवराम भट्ट तो अपने नाटक 'रामशाद सोसन' में सशस्त्र क्रांति की बात भी करते हैं।

अभिनेता का प्रभुत्व—इस युग के रंगमंच का अध्ययन करने से महत्वपूर्ण तथ्य सामने आते हैं। इस रंगमंच में नाटककार, रंगमंडली, अभिनेता तीनों का परस्पर गहरा संबंध था। सभी नाटककार किसी न किसी मंडली से जुड़े हुए थे। इनमें से भारतेन्दु, राधाकृष्णदास, प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्णभट्ट, बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', और माधव शुक्ल जैसे नाटककार कुशल अभिनेता भी थे। इसलिए नाट्यलेखन एवं प्रस्तुतीकरण में अभिनेता 'केन्द्र' में आ गया। चूंकि ये सभी नाटककार अभिनेता होने के साथ अपनी मंडलियों के सूत्रधार भी थे। अतः यह मंच नाटककार का ही बना रहा। ऐसी स्थिति में

¹ शिवपूजन रचनावली, भाग तीसरा, पृ० 402।

इन्होंने अपने उद्देश्य को पूरी तरह से स्थापित करने के प्रयास में संवादों पर अधिक बल दिया। अभिनेता को उभारने के प्रयास में दृश्यबंध और प्रदर्शन संबंधी अन्य बातें गौण हो गईं। इस परिकल्पना में किसी विशेष भाव को उभारते हुए नाटकीय वातावरण को प्रभावपूर्ण बनाना, उस समय की प्रदर्शन-पद्धति की एक विशेषता थी। बलिया के दादरी मेले में हुए 'सत्य हरिश्चंद्र' के प्रदर्शन के बारे में गोपालराम गहमरी की एक टिप्पणी में इस तथ्य को रेखांकित किया जा सकता है।¹

दृश्य-परिकल्पना—इस युग में सभी नाटकों की रचना परदे वाले दृश्यबंधों को आधार बनाकर की गई है। स्वयं भारतेन्दु अपने निबंध 'नाटक अथवा दृश्य काव्य' में ऐसी दृश्य-रचना के बारे में विस्तार से चर्चा करते हैं।² इसके बावजूद भारतेन्दु द्वारा परिकल्पित रंगमंच जनसमूह का रंगमंच था, जिसमें किसी बनावट या आडम्बर का कोई स्थान नहीं था। भारतेन्दु के नाटकों की संरचना से स्पष्ट है कि उन्होंने पारम्परिक मंच की रूढ़ियों और व्यवहारों को आधार बनाते हुए सादगी भरे रंगमंच की परिकल्पना की होगी। कहीं-कहीं पृथ्वी के हिलने; तोप छूटने की ध्वनि और बिजली की तरह उजाले³ के संकेतों से पारसी-रंगमंच का प्रभाव नजर आता है। पर यह प्रभाव बाहरी तकनीक के स्तर पर आया है। इनके न होने से प्रदर्शनों के अर्थ पर कोई अंतर नहीं आता। भारतेन्दु की तरह इस युग के कई नाटककार पारंपरिक रंगशैली से प्रेरित नहीं होते, जैसा कि उनके नाटकों से स्पष्ट होता है। अतः उनके नाटकों के प्रदर्शन बिना ताम-झाम के हुए होंगे, इसमें संदेह है।

इस युग का महत्त्व इसलिए है कि भारतेन्दु सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक दबावों के भीतर नाटक विरोधियों से संघर्ष करते हुए लेखन, निर्देशन और अभिनय के द्वारा अव्यावसायिक रंगमंच का स्वस्थ रूप सामने रखते हैं। तभी तो वह अपने समय के अपेक्षित 'नट' को 'अभिनेता के रूप में प्रतिष्ठित करते हुए आर्यशिष्ट जनोचित' रंगमंच की परिकल्पना करते हैं।

ये सारे प्रयास और आगे विकसित होते किन्तु अंग्रेज सरकार ने 16 दिसम्बर 1876 में 'ड्रामेटिक फरफोर्मेस एक्ट आफ 1876' की जंजीरों में जकड़ कर हिन्दी रंगमंच की स्वाभाविक धारा को रोक दिया। फलस्वरूप नाटककार खुलकर बात कहने में संकोच करने लगा। भाषा और साम्प्रदायिक दंगों में उलझे लोगों के संस्कार और सामाजिक स्थितियाँ कुछ इस प्रकार की थी कि वे रंगमंच के प्रति उदार नहीं रहे। पारसी रंगमंच के प्रति बढ़ती नफरत ने नाटककार को रंगमंच से दूर कर दिया और आर्यसमाज के सुधारवादी सिद्धान्तों ने नाटककारों के वैचारिक धरातल पर एक लक्ष्मण-रेखा भी खींच दी। ऐसी स्थिति में नाटककार अपनी शिक्षा या उपदेश को दृश्य रूप नहीं दे पाये।

माधव शुक्ल युग (1900-1940)— भारतेन्दु के अंतिम चरण में माधव शुक्ल ने नाट्यलेखन और निर्देशन शुरू कर दिया था, किन्तु उनके रंगकार्यों के उद्देश्य इस युग में अधिक स्पष्ट हुए। अपने नाटकों और प्रदर्शनों अथवा कई रंगमंडलियों का संगठन करने में, अंग्रेजों के दमन के खिलाफ

¹ शिवपूजन रचनावली, भाग तीसरा, पृ. 4021

² भारतेन्दु ग्रंथावली (सं. शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र'), पृ. 7571

³ वही, पृ. 3051

साफ-साफ कहने का, स्पष्ट उद्देश्य उनके सामने था। उन्होंने 1898 में 'श्रीरामलीला नाटक मंडली' की स्थापना की थी, वह 1907 तक सक्रिय रही। इसके बाद उन्होंने अनेक शहरों में रंगमंडलियों की स्थापना करके अनेक नाटकों का प्रदर्शन किया। विशेष रूप से प्रयाग (हिंदी नाट्य समिति), लखनऊ (हिंदी नाट्य समिति), कलकत्ता (हिंदी नाट्य परिषद) में मंडलियाँ बनाईं। लखनऊ के 'हिन्दू यूनियन क्लब' की स्थापना और सक्रियता के पीछे भी इनका विशिष्ट सहयोग रहा। माधव शुक्ल के इन प्रयासों के बावजूद अधिकांश मंडलियों के प्रदर्शन पारसी रंग में डूबे रहे। काशी की कुछ मंडलियों ने अपनी अलग राह बनाने की इच्छा रखते हुए भी प्रदर्शन-शैली में पारसी कंपनियों को ही आदर्श माना। तभी तो शिवपूजन सहाय इस युग की सबसे अधिक चर्चित मंडली 'श्री नागरी नाटक मंडली' के बारे में कहते हैं, कि 'वे दर्शक की निकृष्ट मनोवृत्ति से लाचार हैं।'

रंगमंडलियाँ और नाटक-इस युग में 'श्री नागरी नाटक मंडली' (1908-70, काशी), 'भारतेन्दु नाटक मंडली' (1907-13, 1918-40, काशी), 'हिन्दी नाट्य समिति' (1908-16 प्रयाग), 'हिंदू यूनियन क्लब' (1908-21, लखनऊ), 'हिन्दी नाट्य समिति' (1906-39, कलकत्ता), 'हिंदी नाट्य परिषद्' (1918-56, कलकत्ता), 'मनोरंजन नाटक मंडली' (1914-27, आरा) आदि मंडलियों ने सुव्यवस्थित ढंग से नाटकों को प्रदर्शित करते हुए हिंदी के अव्यावसायिक रंगमंच के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

इन मंडलियों में से 'हिंदी नाट्य समिति' (प्रयाग) ने केवल हिंदी के मौलिक नाटकों का प्रदर्शन किया। माधव-शुक्ल भी जिन मंडलियों से सम्बद्ध रहे वहाँ की मंडलियों ने 'सत्य हरिश्चंद्र' (भारतेन्दु), 'महाराणा प्रताप' (राधाकृष्णदास) और अपने नाटक 'सीता स्वयंवर' एवं 'महाभारत पूर्वाद्ध' का मंचन जरूर किया। इन नाटकों के अतिरिक्त मंडलियों ने डी.एल. राय के नाटकों में से 'भीष्म पितामह', 'दुर्गादास', 'चंद्रगुप्त', 'मेवाड़-पतन', 'भारत रमणी' तथा पारसी नाटककारों के नाटकों में से 'बिल्व-मंगल उर्फ सूरदास' (आगा-हश्र 'काश्मीरी'), 'भक्त प्रह्लाद' (राधेश्याम कथावाचक) तथा 'महाभारत' (पं० नारायण प्रसाद 'बेताब') आदि नाटकों को अधिक पसंद किया। ये सारे नाटक उन सुधारवादी आंदोलनों या गाँधी जी के असहयोग-आंदोलन से प्रेरित हैं, जिनके नवजागरण का संदेश इनका प्रमुख उद्देश्य बन गया। इस समय सरकारी अंकुश का यह असर था कि कलकत्ता की हिंदी नाट्य परिषद् 'महाराणा प्रताप' (राधाकृष्णदास) को 'भामाशाह की राजभक्ति' तथा 'मेवाड़ पतन' (डी.एल. राय) को 'विश्व प्रेम' के नाम से खेलने के लिए विवश हो गई। 'भारतेन्दु नाटक मंडली' एवं 'श्री नागरी नाटक मंडली' के विवरणों से स्पष्ट होता है कि उस समय 'हिंदी साहित्य' एवं 'हिंदी भाषा की जातीयता का मूल दृढ़' करने के लिए मंडलियों का गठन किया गया था।

इन उद्देश्यों के बावजूद माधव शुक्ल द्वारा स्थापित मंडलियों, 'भारतेन्दु नाटक मंडली' एवं 'श्री नागरी नाटक मंडली', के कुछ स्वस्थ प्रदर्शनों के अतिरिक्त अधिकांश मंडलियों ने पारसी नाटकों एवं उनकी प्रदर्शन-शैली से अलग हटकर कुछ सोचा नहीं। कई छोटी-छोटी मंडलियाँ तो पारसी नाटकों को थोड़ा

¹ शिवपूजन रचनावली, भाग 3, पृ. 168

बहुत बदल कर प्रस्तुत करती रहीं। इस समय की चर्चित मंडली 'श्रीनागरी नाटक मंडली' के नाटककार शिवरामदास गुप्त ने अनेक पारसी नाटकों को बदल कर पेश किया और आनंद प्रसाद कपूर भी पारसी नाटकों के अनुकरण पर नाटक लिखते रहे। ऐसे नाटकों के प्रदर्शनों के बारे में प्रसिद्ध नाट्यालोचक शिवपूजन सहाय ने कहा है—“वे जनता की कुप्रवृत्ति का अनुकरण करना छोड़कर लोक रुचि का परिष्कार करने की ओर विशेष ध्यान दें। सीन-सीनरी और पोशाक-पहनावे की तड़क-भड़क से जनता को प्रभावान्वित करने या मोहने का जितना प्रयत्न होता है, उतना ही यदि पात्रों के अभिनय पर भी ध्यान दिया जाय, तो जनता का चित्र गौण वस्तु की ओर से हटकर, मुख्य वस्तु की ओर आकृष्ट हो सकता है।¹ प्रसिद्ध कवि सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' ने कलकत्ते की 'बजरंग परिषद्' और 'हिंदी नाट्य समिति' के बारे में कहा है कि ये भी पारसी-रंगमंच के आदर्श पर चल रही हैं। अपने समय की प्रमुख मंडलियों की यह दशा थी, तो हम अनुमान लगा सकते हैं कि अन्य मंडलियाँ पारसी-रंगमंच के प्रभाव से कैसे बची रही होंगी। इसके बावजूद ये मंडलियाँ स्वतंत्रता आंदोलन की माँग की उपेक्षा नहीं कर रही थी।

इनके विपरीत काशी की 'जैन नाटक मंडली' (1903-40) कानपुर की 'ग्लैड्टन थियेट्रिकल क्लब' (पहले-दूसरे दर्शक के बीच), 'कैलाश क्लब' (1918-37, 49-59), लखनऊ की 'यंगमैन्स म्यूजिकल सोसायटी' (1925, 35-36), आदि मंडलियों ने केवल मनोरंजन की दृष्टि से पारसी नाटकों या इसी तरह के अन्य नाटकों को खेला। पर, इनमें पारसी रंगमंच की तरह कसावट और चमक न थी। दरभंगा की 'दि बिहार उमाकांत थियेट्रिकल कंपनी' (1926-43, 49-से 65-66) तथा आगरे की 'श्री कृष्ण थियेट्रिकल कंपनी आफ आगरा' (1919-20 से 35, 51 से 62) जैसी मंडलियाँ पारसी कंपनियों के लघु संस्करण थीं। इसी तरह झालावाड़ में 'झालावाड़ है की नाट्य संस्था' (1903-1906) 'अमेच्योर ड्रामेटिक कंपनी' (1908), के बाद में 'राजेन्द्र क्लब' नाम से (1910-43), भरतपुर में 'वाटसन एम्यूजमेंट हाल' (1918-20), बाद में 'भरतपुर ड्रामेटिक सोसाइटी' नाम से (1920-28), न 'कोआपरेटिव डामा क्लब' (1933), 'एमेच्योर क्लब' (1934) आदि संस्थाएँ अपने रसिक संस्थापकों या आश्रयदाताओं के मनोरंजन के लिए पारसी नाटकों को ही खेलती रही। ये मंडलियाँ राज्याश्रय के कारण पारसी कंपनियों की तुलना में भव्यता के प्रदर्शन को मुख्य मानती थी। राजा इनके द्वारा अपनी सृष्टि का प्रदर्शन करना चाहते थे। इनके खेले गए नाटक रसिकता से भरपूर संगीतात्मक नाटक थे। एक तरह से ये मंडलियाँ पारसी कंपनियों का प्रतिरूप होने के कारण हिन्दी के अव्यावसायिक रंगमंच का हिस्सा नहीं बनी और न ही अपने प्रदेश से बाहर इनका कोई प्रभाव था।

इन प्रयासों के अतिरिक्त अग्रवाल ब्वायज ड्रामेटिक क्लब (1904, काशी), 'प्रबोधिनी परिषद्' (1902 लखनऊ), 'हिंदी नाट्य समिति' (1915, लखनऊ), 'बजरंग परिषद्' (1918-20 कलकत्ता), 'विजय नाट्य समिति' एवं 'विक्रम नाट्य समिति' (क्रमशः 1915, 1916, कानपुर), 'नर्मदेश्वर प्रसादिक नाट्य मंडल' (1920 खंडवा) 'नवयुवक मंडली' एवं 'शारदा नाट्य समिति' (दूसरे दशक के आसपास,

¹ शिवपूजन रचनावली, भाग 3, पृष्ठ. 168

छपरा), 'रामलीला नाटक मंडली' (1965 पटना) आदि मंडलियाँ उपर्युक्त मंडलियों जैसे उद्देश्यों को लेकर तो नहीं चली किंतु ये एक-दो नाटक खेल कर चुप हो गईं।

निर्देशक, अभिनेता—भारतेंदु युग की तरह इस युग में भी निर्देशक का अभाव था। इस रंगमंच में नाटककार की अपेक्षा कोई प्रमुख अभिनेता निर्देशन संबंधी कार्यों का निर्वाह करता था। कई मंडलियों में मंच-निर्माण, मंच-सज्जा, वेश-भूषा और संगीत आदि के लिए अलग-अभिनेता होते थे। इसलिए प्रस्तुति पर कई व्यक्तियों की मिली-जुली इच्छाओं का मनमाना प्रभाव पड़ता था। इसलिए प्रदर्शन के अंत में नाटक के समग्र प्रभाव की अपेक्षा अभिनेताओं के विविध भावों की याद शेष रह जाती थी। काशी में 'रत्नाकर रसिक मंडल' के एकमात्र प्रदर्शन 'चंद्रगुप्त' (1933) के बारे में 'आज' (22 दिसम्बर 1933) में प्रकाशित टिप्पणियों से प्रस्तुत-परिकल्पना के इस रूप का अंदाज लगाया जा सकता है।

अभिनेताओं की गतियाँ और मुद्राएँ अपने अतिरंजित रूप में निश्चित होती थी जिससे अभिनेता पात्रों को टाइप बनाकर प्रस्तुत करते थे। प्रदर्शन के समय जो अभिनेता संवाद बोलता था, वही उस समय महत्वपूर्ण होता था, अन्य अभिनेता चुपचाप खड़े रहते थे। कई बार वरिष्ठ अभिनेता अथवा निर्देशन का कार्य संभालने वाला अभिनेता प्रदर्शन के समय अन्य अभिनेताओं को मंच पर ही निर्देशन देता रहता था। सारा प्रदर्शन अलग-अलग टुकड़ों में बँटा हुआ धीमी गति से चलता रहता था। इस सारी प्रक्रिया में पारसी रंगमंच की अभिनय-पद्धति का प्रभाव बना रहा। शिवपूजन सहाय के अनुसार ये सभी 'पेशेदार पारसी कंपनियों के तर्ज' पर ही चलते थे। इस युग के अंतिम चरण के रंगकर्मी ललितकुमार सिंह 'नटवर' के अनुसार ये मंडलियाँ पारसी कंपनियों का 'बड़ा बुरा अनुकरण' करती थीं। उनके अनुसार 'पारसी कंपनियों' ने इस विषय में इधर बहुत कुछ सुधार किए हैं, परन्तु हमारी नाटक-समितियाँ उनकी छोड़ी हुई कंचलों को अपना रही हैं।¹ इन सीमाओं के भीतर काशी के कुछ अभिनेता इतने चर्चित रहे हैं कि उन्हें बाहर की मंडलियाँ आमंत्रित करती रहती थी। भारतेन्दु नाटक मंडली के कुंवर कृष्ण कौल तथा डॉ. वीरेन्द्रनाथ दास को मेरठ की व्यावसायिक मंडली 'व्याकुल भारत' ने अनेक नाटकों में अभिनय करने के लिए बुलाया था। कलकत्ता की 'हिंदी नाट्य परिषद्' ने भी इसी मंडली के केशवराम टंडन, बालकृष्णदास और वीरेन्द्रनाथ दास को राय के नाटकों में से 'चन्द्रेगुप्त', 'उस पार' के लिए कई बार बुलाया। इसी तरह 'श्री नागरी नाटक मंडली' के आनंद प्रसाद कपूर, बनारसी दास खन्ना को 'हिन्दी नाट्य समिति' (कलकत्ता) ने 'वीर अभिमन्यु' के लिए कई बार आमंत्रित किया।

अन्य विशेषताएँ—इन मंडलियों द्वारा दृश्यबंध के लिए परदों का इस्तेमाल किया जाता था। कुछ साधन-संपन्न मंडलियों चमत्कारपूर्ण दृश्यों या विशेष प्रकार के परदों के लिए कलकत्ता के पारसी रंगमंच के विशेषज्ञों को बुलाया करती थी। साधन-हीन मंडलियाँ पाँच-छः परदों से ही नाटकों को सजा देती थी। कई बार वेशभूषा का सामान भी कलकत्ता से मँगाया जाता था।

¹ शिवपूजन रचनावली, खंड तीसरा, पृ. 399

² निराला रचनावली, खंड पाँच, पृ. 502

इस युग में, ठीक समय पर अभिनेता न मिलने पर अथवा उनकी अनुशासनहीनता के कारण, प्रदर्शनों में 'प्राम्पटर्स' महत्त्वपूर्ण बन गया। हाँ, गायन के लिए अभिनेता का गायक होना अनिवार्य था। इसके लिए 'प्राम्पटर्स' का सहयोग नहीं लिया जाता था। कई मंडलियों की प्रस्तुतियों में प्राम्पटिंग इतने जोर से होती थी कि दर्शक भी उन्हें सुन लेता था।

प्रकाश के लिए मशालों, मिट्टी की चिमनियों और गैस के हांडों का उपयोग होता था। बाद में पेट्रोमैक्स लैम्पों का इस्तेमाल होने लगा। ये मंडलियाँ टिकट लगाकार नाटक करती थी। 'भारतेन्दु नाटक मंडली' चार आने से तीन रूपये (सोफा की एक सीट) तक का टिकट रखती थी। हाँ, बड़े व्यक्तियों को उस समय भी 'फ्री पास' दिये जाते थे। कुल मिलाकर इन मंडलियों की प्रस्तुति-परिकल्पना भारतेन्दु की रंगपरम्परा से अलग पारसी-रंगमंच से अधिक प्रभावित हुई है।

विकास न होने के कारण—इस युग की सारी मंडलियाँ साधनों के अभाव में लड़खड़ाती हुई कुछ उत्साही नाट्य-प्रेमियों के उत्साह के कारण चलती रही। कई कारणों से इनके प्रयासों को जोड़ने वाला या विस्तार देने वाला कोई एक सेतु नहीं बन सका। एक, सारे बुद्धिजीवी और प्रबुद्ध रंगकर्मी स्वतंत्रता-आंदोलन में सक्रिय थे जिनसे किसी तरह के संरक्षण या पथ-प्रदर्शन मिलने की आशा हो सकती थी। अंग्रेजी सरकार के निर्दयी अंकुश ने भी रंगकर्मियों के उत्साह को पूरी तरह से दबा दिया। इसलिए राजनीतिक कारणों से माधव शुक्ल जैसे रंगकर्मी एक जगह स्थानी होकर अपने काम की निरंतरता को बनाये रखने में सफल नहीं हो सके। दूसरा, हिन्दी प्रदेश उस समय तक व्यापार का मुख्य केन्द्र नहीं बन सका। प्रायः रंगकर्मी जीविका के लिए इधर-उधर भटकते रहे अथवा सामाजिक-साहित्यिक समारोहों या रईसों के सम्मान में होने वाले प्रदर्शनों तक अपने कार्य को सीमित रखने के लिए विवश हो गये। तीसरा, अपने सामाजिक-सांस्कृतिक संस्कारों तथा बंधनों के कारण हिंदी प्रदेश ने रंगमंच को कभी उदारतापूर्वक नहीं अपनाया। चौथा, औढ़ी हुई साहित्यिकता को सर्वस्व मान लेने के कारण हिंदी नाटक न तो पारसी रंगमंच से टक्कर ले सका और न ही दर्शकों की रुचि बदलने में सक्षम हुआ। यही कारण है कि इस युग में 'कृष्णार्जुन यद्ध' (माखनलाल चतुर्वेदी) के दो-तीन से अधिक प्रदर्शन नहीं हो सके जबकि कलकत्ता के 'स्टार थियेटर' में आपरेशचंद्र मुखोपाध्याय के बंगला नाटक 'कर्णार्जुन' के तीन सौ प्रदर्शन हुए थे।

इन स्थितियों में पारसी-रंगमंच के विरोध में अव्यावसायिक रंगमंच की स्थापना करने वाले रंगकर्मियों का उत्साह तेजी से बढ़ने के साथ ही बिखरता हुआ समाप्त हो गया। चलचित्रों के आगमन ने शेष अवसरों के रास्ते भी बंद कर दिये।

आधुनिक युग (1940-अब तक)—माधव शुक्ल के बाद पाँचवे दशक तक एक ठहराव की स्थिति बनी रही। हिन्दी नाटक केवल वार्षिकोत्सवों, हिन्दी दिवस या अन्य समारोहों पर खेले जाते थे। चौथे-पाँचवें दशक में स्कूल-कालेजों में रामकुमार वर्मा (1930) भुवनेश्वर (1933), उपेन्द्रनाथ 'अशक' (1936) और जगदीशचंद्र माथुर (1936) आदि के एकांकी खेले जाने की एक परंपरा अवश्य बनी। इनके मंचन से एक प्रभाव यह पड़ा कि हिंदी रंगमंच पारसी रंगमंच के चमत्कार या आडम्बर से मुक्त

होने की कोशिश करने लगा। यह अलग बात है कि हिंदी प्रवेश की कई मंडलियाँ पारसी रंगशैली के सम्मोहन से अपने को आजाद नहीं कर पाईं। लेखन के स्तर पर नाटककारों ने इससे मुक्त होते हुए यथार्थवादी रंगशिल्प को अवश्य अपनाया, पर अपने स्थूल रूप में से नाटक रंगमंच को अपनी ओर आकृष्ट करने में असफल रहे। यथार्थवादी चेतना की घोषणा करने के बावजूद प्रस्तुति के स्तर से नाटक कृत्रिम नाटकीयता और भावुकता अथवा विवरणात्मक संकेतों से दूर नहीं जा सके। इनमें उस पुनर्संजन की कोशिश नहीं की जा सकती थी जिससे ये नाटक रंगमंच का सहज अंग बन सकें। यही कारण है कि लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटक कभी नहीं खेले गए। यही स्थिति अशक के नाटकों के साथ रही। अभिधार्थ की एक सीमा के बाद इनमें अर्थ के दूसरे-तीसरे स्तर नहीं मिलते। शेष नाटककार पाठ्य-नाटकों के स्तर से ऊँचे नहीं उठ सके। यही कारण है कि ऐसे नाटकों से हिंदी रंगमंच अपना ओज बनाये रखने का सहयोग नहीं पा सका। वास्तव में माधव शुक्ल के बाद से 'इप्टा' के बीच का समय एकांकी नाटकों का ही रहा।

इप्टा एवं पृथ्वी थियेटर्स : पाँचवाँ दशक—इस गतिरोध को तोड़ने के लिए 'इप्टा' और 'पृथ्वी थियेटर्स' ने ऐतिहासिक महत्त्व का काम किया। 'इप्टा' (1943) ने दूसरे महायुद्ध, स्वतंत्रता आंदोलन और अकाल आदि कई स्थितियों से प्रेरित होकर इसका गठन किया। इस संस्था के प्रदर्शनों ने कथ्य के स्तर पर नाटक को यथार्थ के गहरे रूप से जोड़ते हुए रंगमंच को नयी सोच की ओर प्रेरित किया। इसके कई प्रदर्शनों ने अपनी लोक परम्पराओं के कई रंगतत्वों की सादगीपूर्ण ऊर्जा से परिचित कराया। इस नयी रंगचेतना से जो जीवंतता हिन्दी रंगमंच में दिखाई देने लगी, वह धीरे-धीरे राजनीतिक संकीर्णता के घेरे में जकड़ गई। किंतु यह सही है कि यह छ रंगमंच अखिल भारतीय स्तर पर संगठित होने वाला पहला मंच था।

'इप्टा' के उदय के साथ-साथ ही 1944 में पृथ्वीराज कपूर ने अपनी अर्द्धव्यावसायिक मंडली पृथ्वी थियेटर्स (44-60) के द्वारा यथार्थवादी शैली के शिक्षा-प्रधान नाटक खेलने शुरू किये। इनमें उन्होंने पारसी रंगमंच की अतिनाटकीयता को थोड़ा-बहुत संयमित अवश्य किया। वरना इस थियेटर की सभी प्रस्तुतियों के केन्द्र में पृथ्वीराज कपूर, अतिरंजित अभिनय के साथ अपने को ही उभारते रहते थे। धर्मवीर भारती के शब्दों में कहें तो पृथ्वी थियेटर्स में सब कुछ था सिर्फ एक चीज नहीं थी, यानी 'नाटक' कलात्मक स्तर पर पृथ्वी थियेटर्स के नाटकों और प्रदर्शनों को श्रेष्ठ न भी माना जाए, फिर भी तत्कालीन संदर्भों में इनके प्रयासों की सार्थकता को भुलाया नहीं जा सकता।

इस दौर में अच्छे नाटकों की कमी इतनी रही कि **श्यामानन्द जालान** ने 'अनामिका' (कलकत्ता) के प्रारंभिक वर्षों में धर्मवीर भारतीय (संगमरमर पर एक रात, प्रदर्शन 1956), कृष्ण किशोर श्री वास्तव (सत्य किरण, प्रदर्शन 1956), कमलकांत वर्मा (पाटली पुत्र के खंडहर में, प्रदर्शन 1957), सत्येन्द्र शरत (नव ज्योति की नई हिरोइन, प्रदर्शन 1958) के एकांकियों को खेला। **हबीब तनवीर** ने 'नया थियेटर' के स्थापना वर्ष (1959) में 'जालीदार पर्दे' (जून 59) 'सात पैसे', 'आपके लिए' (8 अगस्त 59), 'तंबाकू की नुकसानियत' (59) तथा 'फांसी' (अक्टूबर, 1960) आदि एकांकी खेले 'राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय' ने अपनी शुरुआत (1959) सोलह एकांकियों के प्रदर्शन से की।

नये रंगमंच की शुरुआत : छठा दशक—वास्तव में हिन्दी प्रदेशों में नये रंगमंच की शुरुआत छठे दशक में अंतिमचरण में हुई। अन्य देशों में बढ़ते सांस्कृतिक संपर्क और आदान-प्रदान के सिलसिलों ने रंगमंच ही नहीं, बल्कि समस्त ललित कलाओं एवं प्रदर्शनकारी कलाओं के बारे में नये सिरे से सोचने के लिए प्रेरित किया। भारतीय रंगमंच के स्वरूप को रेखांकित करने के लिए केन्द्रीय संस्थानों के गठन की जरूरत का अहसास हुआ। इसी परिप्रेक्ष्य में केन्द्रीय संगीत नाटक अकादमी (1953) एवं राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय (1959) जैसी संस्थाओं का गठन होने के बाद हिन्दी रंगमंच के क्षेत्र में हलचल का वातावरण बना।

केन्द्रीय संगीत नाटक अकादमी द्वारा आयोजित समारोहों एवं गोष्ठियों ने भारतीय रंगमंच की अवधारणा के लिए एक ठोस धरातल तैयार किया और इब्राहिम अल्काजी के निर्देशन में 'राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय' के प्रदर्शनों ने हिन्दी रंगमंच को उसके अर्थ, व्यक्तित्व, ऊर्जा और संभावनाओं से परिचित कराया। इस संस्था से प्रशिक्षित रंगकर्मियों ने अपने प्रदेशों में जाकर रंग आंदोलन का जो परिवेश तैयार किया, उसके फलस्वरूप मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश, राजस्थान आदि प्रदेशों के कई शहरों में अव्यावसायिक मंडलियाँ सामने आईं। इन प्रशिक्षित रंगकर्मियों ने कई नगरों में रंगशिविरों का आयोजन करके स्थानीय कलाकारों को न केवल नये रंगबोध से परिचित कराया, बल्कि रंगकर्म के रचनात्मक उपयोग के लिए महत्वपूर्ण भूमिका तैयार की। विशेष रूप से सातवें-आठवें दशक में ब.व. कारंत, बी.एम. शाह, एम. के. रैना, बंसी कौल और देवेन्द्रराज अंकुर ने अनेक वर्षों तक दिल्ली से बाहर जाकर जिस मिशनरी भावना के साथ इस कार्य को निभाया यह उल्लेखनीय है।

राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय की इन गतिविधियों से पूर्व हबीब तनवीर नजीर अकबराबादी की कविताओं पर आधारित अपने संगीतात्मक नाटक 'आगरा बाजार' (1954, जामिया मिलिया नाटक क्लब), तथा शूद्रक के संस्कृत नाटक 'मृच्छकटिक' को 'मिट्टी की गाड़ी' (1958, हिन्दुस्तानी थियेटर) के नाम से नौटंकी शैली में प्रस्तुत करके नये रंगमंच की भूमिका तैयार कर चुके थे। इसी के आस-पास 'थियेटर यूनिट' (1954, बम्बई), अनामिका (1955, कलकत्ता), 'नया थियेटर' (1959, दिल्ली) जैसी मंडलियाँ आधुनिक रंगदृष्टि से इस नये रंगमंच के व्यक्तित्व को उभारने का प्रयास करने लगीं। हबीब तनवीर अपनी मंडली 'नया थियेटर' के लिए प्रस्तुत हथ्र के नाटक 'रुस्तम-सोहराब' (1961), मोलियर के नाटक 'ल बुर्जुआ जांतिलोम के रूपांतर 'मिर्जा शोहरत' (1961), प्रेमचन्द की कहानी 'शतरंज के खिलाड़ी' पर आधारित 'शतरंज के मोहरे' (1969), गालिब के जीवन पर आधारित 'मेरे बाद' (1969), के द्वारा रंगमंच को कई स्तरों पर परख रहे थे। 'थियेटर यूनिट' में सत्यदेव दुबे 'शादी का प्रस्ताव' (1956), 'अंदाज' (1956), 'सच्चाई क्या है' (1960) 'अजनबी' (1961) आदि नाटक करके हबीब तनवीर के प्रयोगों से अलग अपनी प्रदर्शन-शैली निश्चित कर रहे थे। इसी तरह श्यामानंद जालान 'तरुण संघ' के लिए 'कोणार्क' (1956, ले. जगदीश चन्द्र माथुर) और अनामिका के लिए 'हम हिन्दुस्तानी हैं' (1956, ले. आर. जी. आनंद), 'अंजो दीदी' (1958 ले. अशक), इब्सन के नाटक 'एन एनिमी आफ द पीपुल' के रूपांतर 'जनता का शत्रु' (1959) के प्रदर्शनों से तलाश की बैचेनी प्रकट कर रहे थे। इस दशक के अंत में श्यामानंद जालान द्वारा प्रस्तुत 'आषाढ़ का एक दिन'

(1960) की सफलता ने हिन्दी नाटक और रंगमंच के प्रति रंगकर्मियों की सोच को बदल दिया। वास्तव में यह दशक तैयारी का था, जिसमें थे प्रबद्ध रंगकर्मी नयी प्रदर्शन-शैली के अन्वेषण में हई कई धरातलों पर एक साथ काम कर रहे थे। इन्हीं प्रारंभिक प्रयासों से हमारे नाट्य बोध में जो बदलाव आया वह आने वाले रंगकर्मियों के लिए प्रेरणा-स्रोत बना।

सातवाँ दशक : नये धरातलों का अन्वेषण—यह तैयारी सातवें दशक में स्पष्ट आकार लेती है। हबीब तनवीर का 'आगरा बाजार' अपने नये रूप में इसी दशक में (1970) चर्चित होता है। इसके प्रदर्शन ने संपूर्ण थियेटर (टोटल थियेटर) की अवधारणा को चर्चा का विषय बना कर पारंपरिक नाट्य रूपों की प्रासांगिकता को उभारा। इसी दशक में सत्यदेव दुबे द्वारा 'थियेटर यूनिट' के लिए 'अंधायुग' (1962, धर्मवीर भारती), 'आषाढ़ का एक दिन' (1964, मोहन राकेश), 'सुनो जनमेजय' (1966 आद्य रंगाचार्य), 'शुतुरमुर्ग' (1968, ज्ञानदेव अग्निहोत्री), 'आधे-अधूरे' (1969, मोहन राकेश), एवं 'इंद्रजीत' (1970, बादल सरकार) तथा 'अनामिका' के लिए श्यामानंद जालान द्वारा निर्देशित 'लहरों के राजहंस' (1964, राकेश), 'शुतुरमुर्ग' (1967) एवं 'इंद्रजीत' (1968) 'आधे-अधूरे' (1970) की सर्जनात्मक प्रस्तुतियों ने हिन्दी रंगमंच के जिस सश्लिष्ट और सक्षम रूप से परिचित कराया, वह अव्यावसायिक हिन्दी रंगमंच के लिए प्रेरणा का ठोस आधार बना।

वैसे राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय जैसी अर्द्ध सरकारी संस्था 1959 में अवश्य बन चुकी थी, किन्तु इसकी पहचान, **इब्राहिम अल्काजी** के निर्देशन में प्रस्तुत हिंदी नाटकों—'आषाढ़ का एक दिन' (1962) 'अंधायुग' (1963), **शांता गाँधी** द्वारा प्रस्तुत संस्कृत नाटकों 'मध्यम व्यायोग' (1965, भास) 'भगवद्गुण्यकीयम' (1967 बोधायन) पारंपरिक नाटक 'जस्मा ओडन' (1968), तथा अल्काजी द्वारा प्रस्तुत विदेशी नाटकों में से सोफोक्लोज के नाटक 'ईडिप्स रैक्स' (1964) शेक्सपीयर के 'किंगलियर' (1964), (1965), नाटकों की प्रस्तुतियों द्वारा सातवें दशक में ही बनी। नाटक की व्याख्या, दृश्य-परिकल्पना, अभिनय एवं रंगभाषण के रूप को निश्चित करने के लिए जिस प्रक्रिया से गुजरना चाहिए उसका कलात्मक रूप इन प्रस्तुतियों द्वारा सामने आया। निस्सन्देह हिन्दी के व्यावसायिक रंगमंच पर रा.ना.वि. की प्रस्तुतियों का गहरा प्रभाव पड़ा है।

इसी दशक में कुछ अन्य मंडलियों के प्रदर्शन भी सारे हिन्दी रंगमंच में चर्चा के विषय बने। 'दिशांतर' (1965, दिल्ली), 'अभियान' (1967, दिल्ली). 'अमेच्योर आर्टिस्ट्स एसोसिएशन' (1968, जयपुर) द्वारा क्रमशः **ओमशिव पुरी**, **राजिन्द्र नाथ** तथा **मोहन महर्षि** के प्रदर्शनी ने अपने नये रूपरंग द्वारा हिन्दी का उत्तेजक रूप सामने रखा। ओमशिवपुरी द्वारा गिरीश कर्नाड का नाटक 'तुगलक' (1972), विजय तेंदुलकर का नाटक 'खामोश! अदालत जारी है।' (1971-72), 'आधे-अधूरे' (1969), राजिन्द्रनाथ द्वारा ललित सहगल का नाटक 'हत्या एक आकार की' (1967) खानोलकर का मराठी नाटक 'एक शून्य बाजीराव' (1968), तथा बादल सरकार का बंगला नाटक 'पगला घोड़ा' (1969), मोहन महर्षि ने राकेश का 'आषाढ़ का एक दिन' (1968), आद्य रंगाचार्य का 'सुनो जनमेजय' (1969) तथा ज्ञानदेव अग्निहोत्री का नाटक 'शुतुरमुर्ग' (1969) प्रस्तुत करके हिन्दी के अव्यावसायिक रंगमंच के लिए प्रशस्त रास्ता तैयार किया। ओमशिवपुरी बहुत पहले राष्ट्रीय

नाट्य विद्यालय में ही 'लहरों के राजहंस' (1966), 'तुगलक' (1966) तथा मोहन महर्षि 'सुनो जनमेजय' (1965) का प्रदर्शन करके अपनी प्रतिभा का परिचय दे चुके थे। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि 'तुगलक' और 'पगला घोड़ा' जैसे नाटक पहली बार हिन्दी में प्रस्तुत होकर ही राष्ट्रीय स्तर पर चर्चित हुए तथा मोहन महर्षि द्वारा शतुरमुर्ग की प्रस्तुति से निर्देशक की स्वतंत्रता का प्रश्न उठा कि वह नाटकों की व्याख्या करते हुए उनको कितना बदल सकता है। इनमें अलग बृजमोहन शाह द्वारा लिखित-निर्देशित 'त्रिशंकु' (1969) पारंपरिक रंगशैलियों के साथ लोक नाटक और क्लासिकी नाटक के तत्त्वों के कल्पनाशील संयोजन द्वारा एक नये समकालीन मुहावरे को गढ़ता है।

इस सातवें दशक में हिन्दी रंग आन्दोलन ने एक स्पष्ट रूप ले लिया। हिन्दी रंगमंच पर श्रेष्ठ मौलिक नाटकों, भारतीय भाषाओं तथा पाश्चात्य क्लासिक अनूदित नाटकों के सफल प्रदर्शन होने लगे। इन सबका प्रभाव हिन्दी नाट्यलेखन पर पड़ा। नाटकों के कथ्य और शैली में जो नयापन आया उसका प्रभाव रंगकर्म के लिए महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ। कई कथाकार रंगमंच से जुड़े। नयी रंगमंडलियाँ बनीं और नया दर्शक-वर्ग तैयार हुआ। इस उत्तेजना और उत्साह भरे परिवेश के कारण कई हिन्दी भाषी रंगकर्मी हिन्दी रंगमंच से ही जुड़े रहे।

आठवाँ-नवाँ दशक : विस्तार की भूमिका—आठवें दशक में आकर हिन्दी का अव्यावसायिक रंगमंच अपनी तमाम शक्ति और संभावनाओं के साथ आगे बढ़ा। संस्कृत नाटकों को नयी शैलियों में खेला जाने लगा, पारंपरिक नाट्य रूपों की ओर नाटककारों-निर्देशकों का रुझान बढ़ा, उपन्यास कहानियों के रूपांतरों की ओर रंगकर्मी आकर्षित हुए तथा भारतीय भाषाओं की चर्चित प्रस्तुतियाँ पहली बार हिन्दी में अनूदित होकर खेले जाने लगीं, विदेशी तथा भारतीय अन्य भाषाओं के निर्देशक यहाँ आकर हिन्दी में नाटक खेलने लगे। ऐसा नहीं है कि ये प्रवृत्तियाँ सातवें दशक में नहीं थीं। परन्तु आठवें दशक में आकर इन कार्यों ने तेज गति पकड़ ली।

इन दो दशकों में उत्तर प्रदेश (आगरा, इलाहाबाद, कानपुर, गोरखपुर, मेरठ, लखनऊ, वाराणसी), बिहार (पटना बेगूसराय, भागलपुर), मध्य प्रदेश (इंदौर, उज्जैन, ग्वालियर, जबलपुर, भोपाल, रायपुर, सागर), राजस्थान, (उदयपुर, जयपुर, जोधपुर, बीकानेर) आदि के अतिरिक्त कलकत्ता, दिल्ली और बम्बई जैसे महानगरों में न केवल रंगमंडलियाँ बनीं, बल्कि इन्होंने प्रदर्शनों के आदान-प्रदान की शुरुआत भी कर दी। रंगकर्मी एक दूसरे के कार्यों से न केवल परिचित हुए बल्कि उनसे प्रभावित होकर प्रस्तुतियों में जीवंतता लाने के प्रयास लगातार करते रहे। अकेले दिल्ली रंगमंच पर सभी भारतीय भाषाओं के नाटक अनूदित होकर खेले गये। नवें दशक में आकर तो कावालम नारायण पणिक्कर (मलयालम), प्रसन्ना (कन्नड़), रुद्रप्रसाद सेन गुप्ता (बंगला), विजया मेहता (मराठी), रतन कुमार थैराम, कन्हाई लाल (मणिपुरी) आदि ने हिन्दी के मौलिक तथा अनूदित नाटकों को खेल कर नयी रंगशैलियों से साक्षात्कार कराया। फ्रिटज बेनेविट्ज (जर्मन), ब्रेश्ट और शैक्सपियर के नाटक हिन्दी में खेल कर हिन्दी रंगमंच का हिस्सा बन गये। रा.ना.वि.के लिए ब्रेश्ट के नाटक 'श्री पैनी आपेरा' को 'तीन टके का स्वांग' (1970) खेलने के बाद वे इस दसवें दशक तक सक्रिय हैं। यद्यपि इन निर्देशकों ने रा.ना.वि. तथा राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय रंगमंडल, भारत भवन रंगमंडल (भोपाल) के लिए ही अपने नाटक खेले हैं। पर इनके प्रभाव

से हिंदी का अव्यावसायिक रंगमंच अछूता नहीं रहा। प्रसन्ना और कन्हाई लाल ने तो दिल्ली की अव्यावसायिक मंडलियों के लिए भी कई नाटक निर्देशित किये हैं।

इस परिवेश में ढेर सारे मौलिक और अनूदित नाटक एक साथ मिले। सातवें दशक में जब धर्मवीर भारती, मोहन राकेश, ज्ञानदेव अग्निहोत्री के नाटक चर्चित हुए तो आठवें नवें दशक में आकर लक्ष्मीनारायण लाल (मि. अभिमन्यु, एक और हरिश्चन्द्र, व्यक्तिगत, कपल), बी.एम. शाह (त्रिशंकु), सुरेन्द्र वर्मा (द्रौपदी, सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक, आठवाँ सर्ग), मणि मधुकर (रसगंधर्व, बुलबुल सराय, खेल पोलमपुर का, दुलारी बाई), शंकरशेष (एक और द्रोणाचार्य, रक्त बीज, पोस्टर कोमल गंधार), रमेश बक्षी (देवयानी का कहना है), बलराज पंडित (पांचवाँ सवार) सर्वेश्वर दयाल सक्सेना (बकरी), मुद्राराक्षस (मरजीवा, योर्स फेथफुली), दयाप्रकाश सिन्हा (कथा एक कंस की), भीष्म साहनी (हानुश, कबिरा खड़ा बाजार में), मन्नु भंडारी (महाभोज), राजेश जोशी (जादू जंगल), असगर वजाहत (वीरगति, जिस लाहौर नहीं देख्या ओ जन्मया ही नई), मृणाल पांडे (जो राम रचि राखा, आदमी जो मछुआरा नहीं था), त्रिपुरारी शर्मा (अक्स पहली, काठ की गाड़ी), कुसुम कुमार (रावणलीला, सुनो शेफाली, दिल्ली ऊँचा सुनती है), रामेश्वर प्रेम (चारपाई, कैम्प), नंदकिशोर आचार्य (देहान्तर) आदि अनेक नाटककारों ने नये रूपों की तलाश करने के प्रयास से बोल-चाल की भाषा के मुहावरों तथा अयथार्थवादी रूढ़ियों के कलात्मक इस्तेमाल करके अपनी सृजनात्मक रंगक्षमता को विस्तार दिया।

अनुवाद का प्रभुत्व—आठवें-नवें दशक में भारतीय भाषाओं के नाटक न केवल बड़े नगरों तक सीमित रहे बल्कि छोटे शहरों की मंडलियाँ भी तेजी से इन के प्रति आकर्षित हुईं। जहाँ सातवें दशक में 'एवं इंद्रजीत', 'तुगलक', 'सुनो जनमेजय', 'खामोश! अदालत जारी है' ने प्रादेशिक सीमाएँ लाँघ कर राष्ट्रीय स्तर पर अपनी-पहचान बनाई, वहाँ इन दो दशकों में इनके नाटककार हिंदी रंगमंच के अंतरंग हिस्सा बन गए। इसके अतिरिक्त आठवें-नवें दशक में महेश एल्कंचवार (गाबों, होली, विरासत-मराठी), सतीश आलेवर (महानिर्वाण-मराठी), चन्द्रशेखर कंबार (तोता बोला, मूल कन्नड़ नाटक 'जो कुमार स्वामी'), मनोज मित्रा (राजदर्शन, बगिया बाँछा राम की-बंगला), मोहित चटर्जी (गिनीपिग-बंगला), देवाशीष मजूमदार (ताम्रपत्र-बंगला) आदि नये नाटककार सामने आये। मराठी नाटककार विजय तेंदुलकर एवं बंगला नाटककार बादल सरकार के नाटकों ने अव्यावसायिक मंडलियों को सबसे अधिक आकर्षित किया। इनके लगभग सभी नाटकों का अनुवाद प्रदर्शन हिन्दी में हो चुका है। बादल बाबू के 'बल्लभपुर की रूपकथा', 'जुलूस', 'घेरा', 'भामा', 'स्पाटार्कस' तथा तेंदुलकर के 'घासीराम कोतवाल', 'पंछी ऐसे आते हैं', 'जात ही पूछे साधु की', 'कमला', 'कन्यादान' आदि नाटक हिन्दी रंगमंच पर काफी चर्चित रहे।

इन दशकों में पाश्चात्य नाटककारों में से सोफोकलीज, शेक्सपियर, इब्सन, शां. चेखव, गोर्की, पिरांदलो, ब्रेस्ट, बैकेट, ज्यां आनुई आदि के रूपांतर अनुवाद खेल निर्देशकों ने हिन्दी रंगमंच की काव्यात्मक यथार्थवादी शैली से लेकर विसंगतिवादी शैली तक के अनेक रूपों से परिचित कराया। इनके

अनेक प्रयोगों ने नाटककारों-रंगकर्मियों में को रंगमंच की अनंत कलात्मक संभावनाओं की ओर आकर्षित किया।

सातवें-आठवें दशक में इन अनुवादों का इतना प्रभाव तो जरूर पड़ा कि हिंदी नाटक किताबी दुनिया से बाहर है। रंगकर्म का अनिवार्य अंग बनने लगा। इसका एक दूसरा प्रभाव यह भी पड़ा कि नाटक कथ्य की अपेक्षा रंगतकनीक के बाहरी रूप को अधिक संवारने के चक्कर में यक्तियों के चमत्कारों की ओर आकर्षित हो गया। यह स्थिति आठवें-नवें दशक में लिखे गये कई नाटकों में दिखाई देती है। बहुत कुछ उन्हीं कारणों से रंगकर्मी अनुवादों के प्रति आकर्षित हुए। अव्यावसायिक मंडलियों की सीमाओं को देखते हुए निर्देशक सुरक्षित नाटक खेलने की दृष्टि से मौलिक नाटकों की उपेक्षा करने लगे। यही कारण है कि इन दशकों में अव्यावसायिक हिंदी रंगमंच को अनुदित रंगमंच कहा जाने लगा। अनुवादों की भीड़ में मौलिक नाटक गायब हो गया। आज इस नवें दशक में जब लेखक धारावाहिकों की ओर आकर्षित होने लगा है तो यह संकट और अधिक गहरा हो गया।

प्रदर्शन शैली का अन्वेषण: नये प्रयोग—अगर इन दशकों का अध्ययन करें तो प्रस्तुति के स्तर पर नाटक के सर्जनात्मक रूप एवं अर्थ की व्याख्या करने और इसे दर्शकों तक संप्रेषित करने के लिए अनेक, रूढ़ियों, व्यवहारों का कल्पनाशील अयथार्थवादी उपयोग करने में इब्राहिम अल्काजी, हबीब तनवीर, श्यामानन्द जालान, सत्यदेव दुबे, ओमशिव पुरी, मोहन महर्षि, राजिन्द्र नाथ ने सातवें आठवें दशक में प्रस्तुतियों की रंग परिकल्पना में जिस अंतर्दृष्टि का परिचय दिया, वह आजादी से पहले की प्रस्तुतियों में नहीं मिलती। इसी तरह आठवें-नवें दशक में ब. व. कारंत, बी.एम. शाह, एम. के. रैना, बंसी कौल, रंजीत कपूर, अमाल अलाना आदि ने जिंदगी के यथार्थ के कई धरातलों को गहराई तक अभिव्यक्ति करने वाली रंगशैलियों की तलाश की। कहीं नाटक को बंद प्रेक्षागृहों से बाहर लाकर उसे पारंपरिक रंगशैली में खेला, कहीं काव्यात्मक धरातल को अपनाया और कहीं रीतिबद्ध शैली का व्यंजनापूर्ण इस्तेमाल किया। इन प्रयोगों द्वारा निर्देशकों ने ब्रेस्ट की महाकाव्यात्मक रंगशैली, ग्रोतोव्स्की के मनोशास्रिक रंगमंच, रिचर्स शेखर की परिवेशमूलक परिकल्पना से प्रेरणा लेकर प्रदर्शन के नये आयामों का अन्वेषण किया। प्रदर्शन की नयी संभावनाओं की तलाश के लिए इन्होंने अयथार्थवादी रूढ़ियों और व्यवहारों के द्वारा रंगसज्जा की सादगी एवं प्रतीकात्मकता, प्रकाश के कल्पनाशील संयोजन, गतियों की सर्जनात्मक संरचना, कोरस, सूत्रधार वाचक और संगीत के उपयोग रंगउपकरणों एवं मुखौटों के इस्तेमाल, प्रदर्शन में दर्शकों की हिस्सेदारी आदि से रंगशिल्प के स्तर पर अनेक साहसिक प्रयोग किये। ये सारे प्रयोग मात्र प्रयोग नहीं थे, क्योंकि इन निर्देशकों के लिए रंगमंच केवल अनेक मनोरंजन या चमत्कार का माध्यम न होकर मानवीय यथार्थ के अपरिचित धरातलों को पकड़ने का सार्थक माध्यम था।

संस्कृत नाटकों के प्रदर्शन—इन निर्देशकों ने जहाँ देशी-विदेशी नाटकों के अनुवादों द्वारा हिन्दी रंगमंच को समृद्ध किया, वहीं संस्कृत नाटकों को पुनरुत्थानवादी प्रयासों से अलग करते हुए कल्पनाशील चिंतन के साथ संवेदनशील प्रस्तुतियों द्वारा हिन्दी रंगमंच को नये नाट्यानुभव से जोड़ा। 'मिट्टी की गाड़ी'—(हबीब तनवीर), 'मध्यम व्यायोग' (शांता गाँधी), 'ऊरुभंग' (कावालम नारायण पणिकर) एवं 'भगवद्ज्जुकम्' (ब.व. कारंत), आदि नाटकों की उत्तेजक प्रस्तुतियाँ न केवल अपनी प्रासंगिक व्याख्या

के कारण, बल्कि प्रदर्शन शैली के अनेक पक्षों-दृश्य सज्जा, वेशभूषा, गीत-संगीत, अभिनटन, गति विधान, रंग-भाषण, चर्या आदि की कल्पनाशीलता के कारण भी सहज विश्वसनीय एवं प्रासंगिक बनी। ये सारे कलात्मक प्रयोग रा.ना. वि. द्वारा प्रस्तुत किये गये थे 'मिट्टी की गाड़ी', 'नया थियेटर' द्वारा। वैसे हबीब को 'नया थियेटर' 1970 में अर्द्ध व्यावसायिक रंगमंडल के रूप में गठित हो चुका था। परन्तु इन प्रदर्शनों ने अव्यावसायिक रंगमंच पर गहरा प्रभाव डाला है।

कहानी का रंगमंच—आठवें दशक में दो नये प्रयोग हुए हैं—कहानी का रंगमंच और मनोशारीरिक रंगमंच। वैसे तो उपन्यासों कहानियों के रूपांतर प्रत्येक समय खेले गये हैं। किन्तु बिना बदले ज्यों-का-त्यों खेलते हुए, उनके भीतरी रंगमंच को पकड़ने की कोशिश में **देवेन्द्र राज अंकुर** ने 1975 में राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय रंगमंडल के लिए निर्मल वर्मा की तीन कहानियों 'धूप का टुकड़ा', 'डेढ़ इंच ऊपर', एवं 'वीक एंड' को खेला। इसके बाद उन्होंने 'लक्रीस', मेघदूत (लखनऊ) 'प्रयास' (वाराणसी), 'संभव' (दिल्ली) के लिए प्रेमचन्द्र, विजयदान देथा, दूधनाथ सिंह, रमेश बक्षी, भीष्म साहनी, कमलेश्वर आदि की कहानियाँ प्रस्तुत करके इस प्रयोग को विस्तार दिया। इन प्रयासों में जहाँ कहानी के मूल पाठ को सुरक्षित रखा, वहाँ, दूसरी ओर, इनके रूप एवं लय के अनुकूल दृश्यात्मक बिम्बों की रचना करके रंगमंच के एक नये रूप को उभारा। नवें दशक में आकर इन्होंने अपना मोर्चा (काशीनाथ सिंह) 'अनारो' (मंजुल भगत), 'महाभोज' (मन्नू भंडारी), उपन्यासों को भी इसी तरह बिना रूपांतर के ज्यों-का-त्यों प्रस्तुत किया।

मनोशारीरिक रंगमंच—आठवें दशक में कुछ उत्साही रंगकर्मियों ने पोलैंड के निर्देशक ग्रोतोव्स्की की 'मनोशारीरिक रंगशैली से प्रेरित होकर नाटक प्रस्तुत किये। सबसे पहले **विजय सोमी** ने मुक्तिबोध की कविता '**अंधेरे में**' को थियेटर एसेबल के लिए किया। बाद में लखनऊ की संस्था 'लक्रीस' ने शशांक बहुगुणा के निर्देशन में 'खड़िया का घेरा' (ब्रेख्त) तथा 'तुगलक' (कर्नाड), 'बाकी इतिहास' (बादल सरकार) के द्वारा शरीर से बनने वाले दृश्य-बिम्बों और उससे निसृत ध्वनियों द्वारा नयी रंगमंचीय भाषा की तलाश की। उन्होंने इस प्रकार के रंगमंच द्वारा शारीरिक गतियों, ध्वनियों और स्नायविक प्रभावों से शब्दों की भाषा 'ट्रामोग्राफिकेशन' करने का प्रयास किया। यहाँ बिम्बपरक भाषा की तलाश तो है, किन्तु नाटकों से उभरने वाली सामाजिक, राजनीतिक ध्वनियों के तीखे स्वर नहीं मिलते। इसलिए यह प्रयोग दर्शकों द्वारा स्वीकृति नहीं पा सका। पर इसने शरीर द्वारा बनने वाली भाषा की महत्ता सिद्ध कर दी।

नुक्कड़ नाटक—इन प्रयासों से अलग आठवें दशक के अंत में **सफदर हाशमी** ने 'जन नाट्य मंच' (दिल्ली) द्वारा नुक्कड़ नाटकों को प्रस्तुत करके रंगमंच को जन चेतना का सशक्त आधार बनाने का प्रयास किया। इस प्रयोग ने धीरे-धीरे सारे भारत में एक क्रांतिकारी रूप ले लिया। यद्यपि आठवें दशक के प्रारम्भ में रायपुर और दिल्ली आदि के कई रंगकर्मियों ने नुक्कड़ नाटक खेले, किन्तु इसने आन्दोलन का रूप नवें दशक में ही लिया। नवें दशक तक अनेक-नगरों में ढेरों रंगमंडलियों ने नुक्कड़ नाटक खेलने शुरू कर दिये इन मंडलियों में निशांत (दिल्ली), 'जनवादी रंगमंच' (चंदीगढ़), 'युवा मंच' (नैनीताल), 'रंगभारती' (बीकानेर), 'समानांतर' (आजमगढ़), 'दिशा' (भागलपुर), 'इप्टा' एवं 'सर्जना'

(पटना), 'विवेचना' (जबलपुर), 'कलम' (लखनऊ), 'रंगकर्मी' (आगरा), 'रचना' एवं 'हवेली', 'समर्थ को नहीं दोष गुसाई', 'सवा सेर गेहूँ', 'जनता पागल हो गई' आदि नाटकों को खेलकर मौजूदा राजनीतिक सामाजिक, स्थितियों में इस मंच की सार्थकता को सिद्ध किया।

पारंपरिक प्रयोग—इधर नवें दशक में संगीत नाटक अकादमी की योजनाओं के कारण पारंपरिक नाट्य रूपों के प्रयोगों का चलन अधिक बढ़ा है। कई नाटककारों या निर्देशकों ने न केवल अपने प्रदेश, बल्कि अन्य प्रदेशों के नाट्यरूपों की रूढ़ियों और व्यवहारों को ही अपनाया है। जैसे छठे दशक में पारंपरिक तत्त्वों का उपयोग हबीब तनवीर के 'आगरा बाजार' से हो चुका था। बाद में उन्होंने—चरणदास चोर (1975) 'मिट्टी' की गाड़ी (1977), 'बहादुर कलारिन' (1977) द्वारा छत्तीसगढ़ी पारंपरिक मंच के कई तत्त्वों के सार्थक इस्तेमाल को न केवल परिभाषित किया बल्कि इस तरह के रंगकार्य को कलात्मक उपलब्धि के स्तर तक पहुँचाया। सातवें-आठवें दशक में ब.व. कारंत ने 'हयवदन' (दिशांतर) और राजिन्द्रनाथ ने 'घासीराम कोतवाल' (अभियान) के प्रदर्शन में पारंपरिक रंगशैलियों का आकर्षक इस्तेमाल करके ऐसे प्रयोगों के लिए उपयुक्त आधार तैयार कर दिया। इन प्रयोगों की ओर कई नाटककार आकर्षित हुए। इनमें से सर्वेश्वर दयाल सक्सेना ने 'बकरी' में नौटंकी, मणिमधुकर ने 'रसगंधर्व' में राजस्थानी ख्याल, तथा लक्ष्मीनारायण लाल ने कई नाटकों में पारंपरिक तत्त्वों के इस्तेमाल से रंगमंच की नयी दिशाओं की ओर संकेत दिये हैं। इनकी अपेक्षा मेघदूत (लखनऊ) के लिए **बंसी कौल** द्वारा निर्देशित **आला अफसर** (गोगोल ने नाटक 'इंस्पेक्टर जनरल' का मुद्राराक्षस द्वारा रूपान्तर) में नौटंकी शैली का प्रयोग बड़ा दिलचस्प और कई दृष्टियों से उल्लेखनीय है।

नवें दशक में संगीत नाटक अकादमी के आयोजनों के लिए 'रामलीला' (मेघदूत, लखनऊ), 'हरिश्चन्द्र की लड़ाई' (दर्पण, लखनऊ), 'महाभोज' (नटरंग, जम्मू), 'मुक्तिपर्व' (इप्ता, पटना), 'पशु-गायत्री' (दिशा नाट्य संस्थान, उदयपुर) आदि नाटकों के प्रदर्शनों में युवा निर्देशकों ने पारंपरिक तत्त्वों का संभावनापूर्ण इस्तेमाल करके विभिन्न शैलियों की ऊर्जा से साक्षात्कार कराया।

बोलियों का इस्तेमाल—इस संदर्भ में उन प्रस्तुतियों की चर्चा करना संगत होगा जिनसे जनपदीय भाषाओं एवं बोलियों के इस्तेमाल से देशी-विदेशी नाटकों को परखा गया। 'मिट्टी की गाड़ी' (छत्तीस गढ़ी. नि.हबीब तनवीर), 'गारा की गाड़ी' (मालवी, नि.ब.व.कारंत), ब्रेश्ट के नाटक 'काकेशियन चोक सर्किल' का अनुवाद 'इंसाफ का घेरा' (बुंदेली, नि. फ्रिट्ज बेनेविट्ट) 'मालविकाग्निमित्र' (बुंदेली, नि.ब. व.कारंत), 'पशु-गायत्री, (मेवाड़ी, नि.भानु भारती), 'महाभोज' (डोगरी, नि.बलवंत ठाकुर) की प्रस्तुतियों में बोलियों की लय और उनके मुहावरे की जीवंतता का सार्थक नाटकीय इस्तेमाल हुआ है। ये सारी प्रस्तुतियाँ अलग-अलग धरातलों पर पारंपरिक तत्त्वों को परखते हुए रंगमंच के अनछुए आयामों को उभारती हैं। इनमें से अंतिम दो प्रस्तुतियों के अतिरिक्त शेष नाटक—नया थियेटर, भारत भवन रंगमंडल, भोपाल, तथा 'रा.ना.वि.' जैसी व्यावसायिक अर्द्धव्यावसायिक संस्थाओं द्वारा प्रस्तुत किये गये हैं।

अन्य भाषाओं के पारंपरिक नाट्य रूप—यहाँ एक अन्य तथ्य की ओर संकेत करना उचित होगा कि रा.ना.वि.द्वारा अन्य भाषाओं के पारंपरिक नाट्य रूपों में प्रस्तुत हिन्दी के अनेक प्रदर्शन हिन्दी भाषा

की रंगक्षमता को कई तरह से परखते हैं। **भवई** (जस्मा ओडन, शांता गाँधी) **काबुकी** (इबारागी, सोजो सातो), **यक्षगान** (भीष्म विजय, शिवराम कारंत एवं बरनम वन, ब.व.कारंत) **तमाशा** (सैया भए कोतवालए उषा बैनर्जी), मणिपुरी पारंपरिक शैली (अंधायुग रतन थियम), कूडियाट्टम एवं कथकलि (उरुभंग, कावालम नारायण पणिक्कर) आदि रंगशैलियों में प्रस्तुत हिंदी में अनूदित नाटक ऐसा उत्तेजित रंगकार्य सामने लाते हैं जिससे भारतीय रंगशैली की पहचान गहरी होती है। ये सारे प्रयोग तात्कालिक सफलता की दृष्टि से नहीं, बल्कि उस तलाश के लिए किये गये हैं, जिनसे आज के समय को उकेरने की संभावनाओं को पहचाना जा सके।

अभिनय—अव्यावसायिक रंगमंच के इन प्रयोगों के विवेचन के बाद हिन्दी रंगमंच के अभिनेताओं के कार्यों में आए बदलाव की ओर संकेत करना जरूरी लगता है।

आजादी के बाद पहली बार अभिनय को एक सर्जनात्मक कार्य माना गया। जहाँ पहले भावुकतापूर्ण प्रबल आवेगों को पेश करने के लिए निश्चित फार्मूले थे, वहाँ जीवन की जटिल और सूक्ष्म अनुभूतियों या विसंगतियों को अंकित करने के लिए नयी अभिनय पद्धति की तलाश हुई। यह पद्धति पारसी, फिल्मि या इन दोनों के मिश्रण वाले पृथ्वी थिएटर्स की अभिनय शैली से सर्वथा भिन्न थी। यहाँ कड़कदार आवाज में 'डायलाग फैंक' देने में विश्वास नहीं था। बल्कि चरित्रों के अनेक स्तरों तथा उनकी भावनाओं के सूक्ष्म रूपों के अनेक अर्थों को एक साथ व्यंजित करने वाले संयमित रूप को अनिवार्य माना गया। शंभु मित्र, तृप्ति मित्र, उत्पल दत्त, श्रीराम लागू तथा अमरीश पुरी आदि अभिनेताओं ने जिन कल्पनाशील एवं कलात्मक मानकों को प्रस्तुत किया है, उनसे हिन्दी अभिनेता प्रभावित हुआ है। हिन्दी रंगमंच में ओम शिवपुरी, सुधा शिवपुरी, मनोहर सिंह, नसीरुद्दीन शाह, ओमपुरी, पंकज कपूर, एस.एम. जहीर, उत्तरा बावकर, सुरेखा सीकरी जैसे ख्याति प्राप्त अभिनेता-अभिनेत्रियों ने जिस अभिनय क्षमता का परिचय दिया था, उससे अभिनय रंगकार्य का रचनात्मक आधार बन सका है। परन्तु इनमें से कुछेक को छोड़कर शेष अभिनेता अव्यावसायिक मंडलियों के साथ अधिक नहीं जुड़े।

हिन्दी रंगमंच में अच्छे अभिनेताओं की कमी है। इसके कई कारण हैं— एक, हिन्दी में ऐसे नाटकों का अभाव है जो अभिनेताओं को केन्द्र में रखकर उन्हें अभिनय-क्षमता का विस्तार दिखाने के अवसर दे सके। शिल्पगत निपुणता दिखाने के मोह में अधिकांश नाटक निर्देशक के होकर रह जाते हैं और उसी के नाम से प्रस्तुति को पहचाना जाता है। दूसरा, अधिकांश अभिनेता हिन्दी भाषा की प्रकृति से अधिक परिचित नहीं हैं। हिन्दी साहित्य से अपरिचित रहने के कारण हिन्दी की ध्वनियों, लय या उसके आंतरिक काव्य के भीतर से व्यंजित होने वाले अर्थ की कई छायाओं को व्यंजित करने में अधिक सफल नहीं हो सके। इन्हीं कारणों से अव्यावसायिक रंगमंच अभिनेता प्रधान नहीं बन सका।

हिन्दी रंगमंच की तमाम सीमाओं के भीतर आठवें-नवें दशक में **हबीब तनवीर** (उत्तररामचरित-74, चरणदास, चोर-75, बहादुर कलारिन-77, हिरमा की अमर कहानी-86, मोटे राम का सत्याग्रह-88 जिस लाहौर नहीं देख्या वो जन्मया ही नई), **श्यामानंद जालान** (पगला घोड़ा-71, पंछी ऐसे आते हैं-72, हजार चौरासी की माँ-77, शाकुन्तलम्-80 उद्ध्वस्त धर्मशाला-82, राजालियर-88, **सत्यदेव दुबे**

(हयवदन-72, और तोता बोला-79, अरण्य-84, विरासत-85, चाणक्य विष्णुगत-88), **ब.व.कारंत** (बरनम वन-79), अंधेर नगरी-79, मालविकाग्निमित्र-82, स्कंदगुप्त-84, **राजिन्द्रनाथ** (कफ्यू-71, गिनी पिंग-72, घासीराम कोतवाल-73, नाटक पोलमपुर को-75, महानिर्वाण-76, हानुश-77, जात ही पुछोसाधु की-78, कमला-82, कन्यादान-85 उचक्कों का कोरस-90 आदि के अतिरिक्त **एम.के.रैना** (कबीरा खड़ा बजार में, माधवी, मुआवजा, वीरगति, कमी न छोड़े खेत), **बंसी कौल** (जादु जंगल, टंकारा का गाना, अंधायुग जो राम रचि राखा, अच्छे आदमी, **भानु भारती** (बहु, पशु गायत्री, यमगाथा, चंद्रमा सिंह उर्फ चमकू), **रंजीक कपूर** (एक रुका हुआ फैंसला, चेखब की कहानियाँ, खूबसूरत बहु, बेगम का तकिया, मुख्य मंत्री), **त्रिपुरारी शर्मा** (काठ की गाड़ी, रेशमी रुमाल, अक्स पहेली), तथा **अमान अल्लाना, फ़ैजल अल्काजी** आदि निर्देशक नाटक कर रहे हैं।

कुछ समस्याएँ—किसी भी रंगमंच की कल्पना दर्शक के बिना नहीं की जा सकती। परन्तु रंगकर्मी का इस दर्शक वर्ग पर किसी तरह का नियंत्रण नहीं रहता। कलकत्ता या महाराष्ट्र की व्यावसायिक रंगमंडलियों के प्रदर्शनों में दर्शकों की जो भीड़ रहती है उसकी कल्पना हिन्दी रंगमंच में नहीं की जा सकती। निस्संदेह आजादी के बाद इन चार-पाँच दशकों में दर्शकों की संख्या बढ़ी है। सातवें-आठवें दशक में दिल्ली में रा.ना.वि. दिशांतर, अभियान की प्रस्तुतियों में दर्शकों की भीड़ रहती थी। वह आठवें-नवें दशक में प्रयोग, संभव, एक्टवन जैसी मंडलियों के प्रदर्शनों में भी नजर आई।

प्रारंभिक वर्षों में ये मंडलियाँ दर्शकों में रंग संस्कार बनाने के लिए व्यावसायिक दबावों की उपेक्षा करते हुए सार्थक नाटकों को खेलती रहीं। जब इन्हें किसी तरह का संरक्षण नहीं मिला तो अधिकांश मंडलियाँ, व्यक्तिगत प्रयासों के आधार पर कई वर्षों तक सक्रिय रह कर, बिखर गईं। आज कई मंडलियाँ एक-दो प्रदर्शनों के बाद प्रायोजकों या सरकारी संस्थानों से सहायता लेने के लिए संघर्ष करती हैं। फिर ये सहायता भी इतनी पर्याप्त नहीं होती कि ये अपने रंगकार्य को नियमित कर सकें। पूर्वाभ्यास स्थलों की कमी, प्रेक्षाग्रहों के बढ़ते किराये तथा प्रदर्शन के अन्य खर्चों में बढ़ोत्तरी के कारण लगभग सभी मंडलियाँ आर्थिक संकटों के तले दबी रहती हैं।

इन समस्याओं से जूझने के बावजूद अव्यावसायिक मंडलियाँ अपने साहसिक प्रयोगों द्वारा हिन्दी रंगमंच को उसकी पहचान दे रही है। व्यावसायिक दबावों के साथ समझौता न करने के कारण इनकी सृजनात्मकता कभी बाधित नहीं हुई। इन्हीं मंडलियों द्वारा यह संभव हुआ है कि 'अंधायुग' या 'आधे अधूरे' को हर बार नयी अर्थवत्ता और रंगशैली में खेला गया। आज श्यामानंद जालान-सत्यदेव दुबे, राजिन्द्रनाथ, एम.के.रैना, बंसी कौल के कई प्रयोग हिन्दी रंगमंच को नयी अर्थवत्ता और प्रयोगशीलता के साथ विस्तार दे रहे हैं। अव्यावसायिक रंगमंच के विस्तृत चित्रफल को देखते हुए कहा जा सकता है भारतीय रंगमंच की प्रकृति, नयी चेतना और उपलब्धियों को समझने के लिए इस रंगमंच के सूक्ष्म-अध्ययन की आवश्यकता है।

इन तमाम प्रयासों को एक बार फिर से झटका लगा फिल्मों तथा दूरदर्शन के धारावाहिकों से। हिन्दी क्षेत्र में 'फ्री लांसिंग' के अवसर कम होने के कारण कुछ रंगकर्मी (स्वर्गीय) ओम शिवपुरी,

राजबब्बर, नसीरुद्दीन शाह, ओमपुरी और कुलभूषण खरबंदा बहुत पहले फिल्मों में चले गये और बाद में मनोहर सिंह, पंकज कपूर के.के.रैना, राजेश विवेक, राजेन्द्र गुप्त आदि फिल्मी धारावाहिकों की दुनिया में व्यस्त हो गए। यह स्वभाविक ही है, क्योंकि उपेक्षित हिन्दी रंगमंच से जिन्दगी चलाना मुश्किल हो गया। धारावाहिकों ने इनके लिए काम करने का अवसर दिया है। किन्तु, रंगमंच इससे प्रभावित हुआ है। कटु सत्य तो यह भी है कि रा.ना.वि. रंगमंडल, लिटिल थियेटर ग्रुप, नया थियेटर, दिल्ली आर्ट थियेटर, श्रीराम सेंट रंगमंडल, भारत भवन रंगमंडल जैसी व्यावसायिक या अर्धव्यावसायिक संस्थाएँ भी निरंतर, प्रदर्शन करती हैं। ऐसी स्थिति में अव्यावसायिक मंडलियाँ अपने रंगकार्यों में निरंतरता कैसे बना सकती हैं? बंबई में 'अंक' एक ऐसी संस्था है जो दिनेश ठाकुर के निर्देशन में पिछले दो दशकों से निरंतर नाटक कर रही है। प्रारम्भ में नये नाटकों के दस पन्द्रह प्रदर्शन होते हैं और ये बाद तक चलते रहते हैं। यहाँ तक कि 'अंक' संस्था कई बार एक महीने का नाट्य समारोह करके हर रोज किसी न किसी नाटक को प्रदर्शित करती है। यह बात व्यावसायिक रंगमंडलियों के लिए भी चुनौती है।

यह सही है कि हमारी अव्यावसायिक मंडलियाँ जब इस स्थिति को प्राप्त कर लेंगी कि वे सुनिश्चित वार्षिक योजनाएँ बनाकर एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में जाकर नाटक कर सकें, तभी हम कह सकते हैं कि हिन्दी के अव्यावसायिक रंगमंच ने अपना लक्ष्य पा लिया है। सरकार को इस ओर ध्यान देना चाहिए। अब केवल प्रोत्साहन से काम नहीं चल सकता।

सहायक पुस्तकें

1. भारतेन्दु ग्रंथावली—सं. शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र'
2. शिवपूजन सहाय रचनावली, भाग-3
3. निराला रचनावली, भाग-5
4. भारतीय रंगमंच-आद्य रंगाचार्य
5. भारतीय नाट्य परंपरा-नेमिचंद्र जैन
6. आधुनिक हिन्दी नाटक और रंगमंच-सं. नेमिचंद्र जैन
7. भारतीय रंगमंच का विवेचनात्मक इतिहास-डा. अज्ञात
8. आधुनिक हिन्दी नाटक और रंगमंच-डा. लक्ष्मीनारायण लाल

(ख) व्यावसायिक रंगमंच (पारसी रंगमंच)

डॉ. जगमोहन चोपड़ा
हिन्दी विभाग
पंजाब विश्वविद्यालय चण्डीगढ़

आज जब हम हिन्दी के मौलिक नाटक की उपलब्धियों और सार्थकता की बात करते हैं तो निश्चित रूप से इसकी शुरुआत की भी जानकारी हमें होनी चाहिए। कौन-सी ऐसी परम्परा थी कि आज के हिन्दी नाटकों, फिल्मों और हमारे जनमानस पर इसका प्रभाव किसी न किसी रूप में कायम है। पारसी थियेटर को आरम्भिक काल में ठेठर (थियेटर) के नाम से पुकारा गया।¹ इसकी जानकारी के लिए जब हम नाटक के इतिहास को टटोलते हैं तो हमारे सामने प्रायः उन सभी क्षेत्रों की भाषा आ जाती है जिनमें नाट्य-लेखन होता था। इन भाषाओं में हिन्दी गुजराती, उर्दू, मराठी, बंगला आदि विशेष रूप से वह भाषाएँ आती हैं जिनका आरम्भिक काल में इस ठेठर को विकसित करने में योगदान रहा। इसे अगर हम दूसरे शब्दों में कहें तो इन्हें पारसी-हिन्दी, पारसी-गुजराती पारसी-उर्दू, पारसी-मराठी और बंगला रंगमंचों से भी सम्बन्धित कर सकते हैं। पारसी थियेटर के अधिकांश मालिक पारसी होने से इसे पारसी थियेटर की संज्ञा भारतीय लोगों ने ही दी। पारसी थियेटर का आरम्भ सन् 1874 में 'आराम' के गोपीचंद नाटक से माना जाता है। यहीं से विकसित होकर यह 1940 तक अपनी कलात्मकता को पहुँचा। सन् 1874 से सन् 1969 तक यह रंगमंच पूरी तरह भारतीय नाट्य मंच पर छाया रहा। सन् 1969 में पारसी रंगमंच की अन्तिम नाट्यसंस्था मूनलाइट थियेटर कलकत्ता के बन्द होने से यह नाटक प्रायः अपने अन्त को पा गया। यँ आज भी गुजरात, महाराष्ट्र और मारवाड़ी पारसी रंगमंच बम्बई व अन्य शहरों में जीवित हैं।

पारसी रंगमंच को भारत का तीसरा रंगमंच कहा गया है। इसकी स्थापना सम्भवतः प्लासी के युद्ध के पश्चात् ही मानी जाती है। श्री वीरेन्द्र नारायण सक्सेना के शब्दों में, पारसी रंगमंच उस समय एक ऐतिहासिक आवश्यकता थी। अतः यह पर्याप्त लोकप्रिय हुआ।

पारसी थियेटर का इतिहास केवल चालीस वर्ष का न होकर प्रायः एक सौ वर्ष का माना जा सकता है। बम्बई से उखड़ कर जब कुछ नाटककार कलकत्ता में आकर हिन्दी भाषा में नाटक लिखने लगे तभी से इसका ऐतिहासिक प्रारम्भ माना जा सकता है। जिन नाटककारों ने इसमें प्राण फूँके उनमें नारायण प्रसाद 'बेताब', आगा हश्र 'काश्मीरी' और राधेश्याम 'कथावाचक' अग्रणी नाटककारों में आते हैं।

सन् 1924 तक दिल्ली, मेरठ, बनारस, इलाहाबाद, जयपुर आदि नगरों में नारायण प्रसाद 'बेताब' और राधेश्याम 'कथावाचक' के नाटकों की धूम थी। सन् 1900 से 1917 तक का समय प्रायः अंग्रेजी से हिन्दी में अनूदित नाटकों का युग था इसमें आगा हश्र के सफेद खून, सैदे-हबस और शहीदेन्नाज अंग्रेजी के क्रमशः किंग लियर, रिचर्ड तृतीय और मेजर फार मेजर के आधार पर हिन्दुस्तानी रूपान्तरणों

¹ परिशोध-सम्पादक डॉ. इन्द्रनाथ मदान: डॉ. मैथिली प्रसाद भारद्वाज, पंजाब यूनिवर्सिटी, चण्डीगढ़

के नाम के लिये जा सकते हैं। इसी समय में कुछ हिन्दी, उर्दू के मिश्रित **ख्वाबे-हस्ती**, **खूबसूरत बला**, **सिलबर किंग**, **यहूदी की लड़की**, **सूरदार**, **बनदेवी**, **शामे जवानी** और **खुदपरस्त** आदि आगा हश्र के नाटक भी लोकप्रिय हुए। सन् 1917 तक जब कलकत्ता में पारसी नाटकघर जे.एफ. मेडन थियेटर के नाम से खुला तब तक पारसी मालिक लोगों की तात्कालिक आवश्यकता को भी समझ चुके थे। अंग्रेजी युग में पनपते हुए भारतीय समाज में तब आर्यसमाज और स्वतंत्रता सेनानियों ने लोगों की आँखें खोल दी थीं। व्यवसायिक पारसी-लोगों ने यह भी समझ लिया था कि हिन्दु, मुस्लिम, सिख या पारसी लोग भारतीय संस्कृति के महान चरित्रों और उनकी शौर्यगाथा, प्रेम और बलिदान की ही कथाओं को देखना चाहते हैं। यही बात नाटककार ने समझी और आगा हश्र ने मधुर मुरली, भागीरथ गंगा, श्रवण कुमार, सीता बनवास, धर्मी बालक, प्रेमी बालक जैसे नाटक लिखे जो मेडन थियेटर कलकत्ता का इतिहास बन गए।

पारसी लोग चूँकि अंग्रेजी से प्रभावित थे इसीलिए उनकी कम्पनियों के भी अधिकांश नाम उन्होंने अंग्रेजी नाम की ही तर्ज पर लिखे जैसे अलफ्रेड थियेटर, कोरेन्थियन, न्यू थियेट्रिकल कम्पनी आदि। इसी के साथ-साथ धीरे-धीरे अन्य नगरों में सूर विजय नाटक समाज, व्याकुल भारत मंडली लिमिटेड, रामदास नाटक मण्डली, नरसी थियेटर कम्पनी, हिन्दुस्तान थियेटर, पंवार थियेटर, शाहजहाँ थियेट्रिकल कम्पनी, मोहन नाटक मण्डली तथा मारवाड़ी मित्र मण्डली आदि ऐसे भारतीय नाम थे जिनके व्यक्तित्व में हिन्दी के प्रति अभिरुचि देखी जा सकती है।

पारसी हिन्दी रंगमंच का विकास—पारसी हिन्दी रंगमंच को यदि उसे विविध चरणों में देखें तो प्रायः इस पूरे काल को चार कालों में बांट सकते हैं—

(क) **उद्भवकाल**—सन् 1853 से 1900 तक के काल के उद्भव काल के नाम से अभिहित किया जा सकता है। राजागोपीचंद का नाटक चाहे एक आपेरा के रूप में खेला गया पर हिन्दुरतानी दर्शक को उसे परम्परागत लीला, स्वांग आदि से अधिक मनोरंजन दिया। इन नाटकों के कथानक, इश्क जंग आदि पर आधारित होते थे। इस उद्भव काल में इन नाटकों के अधिकांश निर्देशक, पेण्टर और मेकअपमैन तक सब अंग्रेज ही हुआ करते थे। नाटककार और अभिनेता (मुसलमान, पारसी, मराठी) हिन्दुस्तानी लोग हुआ करते थे। यही कारण है कि इस काल का सारा रंग शिल्प और रंगसम्पदा की प्रस्तुति प्रायः विदेशी प्रभाव में ही पनपी। यह एक ऐसा काल था जब अनेक महत्त्वपूर्ण कम्पनियों का जन्म हुआ। सन् 1872 में खुरशेदजी बाली बाला ने दिल्ली में अपनी नई कम्पनी विक्टोरिया थियेट्रिकल कम्पनी खोली जिसमें बाद में जाकर विक्रम-विलास, गोपीचन्द, हरिश्चन्द्र आदि प्रसिद्ध नाटक खेले। इसी प्रकार सन् 1889 में एलफ्रेड थियेट्रिकल कम्पनी खुली। बम्बई में 1898 में पहली व्यवसायिक नाटक कम्पनी पेस्टनजी फ्रायजी की 'द बम्बई पारसी ओरिजन आपेरा' कम्पनी खुली। इन सबके अभिनेता पारसी ही थे। उदाहरण के रूप में बाली बाला, कासन जी खटाऊ, सोहराब जी तथा जहाँगीर अभिनेताओं के नाम लिए जा सकते हैं।

(ख) विकास काल—पारसी रंगमंच जहाँ धीरे-धीरे स्वयं को मजबूत करता गया वहीं रंगशिल्प और प्रस्तुतिकरण विधान में विशेष उन्नति के साथ भी आगे आया। इस काल में विशेषकर प्रथम महायुद्ध और राष्ट्रीय चेतना के बीच तनाव और औपनिवेशिक स्वराज्य पाने की उत्कृष्ट इच्छा थी। यही कारण था कि स्वर्णिम अतीत और गौरवपूर्ण संस्कृति की झलक इस काल के लेखन में राष्ट्रीय चेतना बन कर अप्रत्यक्ष रूप से उभरी। इस काल में प्रायः कोई महत्त्वपूर्ण नाटक कम्पनी नहीं खुली।

(ग) उत्कर्ष काल—मराठी रंगमंच का यह समय रंगमंच कम्पनियों से लेकर नाट्य लेखन तक श्रेष्ठ उपलब्धियों का है। अन्य कम्पनियाँ और सोहराब जी का अभिनय अब पारसी मंच के लिए एक जरूरत के रूप में सामने आने लगा था। इसी समय अन्य व्यापारिक कम्पनियों को काठियावाड़ की भी सूर विजय कम्पनी तथा मेरठ की व्याकुल भारत कम्पनियों के कारण बहुत से हिन्दी नाटक मंचित हो सके। यह दोनों कम्पनियाँ भेदे और अश्लील पारसी रंगमंच के विरोध में स्थापित हुईं और इन्होंने राधेश्याम का 'उषा अनिरुद्ध', व्याकुल का 'बुद्धदेव' तथा जनेश्वर प्रसाद मायल के 'सम्राट चंद्रगुप्त' जैसे महत्त्वपूर्ण हिन्दी नाटक सफलतापूर्वक मंचित किए।

(घ) उत्तरकाल—सन् 1935 के आस-पास आकर प्रसिद्ध पारसी थियेटर कम्पनियाँ एक के बाद एक बन्द होनी शुरू हो गयीं। इस काल में जिन कम्पनियों ने पारसी रंगमंच को जीवित रखा उसने मानकलाल डाँगी, फरदुन ईरानी, मास्टर फिदा हुए थे और कन्हैयालाल पंवार जैसे व्यवसायी रंगमंच के प्रसिद्ध संचालकों और निर्देशकों को गिनाया जा सकता है। इन कम्पनियों ने अधिकांश रूप से 'बेताब' तथा आगा हश्र के नाटक बार-बार खेले। इन नाटकों में रणधीर साहित्यालंकार का नाटक 'झाँसी की रानी' नाटक सर्वाधिक सफल रहा। इस काल में कुछ कलाकारों ने भी नाटक लिखे और कुछ युवा प्रतिभाओं से भी नाटक लिखवाये गये।

प्रतिनिधि नाटककार—पारसी रंगमंच इस बात का गवाह है कि इस पूरे काल में इसकी नाटक-सम्पदा अपार रही। नारायण प्रसाद, बेताब, आगा हश्र कशमीरी, राधेश्याम कथावाचक के अतिरिक्त इस काल के मुख्य नाटककारों में कृष्णचन्द्र 'जबा', मेंहदीहसन, हसन लखनवी, आरजू लखनवी, ज्वालाप्रसाद वर्क, तालिका बनारसी, हसेनी मियाँ जरेफ और हाफिज मुहम्मद आते हैं इनमें आगाहश्र ने इकतीस, बेताब ने इक्कीस, आरजू लखनवी ने दस, हाफिज मुहम्मद ने साठ तथा हुसेनी मियाँ जरेफ ने पच्चीस नाटक लिखे।

यह काल भारत में विभिन्न जातियों के समन्वय का काल था। इस काल में हिन्दी-उर्दू का कोई सवाल न होने से दोनों जातियाँ एक दूसरे के अधिक निकट थीं। इस काल के अधिकांश नाट्य साहित्य की भाषा उर्दू-मिश्रित हिन्दी ही प्रचलित थी। ईश्वर के स्थान पर नाटकों में सर्वत्र खुदा, अल्लाह, निसार आदि सम्बोधन आम हो गया था। वीर अभिमन्यु, प्रह्लाद, श्री कृष्णावतार, रुक्मिणी मंगल आदि राष्ट्रीय चेतना तथा जातीय एकता के महत्त्वपूर्ण नाटक थे। इसके लिए कई बार अंग्रेज खुफिया पुलिस तक ने नाटक देखे और नोट्स लिए। प्रेमचन्द ने माधुरी में कुछ नाटकों के चित्रों सहित समीक्षात्मक लेख लिए। यहाँ तक कि प्रेमचन्द का 'गबन' उपन्यास भी मनोरमा थियेटर और राधेश्याम के ड्रामे की गवाही देता

है। इन ड्रामों के दर्शकों में तात्कालिक बुद्धिजीवियों-मोतीलाल नेहरू, प्रेमचन्द, पं. मदनमोहन मालवीय तथा सरोजनी नायडू के नाम उल्लेखनीय हैं। इन नाटकों का नोटिस जिन तात्कालिक पत्र-पत्रिकाओं ने लिया उनमें सरस्वती, विजय, भारत मित्र, ब्रह्मचारी, आज, सनातन धर्म पताका, प्रताप, प्रतिभा आदि उल्लेखनीय हैं।

पारसी रंगमंच के आधारभूत तत्त्व-पारसी रंगमंच एक व्यावसायिक रंगमंच होने के नाते व्यावहारिक मंच भी था। इस व्यवहार में मालिक और नाटककार की कुछ अपनी सीमाएँ हुआ करती थीं। कम्पनी का मालिक आदेश पर नाटक लिखवाता था और कभी-कभी उसका निर्देशन तक स्वयं ही करता था। इस पारस्परिक समझौते में मालिक दृश्यों में परिवर्तन करवाने के साथ-साथ रिहर्सल के बीच में ही स्क्रिप्ट को बार-बार भी लिखवा सकता था। विशेष प्रभावों और तत्त्वों को नाटक में अभिनेताओं की क्षमताओं के अनुसार डाला जाता था। इसी प्रकार अभिनेत्रियों, खलनायकों तथा हास्य अभिनेताओं के चरित्रों के अनुसार ही पात्रों की भूमिकाएँ भी लिखी जाती थीं। यदि अभिनेता या अभिनेत्री अच्छे गायक या नृत्यकार होते थे तो उनके उन्हीं गुणों के आधार पर नाटक में भूमिकाएँ निर्मित होती थीं ताकि उनके गुणों का उपयोग हो सके। अध्ययन की दृष्टि से पारसी रंगतत्त्वों को हम इस प्रकार बाँट सकते हैं-

निर्देशक-पारसी रंगमंच-निर्देशक सर्वव्यापी व्यक्तित्व होता था। निर्देशक के सामने कोई भी नहीं बोल सकता था। निर्देशक की पसंद से ही नाटक का चुनाव और उसमें संशोधन होता था। निर्देशक हर वाक्य, पंक्ति, शेर के अर्थ को समझ कर उसे मंचन की स्वीकृति देता था। इस काल के निर्देशक नाटक की भाषा, भाव और वाक्यों के ही जानकार नहीं होते थे बल्कि चरित्र-चित्रण पर भी उतना ही अधिकार रखते थे।

निर्देशक नाटककार के साथ-साथ संगीत निर्देशक, सीन-सीनरी-निर्माता और अभिनेता सभी को अपनी निगरानी में काम करवाता था। संगीत निर्देशक का काम लेखक द्वारा लिखे गानों के बोलों की तर्ज और धुन बनाकर डायरेक्टर को सुनाना होता था। संगीत-निर्देशक वस्तुतः हरमोनियम मास्टर तथा तबला वादकों के साथ गायन के आधार पर नाटक की गति में पड़ने वाले प्रभाव को भी देखता था। इस काम के लिए उन्होंने कम्पनियों में एक छोटा और एक बड़ा हारमोनियम मास्टर रखे होते थे। बड़ा हारमोनियम मास्टर पहले अंक में ही हारमोनियम बजाता था और छोटा मास्टर दूसरे और तीसरे अंकों में अभिनय के निर्देशन में अभिनेता की कड़कदार आवाज, खड़े होने का ढंग और मंच पर चलने के लिए सधे हुए कदमों पर विशेष ध्यान दिया जाता था।

पारसी थियेटर पहले-पहल नाटक के सीन-सीनरी-रंगे पर्यो के आगे अभिनेताओं को पंक्तिबद्ध खड़े होने में विश्वास करता था पर बाद में जाकर अभिनेताओं में गति, मंच-व्यापार और कार्यों की रूप-रेखा निर्माण में यह पंक्तिबद्धता ढीली पड़ गयी। ऐसथेटिक सैन्स यानी सौन्दर्य बोध पारसी रंगमंच के लिए आवश्यक नहीं समझा गया। कलात्मक अनुभूति की कमी बाद में जाकर इसके हास का सबसे बड़ा कारण बना। इन नाटकों में अतिनाटकीय प्रदर्शन के साथ-साथ तात्कालिक रंगमंच सीन-सीनरी, ट्रिकों का उपयोग, नृत्य, गाने, विलास, रोमांस, भावुकता आदि को समय की माँग के अनुसार महत्त्व देता था। यह

नाटक दर्शक का भावुक शोषण करते हुए युद्ध-मृत्यु, अच्छा-बुरा, वियोग-मिलन आदि को इस प्रकार मंचित करता था कि वह रंगशाला से लौटते हुए आश्चर्यचकित विस्मृत, भाव-विह्वल हो जाए। इस प्रकार जो निर्देशक जितना दर्शकों की वाह-वाही लूटता था वह उतना ही व्यावसायिक दृष्टि से सफल गिना जाता था।

इस काल के प्रमुख निर्देशकों में अल्फ्रेड कम्पनी के मेहरजी सर्वेथा, न्यू अल्फ्रेड के सोहराबजी ओग्रा, अमृतलाल केशवलाल अभिनेता निर्देशक, भगवानदास, मास्टर मोहन, मास्टर निसार, सोहराबजी करेवाला, मणिकशाह, फिदा हुसैन तथा कन्हैयालाल पंवार आदि पारसी रंगमंच की जान थे।

दर्शक वर्ग—इस काल का दर्शक वर्ग नयी सामाजिकता के साथ-साथ एक अलग ढंग के मनोरंजन की माँग वाला था। संस्कृत नाट्य परम्परा के समाप्त होने पर तथा पतंगे के आक्रमणों के पश्चात आम जनता का कला प्रेम दब गया था। समय की आवश्यकता को देखते हुए पारसियों ने उन्हें जो भी दिखाया तात्कालिक दर्शक ने उसे वैसे का-वैसा स्वीकार कर लिया। निर्देशक अपने नाटकों का चुनाव इस ढंग से करते थे कि भारतीय दर्शक उसमें खो जाते थे। उनकी रुचि निर्देशक की प्रशंसा और सफलता हुआ करती थी। इन नाटकों का मंचन इस कदर प्रभावशाली होता था कि दर्शक अपनी सुध-बुध भूल जाया करते थे। कुछ बौद्धिक वर्ग के दर्शक जैसे हरिश्चन्द्र, रामकृष्णदास, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, जयशंकर प्रसाद, पं. मदनमोहन मालवीय, सरोजिनी नायडू, मोतीलाल नेहरू आदि प्रायः इस प्रकार के फूहड़ प्रसंगों के विरोध में भी थे। अधिकांश दर्शक दीर्घायें उफनते हुए दर्शकों से भरी रहती थी। हर शो के पश्चात् भीड़ का लहराता सागर अन्दर जाने के लिए बेताब दिखाई दिया करता था। कुछ उच्चकोटि के प्रदर्शनों में सम्राट जार्ज पंचम तथा रानी मेरी व गुरु शंकराचार्य जैसी विभूतियाँ भी दिखाई दिया करती थीं। धार्मिक नाटकों में भावुक दर्शक वर्ग विशेषकर स्त्रियाँ कृष्ण, राम और अन्य देवी देवताओं का अभिनय करने वालों को प्रसाद चढ़ाती और नारियल भेंट किया करती थीं। हजारों की संख्या में यह दर्शक प्रायः कम पढ़े-लिखे या अनपढ़ किस्म के लोग ही हुआ करते थे।

मंच की निर्माण योजना—पारसी रंगमंच व्यावहारिक होने के नाते अपने विशेष प्रकार के आग्रहों के लिए अपने ही द्वारा बताये गये मंच पर निर्भर करता था। यह मंच नाटक में बतलाये गए नाटककारों और दृश्यों के अनुरूप बनाया जाता था। परदों और रंगों का प्रयोग, उनकी लम्बाई और चौड़ाई, ऊँचाई तथा पक्ष निर्धारण के लिए पर्याप्त साधन जुटाये जाते थे। मंच में चोर दरवाजे तथा गुप्त गढ़ विशेष रूप से बनाये जाते थे ताकि किसी भी स्थान से अचानक देवता को प्रकट किया जा सके। ये कम्पनियों शहर-शहर में घूम कर नाटक प्रस्तुत किया करती थीं। साधारणतः इनके मंच फटे-टूटे तथा ऊपरी चटक-मटक से युक्त पर्दों द्वारा सजाये जाते थे। पारसी मंच बल्लियों, तख्तों और बांसों से बनाया जाता था। वह चतुर्भुज होता था। दृश्य विधान एक दूसरे के पीछे दूर तक अनेक पर्दों पर जाकर खत्म होते थे। इन पर्दों पर सीन-सीनरी के साथ टेब्लों, दृश्यों को भी विशेष महत्त्व दिया जाता था। पारसी रंगमंच में वह अल्फ्रेड कम्पनी का मंच अपनी चौड़ाई में 70 फीट और लम्बाई में 60 फीट का होता था। सज्जाकक्ष का माप इससे अलग होता था। आगम-निकास द्वार से लेकर मंच के अग्र भाग तक 115

फीट लम्बाई तथा 60 फीट चौड़ाई रहती थी।¹ दर्शकों के लिए टीन, चहरों एवं तख्तों के पंडाल बनाये जाते थे।²

इश्तहारबाजी अथवा विज्ञापन—किसी भी शहर में नाटक खेलने से 10-15 दिन पूर्व ही नाटक-प्रस्तुति सम्बन्धी इश्तहार प्रकाश में आ जाते थे। शहरों और कस्बों में बड़े-बड़े रंगीन इश्तहार लग जाया करते थे। इन पर अजीबोगरीब वाक्य लिखे रहा करते थे-राजकुमारी जिसने एक लंगड़े भिखारी से ब्याह कर लिया। मेनका जिसने विश्वामित्र का तप भंग कर दिया। इनके साथ-साथ अंग्रेज मेमों के डांस, फारस की हूरें, ईरान तूरान की कमसिनें, बम्बई की परियों, फलफले की जादूगरनियों के नाटक में हिस्सा लेने की बात भी होती थी। इन सबसे प्रभावित होकर भारी दर्शक वर्ग नाटक देखने के लिए टूट पड़ता था।

रंगमंच का मेकअप व साज-सज्जा—इस रंगमंच की यह विशेषता थी कि सभी कलाकार अपनी-अपनी भूमिका के अनुसार वस्त्रों का चुनाव करते थे। उनके चेहरों पर भड़कीले और शोख रंगों का लेप किया जाता था। नायिकाओं के मुखड़ों पर अबरक मलकर उसे और अधिक चमका दिये जाते थे। नाटक में भाग लेने वाले अभिनेताओं में सनियों और परियों के सिरों पर झिलमिल-झिलमिल करते मुकुट सजाये जाते थे। वेषभूषा में अधिक चटक-मटक के वस्त्र धारण किये जाते थे। पारसी रंगमंच ने इस प्रकार की साज-सज्जा को पीछे लोक नाटकों से ग्रहण किया था।

रिहर्सल पूर्वाभ्यास—पारसी थियेटर क्योंकि व्यावसायिक मंच था, इसलिए मालिक लोग रिहर्सल तब तक करवाते थे जब तक हाल की अन्तिम सीट पर बैठा हर दर्शक अभिनेता की आवाज आदि पूरी तरह न सुन ले। रिहर्सल के दौरान मंच पर सिगरेट, पान आदि का प्रयोग अभिनेता नहीं कर सकते थे। विशेष बातें जिन्हें रिहर्सल के दौरान महत्त्व दिया जाता था, उसमें एक थी अभिनेता दर्शकों की तरफ पीठ न कर सके और दूसरा प्रेम सम्बन्धी दृश्यों में आलिंगन के स्थान पर केवल हाथ पकड़ कर प्रेम की अभिव्यक्ति कर सके। आज कल की प्लेरीडिंग की तरह तब सब अभिनेता नाटक को पढ़ते थे और संवादों को याद करते थे, जिसे मुँह चढ़ाना कहा जाता था। फिर उन वाक्यों को याद करते थे। याद होने पर खड़े होकर अभ्यास करते थे, जिसे आजकल ब्लाकिंग करना कहते हैं, इन सबमें पाठ शुद्धि को प्रायः सभी प्राथमिकता देते थे। रिहर्सल की इस प्रक्रिया को मुद्राओं के साथ अभिनय, प्रवेश और प्रस्थान का प्रभावपूर्ण बनाना, मंच के बीच में खड़े होकर बोलना, तीसरे गोल (विंग) से दूसरे गोल के सामने आकर अभिनय-अभ्यास, फुल-लाइट के पास जाकर वाक्-अभिनय का अभ्यास तथा जरूरी एक्शन का अभ्यास आदि पूरे कार्यक्रम को एक अनुशासन ढंग से करता था।

इस पूरी प्रक्रिया में फुल लाइट पर अभिनेता को प्रभावशाली दिखलाने के लिए उस पर एक विशेष प्रकार की प्रकाश व्यवस्था की जाती थी। जरूरी एक्शन में अभिनेता को पैर पटकने, छाती पीटने, रोने, करुण विलाप और कड़कदार आवाज का अभ्यास बार-बार करवाया जाता था। इसके साथ प्रापरटीज के

¹ मेरा नाटक काल : श्री राधेश्याम कथावाचक : पृ० 156

² रंगमंच : श्री बलवंत गार्गी, पृ० 174

रूप में सीन-सीनरी, प्रकाश व्यवस्था, रंग-प्रभाव, वस्त्र आभूषण, नृत्य संगीत आदि हफ्तों पहले ही तैयार कर लिए जाते थे। नाटक जब मंचित होता था तब मैनेजर और निर्देशक दर्शकों में बैठकर देखते थे कि उनको कहाँ वन्समोर की तारीफ मिली, कहाँ नाटक सपाट गया, कहाँ जनता रोई, कहाँ हंसी का पुट आया। इस प्रकार अगले शो में वह सब बातें निकाल दी जाती जो दर्शकों को पसन्द नहीं आती थी। कुल मिलाकर मेहनत के रूप में नाटक की सफलता के लिए पारसी रंगमंच हर प्रकार के काम के लिए हमेशा तैयार रहता था।

प्रस्तुतीकरण—पारसी रंगमंच 'रूपक' और ड्रामा इन दो विरोधी नाट्य-परम्पराओं के बीच एक विभाजक रेखा न खींच पाने से एक तरह से बहुउद्देश्यीय प्रभाव से ग्रस्त रहा। इसमें अतिनाटकीयता के कारण क्लाईमेक्स, मेलोड्रामा, भयावह दृश्यों और अन्य कार्यों की रचना होती थी। एक दूसरी तरह का भी पारसी रंगमंच साथ-साथ रहा था जिसमें उपदेश, समाज-सुधार और धर्म की झँकी, रामलीला, कृष्णलीला की चौकी का वर्णन होता था। अजब था उस संक्रान्तिकाल के दर्शक की मनोदशा और मनोरंजन-स्तर। वह एक ही नाटक में परस्पर-विरोधी न जाने कितनी चीजें, जश्न, दिल-बहलाव, उपदेश, जोश, आँसू और विस्मय, आश्चर्य, नाच-गाने, युद्ध-शांति, तड़क-भड़क, शोर-चीख, विलाप और न जाने क्या।¹ इस प्रकार यह काल अपने दर्शक-बोध के आधार पर युद्ध व्यावसायिकता से मिलकर सृजन प्रतिभा से प्रायः सही रूप में ही हमारे सामने आता है।

अंक और दृश्य—जहाँ तक अंक और दृश्य का प्रश्न है इसमें मूर्त पीठिका कथ्य के अनुसार, घटायी जाती थी। उदाहरण के रूप में महाभारत और वीर अभिमन्यु नाटक को पहले दृश्य इसलिए लम्बे रखने पड़े क्योंकि दर्शक को महाभारत और गीता सार भी बतलाना होता था।

पारसी के अधिकांश हिन्दी नाटक संस्कृत नाटक की परम्परा पर देवी-देवताओं के मंगलाचरण पर आरम्भ नहीं होते थे। इसका कारण यह भी था कि पारसी हिन्दी रंगमंच के नाटककार और निर्देशक विभिन्न धर्मों से सम्बन्धित थे। अतः उन्होंने अपनी श्रद्धा को दर्शक की श्रद्धा के साथ जोड़ा हुआ था। उदाहरण रूप में 'बेताब' आर्यसमाज के आधार पर 'आर्य' और आर्यपुत्र से, राधेश्याम सनातन धर्म के आधार पर हिन्दू देवी देवताओं से तथा आगा हश्र रब की शान न्यारी-न्यारी, बलिहारी से अपना-अपना नाटक आरम्भ करते थे।

प्रवेश और प्रस्थान—पारसी रंगमंच पर प्रवेश और प्रस्थान अति नाटकीय परिस्थितियों पर रखा जाता था जिससे दर्शक चमत्कृत हो जायें। कई बार कथा में सहसा गीत या धमाका पैदा करने के लिए अभिनेताओं का प्रवेश और प्रस्थान करवा दिया जाता था। पारसी रंगमंच की सबसे बड़ी विशेषता अभिनेता के प्रवेश और प्रस्थान की यह थी कि इससे उसके खिलापु परिवेश तैयार होने से अभिनेता के मनोभावों में तीव्रता और नाटकीयता आने लगती थी।

¹ पारसी-हिन्दी रंगमंच-डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल, पृष्ठ 101 पहला संस्करण 1973

जहाँ तक प्रस्थान का प्रश्न है अभिनेता दृश्य में अपनी पूरी बात कह कर ही प्रस्थान करता था। इस प्रतिक्रिया कि वह प्रभाव की चरम सीमा तक दर्शक को पहुँचाने के लिए अपना पूरा जोर लगाता था। कई बार प्रस्थान या-चरित्र में अचानक एक गति देने के लिए, या दर्शकों को आश्चर्यचकित करने के लिए या दृश्य बदलने के लिए भी किया जाता था। प्रस्थान की इन पद्धतियों पर शेक्सपियर और विक्टोरियन नाट्य शैलियों का प्रभाव देखा जा सकता है। इस प्रकार के प्रस्थान पूरे संस्कृत साहित्य या लोकविधा में कहीं भी उपलब्ध नहीं होते।

संगीत और नृत्य—पारसी रंगमंच में समूह गान, एकांकी गान, सवाल जवाबी गान तथा दो कंठगान होता था। नृत्य में इसी तरह एकांकी नृत्य, दो, तीन समूह नृत्य होता था। यह नृत्य प्रायः स्त्री पुरुष के साथ छाया-नृत्य होते थे।

इस प्रकार पारसी नाटक अपनी समूची प्रक्रिया के साथ पौराणिक, रोमानी तथा पुनरुत्थानवादी प्रवृत्तियों के साथ लगभग एक सौ वर्ष भारतीय मानस-पटल पर छाया रहा। इन तीन प्रवृत्तियों के साथ-साथ सामाजिक और पुनरुत्थानवादियों में राधेश्याम कथावाचक, सामाजिक नाटकों में जोहर तथा कृष्णचन्द्र जेबा राजनीतिक नाटककारों में गिनाये जा सकते हैं।

हास के कारण—पारसी रंगमंच के हास का सबसे बड़ा कारण उसकी अति-नाटकीयता और व्यावसायिकता था। धीरे-धीरे विकसित और जागृत होता भारतीय समाज विशेषकर बौद्धिक वर्ग अति नाटकीय से हटकर यथार्थ की तरफ बढ़ने लगा था। कलात्मक सौन्दर्य के साथ-साथ उसमें मानवीय मूल्यों की कमी धीरे-धीरे पढ़े लिखे वर्ग के समाने आनी शुरू हो गयी थी। नाटक धीरे-धीरे कथोपकथन की वाचालता से निकल कर यथार्थ संवादों की ओर ध्यान देने लगा था। अतिनाटकीयता के स्थान पर नाटककार ने सांकेतिक रंगकार्य से काम लेना शुरू कर दिया था। वस्तुतः उसकी फूहड़ता ही पारसी रंगमंच के हास का कारण बनी। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र सबसे पहले नाटककार थे जिन्होंने इस अतिनाटकीयता विधा के विरोध में हिन्दी के यथार्थवादी नाटकों की परम्परा डाली। अभिज्ञान की शकुन्तला और रामायण की सीता को जब उन्होंने पारसी मंच पर भद्दे रूप से नाचते हुए देखा तब से उन्होंने पारसी थियेटर के विरोध में लिखने का निर्णय किया। इसके पीछे पनपती हुई एक और भावना भी थी। उस काल के बुद्धिजीवियों ने अंग्रेजों के प्रति 'असहयोग', सत्याग्रह, संघर्ष वाला दृष्टिकोण इस थियेटर के प्रति इसे भ्रष्ट अश्लील, कृत्रिम, अराष्ट्रीय तथा शत्रु कह कर अपनाया।

इस प्रकार पारसी रंगमंच को थियेटर और ड्रामा कहकर हिन्दी नाटककारों ने उसे अपने से दूर कर दिया। यही हिन्दी नाटक को साहित्यिक बनाने के लिए उन्होंने भाव, विषय, भाषा-अभिव्यक्ति आदि सभी स्तरों पर नयी शुरुआत की। इसे गम्भीर और उपदेशमय बनाने के लिए यह आवश्यक हो गया कि इसे संस्कृत नाटक से जोड़ा जाये। यही वह बिन्दु है जहाँ से हिन्दी नाटक ने पारसी रंगमंच का रहा-सहा धैर्य भी समाप्त करना चाहा। यह समय राष्ट्रीय आन्दोलन, जलियाँवाला बाग काण्ड का समय था और समय था उभरती हुई राष्ट्रीयता का। एक तरफ भारतेन्दु, प्रसाद के नाटक थे तो दूसरी ओर पारसी नाटक। एक तरफ भारतेन्दु का अन्धेर नगरी, प्रसाद के चन्द्रगुप्त, स्कन्दगुप्त, ध्रुवस्वामनी थे, तो दूसरी तरफ

‘बेताब’ और कथानायक के ‘महाभारत’, और ‘वीर अभिमन्यु’ और महाभारत नाटक थे। दिलचस्प बात यह थी कि विरोध में लिखने पर भी भारतेन्दु तथा प्रसाद के नाटकों पर भी पारसी रंगमंच का प्रभाव अपने आप आ ही गया था। इस कड़ी में आगे लक्ष्मीनारायण मिश्र, सेठ गोविन्ददास, हरिकृष्ण प्रेमी तथा गोविन्दवल्लभ पंत आदि नाटककारों ने भी खुलकर पारसी रंगमंच के विरोध में सुधारवादी और सामाजिक नैतिक क्रान्ति के अनेक-जैसे अशोक, हर्ष, देवसेना, कर्णवती, बुद्ध, शिवाजी आदि नाटक लिखे।

एक तरफ गौरवपूर्ण इतिहास, क्रान्तिकारी समाज के पात्र मानव प्रतीकों के रूप में आ रहे थे, वहीं दूसरी तरफ पारसी थियेटर अपनी उसी व्यावसायिकता में राष्ट्रीय चेतना की तस्वीर भी प्रस्तुत करता जा रहा था। इसी समय हिन्दी, उर्दू का मसला आगा हश्र तथा हिन्दी नाटककारों में भयानक प्रतिस्पर्धा पर पहुँचने लगा। धीरे-धीरे ‘अतिशुद्धि’ की दृष्टि से हिन्दी नाटक ने पारसी थियेटर को अस्वीकार कर दिया। वह पारसी थियेटर जो हिन्दी भाषा क्षेत्र में हिन्दी जनता के लिए ही शुरु हुआ उसे वहीं के लोगों ने अन्त में अस्वीकार भी कर दिया। इसी के साथ धीरे-धीरे रामलीला नाटक मंडलियाँ, ‘मेच्योर’ और ‘अमेच्योर’ ग्रुप अपनी आधुनिक प्रयोगात्मक दृष्टि से पारसी परम्परा को उपेक्षित करते आगे बढ़ती गयी। इन नाटककारों ने परम्परावादी मंच का विरोध अपने-अपने ढंग से किया। इन प्रयोगों में आधुनिक टेकनॉलोजी और वैज्ञानिक दृष्टि ने उनको और अधिक प्रभावशाली बनाने में उनकी मदद की। कथ्य से लेकर प्रवेश, प्रस्थान, नृत्य, ध्वनि प्रभाव, रंग व्यवस्था, प्रकाश व्यवस्था, बिना सेट के (वेयर स्टेज) और न जाने क्यों कथोपकथन को लेकर आज इतना आगे निकलने पर भी पारसी रंगमंच का प्रभाव हिन्दी और अन्य भाषाओं के नाटकों में विशेष नौटंकियों में देखा जा सकता है।

आज मणिमधुकर की ‘दुलारी बाई’, ‘रस गंधर्व’ तथा मुद्रा राक्षस का आला अफसर नौटंकियाँ बार-बार क्यों पारसी रंगमंच को देखने के लिए विवश करती हैं। हबीब तनवीन का **मिट्टी की गाड़ी**, कुमार स्वामी का **पागल राजा**, **तीन बेटियाँ** आदि नाटक पारसी रंगमंच परम्परा से अछूते नहीं कहे जा सकते यहीं नहीं आज के अन्य बहुत से नाटक अप्रत्यक्ष रूप से प्रत्यक्ष रूप में पारसी रंगमंच से जरूर प्रभावित हैं। वस्तुतः आज का हिन्दी नाटक पारसी रंगमंच के अनेक तत्त्वों में ‘लोकनाट्य’ तत्त्व से अभी भी पूरी तरह मुक्त नहीं हो पाया है। डॉ. बच्चनसिंह से पूरी तरह सहमत हो कहा जा सकता है कि क्या नौटंकी और पारसी नाटक में कोई विशेष अन्तर है जो हम नौटंकी से तो मोह रखें पर पारसी नाटक को दृष्टि विगत ही कर दें। पारसी नाटक समय की उपज थे। इन्होंने नाटकों के कथानकों को बदला और हिन्दी को एक रंगमंच दिया।¹ आज जरूरत इस बात की है कि धरोहर के रूप में इस विशाल पारसी थियेटर परम्परा की गुम अनेक कड़ियों को ढूँढ़ें और पारसी रंगमंच के स्वर्णिमकाल के छिपे हुए अन्य पहलुओं को जानें। इस प्रकार की ऐतिहासिक जानकारी निश्चित रूप से आधुनिक नाट्य रचना और नाटक सम्पदा में वृद्धि करेगी। हमें असल में यह जानना है कि पारसी थियेटर का नाम आते ही हमारे सामने घिनौनी, बचकानी, भौड़ी, अश्लील और अधकचरी तस्वीर क्यों उभरती है। इसमें कितनी सच्चाई है? और इन सबसे बढ़कर क्या यह मंचन की दृष्टि से आज हमें किसी प्रकार का लाभ दे सकती है।

¹ हिन्दी नाटक-डॉ. बच्चन सिंह, पृ. 18

वस्तुतः इसकी खोज आज इसकी प्रासंगिकता के साथ बुरी तरह जुड़ी हुई है। अपने समय की इतनी समृद्ध परम्परा से कट कर हम आज कैसे नाटक के मुहावरे को पकड़ने का दावा कर सकते हैं। यह एक ऐसा प्रश्न है जिसके साथ हिन्दी साहित्य का काल-विभाजन जुड़ा हुआ है-डार्विन की थ्योरी की भाँति एक मीसिंग लिंकिंग रीति काल और भारतेन्दु के बीच के पचास वर्ष से भी अधिक समृद्ध परम्परा का।

संदर्भ-ग्रन्थ एवं पत्रिकाएँ

1. *प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक*-डॉ. जगदीशचन्द्र जोशी
2. *मेरा नाटक-काल*-पं. राधेश्याम कथावाचक
3. *हिन्दी नाटक: उद्भव और विकास*-डॉ. दशरथ ओझा
4. *बेताब चरित्र*-श्री नारायण प्रसाद 'बेताब'
5. *परिशोध-19वां अंक*-पंजाब यूनिवर्सिटी, हिन्दी विभाग
सम्पादक डॉ. इन्द्रनाथ मदान, डॉ. मैथिलीप्रसाद भारद्वाज चण्डीगढ़-14
6. *पारसी-हिन्दी रंगमंच*-डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल
7. *रंगमंच*-बलवंत गागी

संभावित प्रश्न

1. ठेठर (थियेटर) व पारसी रंगमंच से क्या अभिप्राय है? पारसी रंगमंच का उद्भव और विकास बतलाते हुए इसकी तात्कालिक आवश्यकता स्पष्ट करें।
2. 'पारसी रंगमंच' के आधारभूत मूल तत्त्वों पर प्रकाश डालते हुए इसके हास के कारण बतायें।
3. 'पारसी रंगमंच' क्या वास्तव में व्यावसायिक मंच था? क्या कारण है कि अपनी फूहड़ता, अश्लीलता और भोंड़ेपन के बावजूद आज का हिन्दी नाटक इसके प्रभाव से पूरी तरह मुक्त नहीं हो पाया? युक्ति-युक्त उत्तर दीजिए।

(ग) पृथ्वी थिएटर्स

डॉ. सत्येन्द्र तनेजा
पूर्व रीडर, हिन्दी विभाग
हंसराज कॉलेज,
दिल्ली विश्वविद्यालय

पृथ्वी थिएटर्स (i)

अभिप्राय और परिप्रेक्ष्य

सौन्दर्य और प्रतिभा के धनी 'पृथ्वीराज कपूर' का जन्म 3 नवम्बर 1906 को पेशावर के सुसंस्कृत और सम्पन्न (पंजाबी) परिवार में हुआ। दादा तहसीलदार और पिता पुलिस इन्स्पेक्टर थे। 3 वर्ष की आयु में माँ की असामयिक मृत्यु हो जाने के कारण पृथ्वीराज का पालन-पोषण दादा-दादी के यहाँ लायलपुर के समुन्द्री कस्बे (पाकिस्तान) में हुआ। दादा से अच्छे पारिवारिक संस्कार मिले, अनुशासन का आग्रह तो रहना था, चरित्र की दृढ़ता, परिश्रम, उदारता, सेवा की भावना, कला-प्रेम के साथ-साथ शारीरिक व्यायाम का नियमन भी रहा। प्राइमरी शिक्षा समुन्द्री में हुई। 1922 तक पढ़ाई लायलपुर के खालसा स्कूल में चली, जहाँ से पृथ्वीराज ने मैट्रिक की परीक्षा पास की। उन दिनों सुपरिचित राजनेता मास्टर तारा सिंह इस स्कूल के हैडमास्टर थे। विश्वविद्यालय शिक्षा पाने के लिए वे पेशावर के एडवर्स कालेज में दाखिल हुए, जहाँ उन्होंने 1927 में बी.एस. आनर्स की डिग्री प्राप्त की। इसी वर्ष 'लॉ' पढने के लिए वे लाहौर चले आए। वे एल.एल.बी. पूरी नहीं कर पाए। उनका विवाह 19 वर्ष की आयु में हो गया और एक वर्ष बाद वे एक पुत्र (राजकपूर) के पिता हो चुके थे।

शिक्षा-दीक्षा के दौरान पृथ्वीराज के व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास हुआ। व्यायाम के प्रति सतर्क तो वे रहे ही, खेल-कूद में वे सदा अग्रणी रहे। उन्हें, संस्कृत, फारसी, उर्दू, पंजाबी, पश्तो, बंगला के अतिरिक्त हिन्दी और अंग्रेजी भाषा का विशेष ज्ञान था। उनके अध्ययन और मनन का व्यापक क्षेत्र रहा। उनकी शेक्सपियर, बेकन, बर्नार्ड शॉ, गालिब, नजीर अकबराबादी, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, इकबाल, फ़ैज और निराला के साहित्य में गहरी रुचि रही। वे अक्सर इनके उदहरण दिया करते थे। वे विद्वानों, साहित्यकारों और कलाकारों का गंभीरता और निष्ठा से सम्मान करते थे। ज्योतिष की उन्हें अच्छी जानकारी थी। गुरुग्रंथ साहब ही नहीं, वे पंजाबी लोक गीतों के प्रेमी रहे। आर्य समाज के विचारों-संस्कारों से अनप्रेरित थे। स्वाधीनता संग्राम में उत्कर्ष के साथ-साथ वे गाँधी जी के निकट आते गए। उन्होंने अपना पहला महत्वपूर्ण नाटक 'दीवार' बापू को इस प्रकार समर्पित किया 'बापू' मुझे आशीर्वाद दो कि मैं अपने आपको और अपनी कला को उस बुलंदी पर ले जा सकूँ, जहाँ से आपके चरण छू पाऊँ और अपने आपको और अपनी कला को देश, जनता और मानवता की सेवा में अर्पण कर सकूँ। इस पृष्ठभूमि में पल्लवित व्यक्तित्व में निर्भीकता, नेतृत्व के गणों का आना और व्यापक मानवीय चिंतन का विकसित होना स्वाभाविक है।

अभिनय के प्रति पृथ्वीराज का एक नैसर्गिक आकर्षण रहा है जो धीरे-धीरे उनकी सर्जनात्मक अभिव्यक्ति का माध्यम बन गया। इसके स्पष्ट संकेत बाल्यावस्था में मिलने लगे। प्राइमरी शिक्षा के दौरान उन्होंने सत्य हरिश्चन्द्र और रामलीला में भाग लेना प्रारंभ कर दिया था। समुन्द्री की रामलीला में उनका पहला मंचावतरण हुआ। एडवर्ड कॉलेज में प्रो. जयदयाल ने पृथ्वीराज की अभिनय-प्रतिभा को पहचाना और उनको उत्कर्ष के पूरे अवसर प्रदान किए। कॉलेज की ड्रामेटिक सोसायटी की ओर से खेले गए अंग्रेजी एकांकियों में पृथ्वीराज ने अग्रणी भूमिका निभाई। कुछ समय तक उन्होंने लड़की की भूमिका की। इस प्रकार कॉलेज जीवन में प्रो. जयदयाल ने पृथ्वीराज को रंगकला का सही प्रशिक्षण दिया। थिएटर के अनुभव और संस्कार विविध एवं उत्साहवर्धक होने के कारण इतने पुष्ट और दृढ़ होते गए कि पृथ्वीराज का पढ़ाई से मन हटने लगा। इस मनःस्थिति ने लाहौर के बदले वातावरण में आकर एक नया मोड़ लिया। यहाँ फिल्मों की अभिनय और प्रतिष्ठा की चर्चा थी। इधर पृथ्वीराज का निखरता सुन्दर, आकर्षक एवं प्रभावशाली व्यक्तित्व और थिएटर की सफलता से पैदा हुआ आत्मविश्वास, इन सब की मनोभूमि में वे फिल्मों की ओर आकृष्ट हुए। ऐसे माहौल में वे 1928 में लॉ की परीक्षा में फेल हो गए। इन्हीं दिनों कहीं से 200 रुपए जुटाए और पढ़ाई तथा गृहस्थी के बंधनों को तोड़कर फिल्म जगत् में भाग्य आजमाने के लिए कलकत्ता भाग गये।

कलकत्ता के फिल्म जगत् में पृथ्वीराज को न अपेक्षित अवसर मिले और न वे अपनी कोई पहचान बना सके। 1929 में वे बम्बई आ गए। मूक फिल्मों का जमाना था, उन्हें शुरू-शुरू में एक्स्ट्रा की भूमिकाएँ मिलीं। उन्होंने 9 मूक फिल्मों में कार्य कर कलाकार के रूप में अपनी पहचान बनाई। पहली सवाक् फिल्म 'आलम आरा' में उन्होंने कार्य किया। धीरे-धीरे प्रतिष्ठा मिलने लगी और पैसा आने लगा, परन्तु कलाकार पृथ्वीराज में आंतरिक छटपटाहट और अभाव दूर नहीं हुआ। दरअसल इस कलाकार को फिल्म और थिएटर का पर्याप्त अनुभव, कुशलता एवं दक्षता प्राप्त हो चुकी थी। दोनों माध्यमों के कलात्मक अंतर और सीमाओं को वह परखने-समझने लगा था। थिएटर, विशेष रूप से अभिनय के अनूठे जीवंत और प्राणवान सुख-संतोष के अभाव से वह अशांत और अतृप्त था। अपने फिल्मी कैरियर के उत्कर्ष बिंदु पर सभी प्रकार के प्रलोभनों को छोड़कर पृथ्वीराज का ग्रेट एण्डरसन कंपनी में अभिनेता कलाकार के नाते शामिल होना चकित नहीं करता। उन्हें अपनी मनोरचना के अनुकूल कला-पथ मिला। अंग्रेजी नाटकों में अभिनय करने का उन्हें कालेज से अनुभव था ही इसलिए यहाँ नई भूमिकाओं में मनोयोग से कार्य करने लगे। एण्डरसन कंपनी एक व्यावसायिक थियेटर कंपनी थी जो अंग्रेजी में नाटक प्रस्तुत करती थी। कंपनी ने देश भर की यात्रा में एक वर्ष में 14 नाटक प्रस्तुत किए। यहाँ व्यावसायिक दक्षता और कलात्मक सफलता पर बल दिया गया। कंपनी महीने में दो नाटक तैयार करती थी। यहाँ पृथ्वीराज को हैमलेट, जूलियस सीजर, मर्चेन्ट ऑफ वेनिस, जैसे नए नाटकों में भाग लेने के अवसर मिले। यहाँ रहकर पृथ्वीराज को थिएटर कंपनी की कार्य-प्रणाली, अर्थव्यवस्था आदि कई संगठनात्मक बातों की जानकारी मिली। बड़े-बड़े नगरों का दौरा कर यह कंपनी दिसम्बर 1932 में कलकत्ता पहुँची और वहीं यह टूट गई और समाप्त हो गई। पृथ्वीराज को एक आघात फिर पहुँचा, परन्तु एक संवेदनशील और प्रतिष्ठित अभिनेता होने के कारण 'न्यू थिएटर्स' जैसी श्रेष्ठ फिल्म कंपनी में तत्काल जगह मिल गई। 1933-39 तक न्यू थिएटर्स में रहकर पृथ्वीराज ने फिल्म जगत् में बहुत ख्याति अर्जित की। उनकी

सीता और विद्यापति जैसी श्रेष्ठ लोकप्रिय फिल्में इसी दौर में सामने आईं। अभिनय-पटुता, मनोहारी व्यक्तित्व और आकर्षक भंगिमाओं के साथ चरित्र की पहचान के कारण उनका राष्ट्रीय-स्तर पर सम्मान बढ़ने लगा। वे कलकत्ता से बम्बई आ गए। फिल्म जगत् में चुनौतीपूर्ण भूमिकाओं में समर्थ सिद्ध होने के कारण वे 1940-44 में अपनी कीर्ति के शिखर पर थे। इस अवधि की उल्लेखनीय फिल्में हैं-उजाला, गोरी, सिकन्दर, देवदासी, वैभव और वर्चस्व के इस चरण में एक घटना ने पृथ्वीराज को ऐसा बदला कि सिनेमा-जगत् का कोई सम्मोहन उन्हें रोक न सका। यह उनके जीवन में दूसरी बार हुआ।

उद्भव और विकास—बम्बई का एक थिएटर-ग्रुप नारायण प्रसाद बेताब का शकुन्तला नाटक प्रस्तुत कर रहा था। किन्हीं अन्दरूनी कारणों से ग्रुप बिखर गया और मंचन बीच में रुक गया। कुछ समर्पित कलाकार पृथ्वीराज के रंगप्रेम से परिचित थे, उनसे विशेष अनुरोध किया गया कि वे सारा कार्यभार सम्भाल लें। पृथ्वीराज के लिए निर्णय इतना आसान न था, वे इस प्रस्ताव के तात्पर्य को समझ रहे थे। फिल्म जगत् में उनकी कीर्ति पताका चारों ओर फहरा रही थी। उसे छोड़ने का अर्थ था समृद्धि के स्थान पर संघर्ष का चुनाव। दूसरी ओर प्रौढ़ एवं परिपक्व होने के कारण वे बहुत अच्छी तरह महसूस कर चुके थे कि सर्जनात्मक परितोष और परितृप्ति का अनुभव रंगमंच पर ही मिलेगा। उनकी अविस्मरणीय स्थापना ताजा हो गई—मंच, अभिनेता का स्वर्ग है। अपने इस स्वर्ग को लौटने में उन्हें कोई कठिनाई नहीं हुई। परिणाम निकला जनवरी, 1944 में पृथ्वी थिएटर्स का गठन।

पृथ्वी थिएटर्स का शुभारंभ शकुन्तला के मंचन से हुआ। पारसी थिएटर के श्रेष्ठ और कृती नाटककार नारायण प्रसाद बेताब ने इसका नाट्यालेख तैयार किया। इसका रंग विधान पारसी थिएटर के अनुरूप तो होना था, पर पृथ्वी थिएटर्स में इसका मंचन परदों पर नहीं हुआ। प्रस्तुति-परिकल्पना यथार्थवादी होते हुए भी पारसी थिएटर्स की तामझाम छाई रही। दृश्य-बंध, साज-सज्जा, वेशभूषा आदि दृश्य तत्त्वों के आग्रह ने संवेदना और सुरुचि की संभावना को दबा दिया। राजा दुष्यंत की भूमिका में पृथ्वीराज में प्रभाव-शक्ति तो थी, परन्तु वे उसके चरित्र की प्राणवत्ता को साकार न कर सके। 'शकुन्तला' के अनुवाद की भाषा में प्रचलित शब्दावली अधिक थी, काव्य-तत्व कम था। उच्चारण भी उपयुक्त न था। ऐसा लगता था कि नाटक के आलेख, प्रदर्शन-पद्धति तथा ग्रुप के कलाकारों के बीच अपेक्षित तालमेल तथा दृष्टि का अभाव था। इस प्रस्तुतीकरण के स्वरूप और स्तर से यह महसूस नहीं हुआ कि एक क्लासिक नाट्य कृति का मंचन देख रहे हैं। इसमें कालिदास की आत्मा नहीं आ पाई। शकुन्तला पृथ्वी थिएटर्स की प्रकृति के अनुकूल न था।

जिस समय पृथ्वीराज ने अपना ग्रुप स्थापित करने का निर्णय लिया था, तब देश-विदेश की परिस्थितियों में असाधारण उथल-पुथल और अशांति व्याप्त थी। सारे विश्व पर महायुद्ध का विकराल रूप छाया हुआ था। 1942 में कांग्रेस ने 'भारत छोड़ो', 'करो या मरो' के नारे देकर स्वाधीनता संग्राम को नई ऊर्जा और सक्रियता दी। 1943 में बंगाल में भयानक अकाल ने सारे देश की अन्तश्चेतना को झकझोर दिया। साम्राज्यवादी शक्ति द्वारा आयोजित विनाश की इस अमानुषिक घिनौनी लीला का देशव्यापी प्रभाव पड़ा। शिमला कांग्रेस में देश की स्वतंत्रता के राजनीतिक दावपेंच चलने लगे। भेदनीति को सफल करते और स्थिति का अनुचित लाभ उठाते हुए मुस्लिम लीग ने बहुत ही कड़ा संकीर्ण और वैमनस्यपूर्ण

रुख अपनाया। इसके घातक परिणाम निकले। सारे देश में साम्प्रदायिक द्वेष की आग फैल गई। कांग्रेस को विवश होकर देश का बंटवारा मानना पड़ा। ऐसे वातावरण में स्वाधीनता की ज्वाला मंद नहीं पड़ी। नेताजी सुभाषचन्द्र बोस और आई.एन.ए. ने अपने मोर्चे पर अंग्रेजों को आतंकित कर रखा था। लाल किले में इसके तीन अधिकारियों-सहगल, दिल्ली, शाहनवाज पर चले मुकदमे ने इस ज्वाला को प्रखर किया। नौ-सेना के साहसी सेनानियों की हड़ताल ने ब्रिटिश सरकार की जड़ें हिला दीं। राजनैतिक आंदोलन और अशांति की इन अनिश्चयपूर्ण परिस्थितियों में पृथ्वी थिएटर्स की पहली जनवरी, 1944 में स्थापना हुई। पृथ्वीराज ने सीधे किसी राजनैतिक गतिविधि में भाग नहीं लिया, पर देश जिन समस्याओं और सवालों से आंदोलित हो रहा था, उनकी अभिव्यक्ति उनके चिंतन और लेखन में हुई। वे अपने युग के अन्तर्विरोधों को समझ रहे थे। वे गाँधी जी से बहुत अनुप्राणित थे। राष्ट्रवाद अपने मानवीय अर्थों में उनके सभी नाटकों में मुखरित हुआ है। प्रतिबद्धता को अपना तात्पर्य देते हुए पृथ्वी थिएटर्स ने सार्थक और प्रासंगिक थिएटर की स्थापना की। इस संदर्भ में यह उल्लेखनीय है कि इप्टा की स्थापना भी पहली मई, 1943 में बम्बई में हुई। रंगमंच को सीधे जनचेतना और जनजागरण का माध्यम मानते हुए इप्टा ने नए प्रकार के नाट्यालेख और नई प्रदर्शन-पद्धति का सूत्रपात किया।

‘शकुन्तला’ पृथ्वी थिएटर्स का पहला प्रस्तुतीकरण अवश्य था, परन्तु उसका वास्तविक शुभारंभ अगस्त, 1945 में रायल आपेरा हाउस में ‘दीवार’ के प्रथम प्रदर्शन से हुआ। डेढ़ वर्ष पृथ्वीराज एक ऐसे समर्थ आलेख की तलाश में रहे, जिसमें अपने युग, समाज और जीवन में उभरते सवालों की प्रत्यक्ष और सजग अभिव्यक्ति हो। दीवार एक ऐसी सही मिसाल है जिसमें आपसी द्वेष और स्वार्थपरता के कारण 1945 में ही देश के विभाजन के संकेत मिलते हैं। इस प्रकार दीवार (1945) से शुरू हुई यह नाट्य यात्रा गद्दर (47) पठान (47) आहुति (49) कलाकार (51) पैसा (53) किसान में समाप्त हुई। सात नाटक पृथ्वी थिएटर्स के प्रयोजन और लक्ष्य को रेखांकित करते हैं। ये नाटक अपने समय के विविध प्रश्नों को यथार्थवादी धरातल पर उठाते हैं, पर इनका समाहार एक समग्र भावपरक बिंदु पर हुआ है। इनमें पृथ्वीराज के व्यक्तित्व और चिंतन की गहरी छाप है। गाँधी जी का सबल व्यक्तित्व पृथ्वीराज का सदा प्रेरणा-स्रोत रहा है। राष्ट्र की एकता और अखंडता, पारस्परिक सौहार्द, उदार जीवन दृष्टि, संयम और सादगी की जीवन पद्धति और आध्यात्मिक मूल्यों का अनुसरण जैसे आदर्श वहीं से अपनाए गए हैं। पृथ्वीराज की चिन्ता के केन्द्र में साम्प्रदायिकता का प्रश्न रहा है, यहाँ वे व्यावहारिक और निर्भीक होकर गाँधी जी की तुष्टीकरण की नीति और मुस्लिम लीग की संकीर्णता की निंदा करते हैं। किशोरावस्था में पृथ्वीराज पर आर्य-समाज का ऐसा अमिट प्रभाव पड़ा कि उन्होंने आजीवन देशानुराग और भारतीय आदर्शों को लेकर कोई समझौता नहीं किया। यह अभिव्यक्ति उनके नाटकों में हुई।

1945 से अंग्रेजों की कूटनीति भारत विभाजन के रूप में सफल दिखाई देने लगी। देशवासी संशंकित ही नहीं आतंकित भी थे। पृथ्वीराज ने अपने पहले नाटक ‘दीवार’ में इसी सवाल को प्रतीकात्मक शैली में प्रस्तुत किया। बड़ा भाई सुरेश और छोटा भाई रमेश अपनी जमींदारी को पारस्परिक स्नेह-सौहार्द से चला रहे थे। किसानों के साथ अपनत्व और समानता का व्यवहार होने के कारण टकराहट की स्थितियाँ नहीं थी। एक आकर्षक विदेशी महिला ने अतिथि के नाते इन भाइयों के यहाँ

आश्रय लिया। उसका गूढ़ प्रयोजन सारी जमींदारी हथियाना था। दोनों भाइयों के सरल-उदार व्यवहार का अनुचित लाभ उठाते हुए वह दोनों भाइयों में ईर्ष्या-द्वेष और बंटवारे को गाँठ डालने में सफल हो गई। दोनों कठपुतली की तरह उसके इशारे पर नाचने लगे। दीवान को अपने साथ मिलाकर किसानों पर शोषण होने लगा। हाहाकार मचने लगा, वैमनस्य और अराजकता फैलने लगी। विदेशी महिला का षड्यंत्र सफल हुआ, भाइयों के बीच दीवार खड़ी हो गई। भूचाल आया, माँ की मूर्ति हिलने लगी। पत्नियों (रमा और शीला) की सूझबूझ से भाइयों ने अंतःकरण की आवाज को सुना और विदेशियों की कूटनीति को पहचाना। दीवार तोड़ दी गई और 'हम एक थे, एक हैं और एक रहेंगे' की सामूहिक आवाज गूँज उठी। इसी प्रकार देश के विभाजन की चिन्ता को एक आशावादी स्वर प्रदान किया।

नाटक का कथानक पारिवारिक है, परन्तु संकेत राजनैतिक है। नाटक में संघर्ष की स्थितियाँ बहत स्पष्ट और विश्वसनीय हैं। पात्रों का व्यवहार प्रत्यक्ष और एक आयामी है। नारी प्रेरणा और शक्ति का स्रोत है। रमा राष्ट्रीय भावनाओं को जगा रही है-भाइयों की लड़ाई देश की लड़ाई बन गई। उसने किसानों को सम्भाला। तीन अंकों में विभाजित नाटक के कार्य-व्यापार में गति और प्रवाह है। मंगलाचरण माँ के पूजा के गीत से और भरत-वाक्य की एकता के गीत से हुआ। नेपथ्य गीत 'हर ओर अंधेरा, भूखा हूँ मैं, प्यासा हूँ मैं, नंगा ओर मुहताज, का नाटकीय लाभ उठाया गया है। दृश्य-सज्जा वेशभूषा और भाषा-संवाद में यथार्थवादी पद्धति अपनाई गई है। एक सामयिक पर ज्वलंत प्रश्न को पृथ्वीराज ने 'दीवार' में जिस कुशलता से प्रस्तुत किया, उससे पृथ्वी थिएटर्स को आशातीत सफलता मिली। यह नाटक उनका कीर्तिमान बना।

'दीवार' के लेखन और मंचन की अप्रत्याशित ख्याति से पृथ्वीराज का मनोबल बढ़ा। देश में चल रही घिनौनी, राजनीति से वे बहुत अशांत थे। अपने अगले नाटक 'गद्दार' में उन्होंने सांकेतिक शैली को छोड़कर मुस्लिम लीग की साम्प्रदायिक राजनीति की सीधे भर्त्सना में साहस दिखाया।

अशरफ 'गद्दार' का केन्द्रीय पात्र है जो स्वतंत्रता के लिए एक समर्पित तथा सक्रिय कार्यकर्ता है। उसकी पत्नी भी राष्ट्रीय भावनाओं से अनुप्रेरित है। पति के व्यक्तित्व और आचरण पर उसे गर्व है। दोनों गाँधी जी और कांग्रेस को मानते हैं। अशरफ को कई बार जेल जाना पड़ा। इधर कांग्रेस ने देश का विभाजन मान लिया। अशरफ को कांग्रेस के इस समझौतावादी कदम से बहुत आघात पहुँचा। जेल में उसका परिचय एक चतुर मौलाना से हुआ। वह डगमगा गया, वह मुस्लिम लीग का सदस्य बनकर पाकिस्तान चला गया। स्वाधीनता के अवसर पर नृशंस नरसंहार और लूटमार को देखकर अशरफ समझ गया कि पाकिस्तान के निर्माण के पीछे स्वार्थ और सत्ता की राजनीति चली है। उसने भारत में बसने का पक्का इरादा किया।

राष्ट्रवादी पृथ्वीराज को हिन्दू-मुस्लिम एकता का सवाल बार-बार लेखन के लिए उत्तेजित करता रहा। वास्तव में यह उस युग की ऐसी पेंचीदा गाँठ थी, जिसका कोई सीधा हल दिखाई नहीं दे रहा था। अपने नए नाटक 'पठान' (47) में उन्होंने पेशावर के अपने जीवन और अनुभव को आधार बनाया।

पठानी प्रदेश की एक गढ़ी से घिरे गाँव के मुखिया थे शेरखान। उसके चार बेटे हुए। पर दुर्भाग्य से कोई जिंदा नहीं रहा। कई बरसों के बाद उसके यहाँ बेटा पैदा हुआ। इस मंगल अवसर पर सब लोग खुशियाँ मना रहे थे। उसका पड़ोसी दीवान और भाई ताराचंद विशेष रूप से प्रसन्न था। उसकी पत्नी काकी को शेरखान ने सदा अपनी बहन माना। ताराचंद के छोटे भाई ने एक बार शेरखान के जीवन की रक्षा करते हुए अपने जीवन की आहुति दे दी थी। दोनों परिवारों के पुराने-गहरे भाई-चारे के संबंध थे। इसलिए काकी के नवजात शिशु का नाम रखा गया-बहादुर खान।

ताराचंद का बेटा वजीरचंद अब 21 वर्ष का है और उसका विवाह हो चुका है। उसका एक लड़का है। इधर बहादुर खान 16 वर्ष का हो चुका है। एक दिन वजीरा और बहादुर के झगड़े को शेरखान सुलझा रहा था कि पहाड़ी से गोली चलने की आवाज आई। पता चला कि ताराचंद अपनी पुत्रवधू को लेने गया हुआ था, वह दुश्मनों से ऐसा घिरा कि गोली से घायल हो गया। गढ़ी के लोग जखमी ताराचंद को ले तो आए पर सभी के सामने उसने दम तोड़ दिया। विधवा काकी और अनाथ वजीर के संरक्षण का दायित्व शेरखान ने सम्हाला।

बहादुर खान के विवाह की मंगल घड़ी आई। सारी गढ़ी में उल्लास की लहर दौड़ रही थी। आज ही उसकी पत्नी घर आई थी। वजीरा अपनी पत्नी को मायके छोड़ने गया हुआ था। पड़ोस की गढ़ी के कंधार खान के बेटे को वजीरे ने, अपने बचाव में मार डाला। इस झगड़े में वजीरे का दोष न था। कंधार खान ने खबर भिजवाई कि पठान परंपरा के अनुरूप वह अपने बेटे की मौत चाहता है। सिर के बदले सिर की परिपाटी तो है। विधवा काकी के कारण शेरखान इस प्रस्ताव को कैसे मान सकता था। दोनों गढ़ियों में युद्ध छिड़ गया। बड़े-बजुर्गों को चिन्ता हुई और वे युद्ध-विराम के लिए बैठे। काकी भी शांति चाहती थी। पठान परंपरा के अनुसार शेरखान खुद अपनी जान देने को तैयार था। काकी को यह मंजूर न था। वह वजीर को भेजना चाहती थी। निर्णय लेना आसान न था। काकी और वजीर के विरोध तथा पंचायत के कोलाहल में शेरखान ने अपने बेटे बहादुर खान को भेजने का अपना फैसला सुनाया। बहादुर खान दुश्मनों के हवाले कर दिया गया।

एक ही स्थान पर एक समाज की तरह जीने वाले इन पठानों के, चाहे दो अलग-अलग धर्म हो परन्तु उनके संबंध इतने पारस्परिक और भावात्मक हैं कि उन्हें नाटककार साम्प्रदायिक नहीं मानवीय धरातल पर रेखांकित करता है। वे एक दूसरे के लिए इतने अपने हैं कि एक दूसरे के जीवन की रक्षा करना अपना सहज धर्म मानते हैं। इसलिए शेरखान अपने एक मात्र नवविवाहित पुत्र को शत्रुओं के यहाँ भेजने में अपना गौरव समझता है।

वस्तुतः इस नाटक में पृथ्वीराज पठान-छवि को सही परिप्रेक्ष्य में रखना चाहते हैं। पठान न मात्र दरबान है और न सूदखोर महाजन। ईमान पर मर-मिटने वाला यह व्यक्ति किसी के लिए भी अपनी कुर्बानी दे सकता है। शेरखान को केन्द्रीय पात्र बनाकर पृथ्वीराज ने उपर्युक्त दोनों प्रयोजन सिद्ध किए हैं।

दोनों परिवारों के माध्यम से दोनों धर्मों-जातियों की स्थितियों और व्यवहारों का नाटक में ऐसा कुशल ताना-बाना बुना गया है कि दोनों धर्मों का मानवीय पक्ष उभर कर आया है। चरित्र परिकल्पना में जातिगत आचरण मौण है। नाटककार ने पठान के सरल उज्ज्वल स्वरूप को आकार दिया है। शेरखान की उत्सर्ग भावना के मूल में, औदात्य का मानवीय आग्रह अधिक है। इससे साम्प्रदायिक सौहार्द को नया आयाम मिलता है।

प्रस्तुति-परिकल्पना की दृष्टि से पृथ्वीराज यहाँ अधिक सचेष्ट और समर्थ रहे। एक ही दृश्यबद्ध होने के कारण कार्य-व्यापार में निर्बाध प्रवाह है। पठान परिवार और समाज का पूरा वातावरण बनाने के लिए वहाँ की भाषा और रीतियों को अपनाया गया। संवादकाल में व्यावहारिकता और विविधता है। असल में कथ्य और शिल्प के स्तर पर अद्भुत तालमेल होने के कारण यह पृथ्वीराज की विशिष्ट कृति मानी जा सकती है।

स्वाधीनता और साम्प्रदायिकता से जुड़ी समस्या पृथ्वीराज की अन्तश्चेतना को अनवरत घेरे रही। 'आहुति' (49) में भी दंगों के घातक परिणामों को उठाया गया है। नाटक राम और जानकी की सगाई के शुभ अवसर से शुरू हुआ। राय साहब के बेटे राम का विवाह रामकृष्ण की बेटी जानकी के साथ हो गया। साधारण औकात के रामकृष्ण इस संबंध से बहुत प्रसन्न हैं क्योंकि राय साहब उनके अच्छे मित्र ही नहीं एक प्रतिष्ठित और सम्पन्न व्यक्ति भी हैं। दोनों के पुराने पारिवारिक संबंध हैं। राम और जानकी एक दूसरे की चाहते हैं, दोनों मिलते रहते हैं।

दंगों की आग से पंजाब झुलस रहा था। लूटमार और निरीह लोगों की हत्याएँ चल रही थी, युवतियों का अपहरण और बलात्कार हो रहे थे। ऐसा ही दुर्भाग्य जानकी पर आन पड़ा। उसका कोई पता नहीं लगा। टूटा-हारा रामकृष्ण बम्बई आ गया और शरणार्थी कैम्प में रहने लगा। वहीं पुराने साथी इकट्ठे हो रहे थे। रोज अत्याचार और अनाचार की खबरें आती रहतीं। रामकृष्ण की निराशा बढ़ रही थी, उसकी नजरें कमजोर होने लगीं।

मुहम्मद शफी नामक एक मुसलमान ने अपनी जान हथेली पर रखकर जानकी की रक्षा की, उसे सम्मान के साथ उसके पिता के पास पहुँचाया। जानकी को पाकर रामकृष्ण का हृदय प्रफुल्लित हो उठा और उसका जीवन के प्रति नया विश्वास जागा। वे विवाह की तैयारी करने लगे। वस्तुस्थिति को समझते और अपने दायित्व को जानते हुए राम ने खुले उदात्त भाव से जानकी को अपनाया।

इधर, आस-पास के लोग जानकी पर ताने कसने लगे। उसे पतिता और कलंकित कहने लगे। असमर्थ और अकेला रामकृष्ण टूटने लगा। संवेदनशील जानकी पर इसका गहरा असर पड़ा। उधर बम्बई में आकर वैभव और समृद्धि में खेल रहे रायसाहब भी बदल गए। जानकी पर समाज की लांछनों और अपनी प्रतिष्ठा को देखते हुए उन्होंने इस विवाह को नामंजूर कर दिया। रामकृष्ण हतप्रभ रह गया। कमजोर और असहाय पिता की वेदना और निराशा तथा ग्लानि में डूबी जानकी ने आत्महत्या कर ली। पिता के ऐसे निमर्म व्यवहार को राम भी सह न सका, इस आघात से उसकी मृत्यु हो गई।

पंजाबी शरणार्थियों के परिपार्श्व में चल रहे इस नाटक में पृथ्वीराज ने उस समय की बहुत सी मार्मिक तथा बढ़ रही समस्याओं को उठाया है। धनी वर्ग की अहं-भावना और झूठे-खोखले नैतिक मानदंडों के कारण एक निरीह और निर्दोष युवती को अपनी जीवन की आहुति देनी पड़ी। कार्य व्यापार के केन्द्र में जानकी है पर नाट्य-स्थितियों के संयोजन में व्यापक परिप्रेक्ष्य और समग्रता है। संघर्ष की परिस्थितियाँ युग से जुड़ी और स्पष्ट हैं। इसलिए चरित्रों की पहचान में कठिनाई नहीं होती। नाटकीय दबाव त्रासदी की ओर ले जाता है। जानकी की आत्महत्या इसकी परिणति है परन्तु राम की मृत्यु को मेलो-ड्रामा बना देती है। रामकृष्ण की ट्रेजिडी का स्वरूप दूसरा है। वह अपने जीवन के कटु अनुभव और चिंतन से नाटक के विचार पक्ष को प्रबल करता है।

पंजाबी वातावरण की संरचना इस नाटक की उल्लेखनीय विशेषता है। भाषा-संवाद और गीत-संगीत के आद्योपांत संयोजन से इसमें अलग मिठास आ गई है। पात्रों के नाम राम और जानकी रखते हुए लेखक ने रामायण के मिथक को सामयिक लाने का प्रास किया है। लोक निंदा और लोक-अपवाद के कारण सीता और जानकी की परीक्षा हुई। जानकी की ट्रेजिडी से नाटककार नारी के दमन-शोषण और देश विभाजन के हाहाकार को साकार करते हुए नाटक को प्रासंगिक बनाता है। एक दूसरे कोण से देखें तो इस नाटक में नई और पुरानी पीढ़ी का संघर्ष दिखाया गया है। प्रतिगामी मूल्यों के लिए नई पीढ़ी को आहुति देनी पड़ी।

अपने अगले नाटकों में पृथ्वीराज ने भौतिक सभ्यता की होड़ और भोगवादी मानसिकता से उत्पन्न जीवन-मूल्यों के ह्रास के सवाल को उठाया है जिसका प्रत्यक्ष अनुभव नहीं, अभिव्यक्ति भी बम्बई जैसे नगर में दिखाई देने लगी थी। कलाकार (1951) में गाँव और शहर की प्रकृति और संस्कृति की भिन्नता और द्वंद्व को आधार बनाया है। पहाड़ की बेटा गोरा वहाँ की प्रकृति की तरह निर्मल, सुन्दर और पवित्र है। वहाँ के लोगों की जीवन प्रणाली में सादगी, विश्वास और प्रेम है। उनमें उल्लास और संगीत है। शहरी सभ्यता की उपज कलाकार जगह-जगह घूम कर जीवन-तत्त्व की तलाश कर रहा है। वह कला को जीवन से जोड़कर उसे सार्थक बनाना चाहता है। इसी प्रयोजन से वह गाँव में पहुँचा! नटराज के उत्सव पर वह गोरों के नृत्य को देखकर उस पर मुग्ध हो गया। गोरा में पहाड़ की आत्मा का साकार रूप पाकर कलाकार ने उसे अपना ही जीवन साथी बनाना चाहा ताकि वह अपने चित्रों में नए प्राण फँक सके। गोरा शहरी बाबू के चुस्त-दुरुस्त व्यवहार पर मुग्ध हो गई। वह अपने बाल-प्रेमी सरजू की उपेक्षा करने लगी। पुजारी ने, जो शहर में दर्शन के प्राध्यापक रह चुके थे, गोरा और गाँव वालों को शहरी जीवन के कपटाचार से सतर्क किया है। परन्तु गोरा अपने प्रेम में अडिग रही। कलाकार ब्याह कर उसे शहर ले आया।

पहाड़ की आत्मा गोरा के सौन्दर्य को कलाकार अपने चित्रों में आकार देने लगा। उसने इस प्रयास में गोरा का अपना माडल बनाना चाहा। गोरा शहरी सभ्यता के वैभव और ऐश्वर्य से इतनी चमत्कृत हुई कि वह उसका पूरा आस्वाद लेने लगी। कलाकार के मित्र रमेश के साथ वह नई सभ्यता के चकाचौंध में खो गई। रमेश के पास पैसा था और पैसा बनाने के लिए वह कलाकार के चित्रों को बेचना चाहता था। कलाकार अपने चित्रों का व्यापार नहीं करना चाहता। वह इन्हें राष्ट्र की पूँजी बनाना चाहता है। नई

रोशनी में गिरते-गिरते गोरा रमेश के वास्तविक रूप को पहचानने लगी। सम्भलकर वह समझ गई कि पैसे की तुलना में जीवन को चाहिए प्यार यही पहाड़ की आत्मा है, इस तत्त्व को उसने समझा। कलाकार का भी यही तो लक्ष्य था। आज उसकी साधना सफल और सार्थक हुई।

नाटक का मूल प्रश्न बहुत ही सुपरिचित है और आलेख एक आयामी है। पृथ्वीराज ने जिस तरह शहर और गाँव की संस्कृतियों के द्वंद्व को प्रस्तुत किया है, वह प्रत्याशित, रूढ़ और फिल्मी सा है। नाट्य स्थितियों का मंच-प्रभाव तो है, पर न नवीनता है और न संवेदना। शहर में कलाकार की वेदना और अन्तर्द्वन्द्व जीवंत, विश्वसनीय और नाटक की शक्ति है। प्रबुद्ध पुजारी के माध्यम से लेखक ने अपने प्रखर विचार अवश्य प्रकट किए हैं। विज्ञान और यांत्रिक सभ्यता बनाम गाँव की सरल-सादी जीवन प्रणाली। पहले का परिणाम है छद्म और छल तथा दूसरे का निर्मल, उदात्त आचरण। परन्तु उसकी परिकल्पना और व्यवहार आरोपित लगते हैं। शेष पात्र रूढ़ हैं। भाषा संवाद में लेखक निपुण है। गीत-संगीत का पूरा लाभ उठाया गया। अपने अन्य नाटकों की तरह यहाँ भी पृथ्वीराज ने गाँव और शहर के सवाल को निमित्त बनाकर भौतिक मूल्यों की तुलना में आध्यात्मिक आदर्शों की प्रतिष्ठा की है।

पैसा (53) का कथ्य नाटक के शीर्षक से पर्याप्त स्पष्ट है, परन्तु उसके आलेख में संरचनात्मक दक्षता और सचेत अर्थवत्ता है।

शांतिलाल स्थानीय बैंक का मैनेजर है। अपने परिश्रम और ईमानदारी के कारण उसने सर्वत्र सम्मान अर्जित किया है। उसके जीवन का लक्ष्य रहा है, अगर आराम में रहना चाहो तो कम कमाओ और कम खर्च करो। उसकी पत्नी शीला, बेटा मोहन तथा बेटी इन्द्रा के लिए जीने का अर्थ है अच्छा रहना-पहनना, खाना-पीना और मौजमस्ती। उनके लिए पैसा चाहिए। आर्थिक तंगी और पत्नी के निरंतर दबाव से शांतिलाल ने अपना जीवन-पथ बदल लिया। उसने आसपास देखा कि लोग नैतिकता की परवाह न कर खूब कमाओ और खूब खर्च करो के सिद्धांत का पालन कर रहे हैं।

शांतिलाल का बचपन का एक मित्र है: किशोर-जिसके बेटे बिहारी से उसकी बेटी इन्द्रा की मंगनी हो चुकी है। सादा जीवन व उच्च विचार वाला किशोर अपने मित्र को सदा सही सलाह देता है।

बचपन का एक और मित्र कालीदास जैसे-तैसे पैसा कमाने व सुखपूर्वक रहने के आदर्श का अनुसरण कर रहा है। वह एक कुशल, सफल और सम्पन्न सट्टेबाज है। अंत में वह शांतिलाल को अपने रास्ते पर चलाने में कामयाब हो गया। शांतिलाल ने पैसा पाकर देख लिया कि अब घर और जीवन की परेशानियाँ नहीं रहीं। इसी संदर्भ में उसने एक और निर्णय लिया। उसने अपनी बेटी इन्द्रा की सगाई बिहारी से तोड़ कर उसका विवाह एक बूढ़े बीमार पर धनवान सेठ के साथ कर दिया। भाई मोहन जानता था कि इन्द्रा और बिहारी एक दूसरे से प्रेम करते हैं। उसने पिता का विरोध किया, इस अन्याय के विरुद्ध अपना घर छोड़ दिया। शीला ने भी अपनी बात कहनी चाही पर शांतिलाल नहीं बदला। सभी संबंधों और स्थितियों के लिए एक ही मानदंड रह गया-पैसा-इसके दुष्परिणाम सामने आने लगे। सट्टेबाजी में पैसा डूबने लगा। इन्द्रा विधवा होकर घर लौट आई। शांतिलाल को बेटे का अभाव चुभने

लगा। अकेला पड़ गया शांतिलाल अपनी अपराध-ग्रंथि के कारण मनोरोगी हो गया। उनकी सेवा शुश्रूषा का दायित्व इन्द्रा ने सम्भाला। धीरे-धीरे उसका मनोबल बढ़ने लगा। किशोर ने अपनी मित्रता को निभाते हुए सारे परिवार के मिलने की योजना बनाई। कालीदास एक हादसे में मारा गया। शांतिलाल ने अपना पैसा देश और समाज के लिए सौंपने का निर्णय लिया।

नाटककार इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि पैसा पवित्र हो सकता है और पिशाच भी, खरा हो सकता है और खोटा भी। व्यक्ति की जीवन दृष्टि ही मायने रखती है। इस नाटक में भारतीय आदर्शों का प्रतिपादन किया गया है जिनमें सादगी, संयम और परोपकार है। वस्तुतः युग-संदर्भ के अनुरूप लेखक आर्य समाज गाँधीवाद और प्रगतिशील चिंतन का आश्रय लेता है। नाटक का एक कथ्य श्लोक है-‘सहनावतु सहनोभुनक्त-जिससे नाटक शुरू ओर खत्म होता है। मंच पर पीछे स्वामी दयानंद का चित्र है। नजीर अकबराबादी की नज्म का उपयुक्त प्रयोग किया गया जहाँ गरीबी और शोषण का उल्लेख है। बंगाल के अकाल को लेकर भारतीय सरमायेदारों पर तीखे प्रहार किए गए हैं, जिनके कारण अकाल पड़ा और इतने निरीह लोगों की मृत्यु हुई। इन विचारों को किशोर व्यक्त करता है जो अपने मित्र को पैसे के विनाशकारी परिणामों से सतर्क करना चाहता है।

नाटकीय-गठन में पृथ्वीराज ने रोचकता और गंभीरता का तालमेल रखा। प्रेमी युगल की कल्पना की इन्द्रा-बिहारी, मोहन-राधा के रूप में, अन्य पात्र हैं। शीला ओर उसकी सखियाँ-मालती, पुष्पा। शांतिलाल के दो बाल सखा हैं, कालीदास जो पैसे का गुलाम है, और किशोर जो पैसे के सदुपयोग पर विश्वास रखता है। शांतिलाल में मध्यम वर्ग के अन्तर्विरोध प्रकट हुए हैं। नाटक की मुख्य घटना दिवाली के दिन हुई। ये प्रेमी युगल शेक्सपियर के नाटक रोमियो-ज्यूलियट की रिहर्सल कर रहे हैं। शांतिलाल को अपने कालेज के दिन याद आते हैं और वह रोमियो को संवाद पाठ से प्रेम के स्वतंत्र महत्त्व का हार्दिक समर्थन करता है। उसी दिन इन्द्रा की शादी बिहारी से तोड़कर सेठ जी के साथ होनी तय की गई। लक्ष्मी के ये विविध रूप नाटक को नया आयाम देते हैं।

परिस्थितियों के प्रवाह में जीने वाला शांतिलाल एक टाइप न होकर अपनी अलग पहचान देने वाला ऐसा व्यक्ति है जो अपने अनुभव से गिरता-उठता है। उसकी चारित्रिक विविधताएँ उसको रूढ़ और निष्प्राण नहीं होने देती। नई पीढ़ी नए मानदंडों पर जीना चाहती है।

‘देश हमारा धरती अपनी, हम धरती के लाल’ के अमर गायक मन्नूलाल ‘शील’ ने प्रगतिवादी कवि के रूप में अपना नाम और स्थान बनाया। पहले इप्टा और 1950 के बाद पृथ्वी थिएटर्स से भी सम्बद्ध रहने के कारण उन्होंने कई नाटक लिखे। उनके प्रगतिशील चिंतन का असर पृथ्वी थिएटर्स के लिए लिखे और खेले गए नाटक ‘किसान’ में साफ उभर कर आया है। धीरज चौधरी एक साधारण पर सच्चा एवं ईमानदार किसान है। उसकी पत्नी सुखिया, बेटी रधिया है। साझे की खेती होने के कारण उसकी गृहस्थी में जुआरी भाई जोधा है। इसका बेटा पूरन आदर्शवादी युवक है, जिसकी माँ कई वर्ष पहले मर चुकी है। धूप, जाड़ा, वर्षा की चिंता न कर धीरज परिश्रम से खेतीबाड़ी करता है, पर वह जमींदार-महाजन के शोषण से मुक्त न हो सका। जुए की आदत होने के कारण जोधा उनकी चाल में

आ गया। अब इस षडयंत्र में जुआरी भाई, सूबेदार, साहू, केदार आदि लोग धीरज की जीवन स्थितियों को अपने अत्याचारों से जटिल बनाने लगे। पंचायत के आगमन से यह शोषण तंत्र टूटा और इस तरह गाँव में शांति और परिवर्तन आया।

स्वाधीनता के उल्लास और पंचायती राज के आगमन के कारण 'किसान' नाटक का समापन सुधारवादी शैली में हुआ है। अत्याचार और अन्याय के बाद अब भारतीय किसान की आशाएँ साकार होंगी। इसी परिप्रेक्ष्य में देखें तो नाटक में संघर्ष का स्वरूप और कार्य में गति बहुत स्पष्ट है परन्तु आधार व्यापक है। नाट्य स्थितियों में विश्वसनीयता है। पात्र टाइप हैं। लोक व्यवहार के अनुरूप लोक भाषा तथा गीत-संगीत का सहारा लिया गया। वाक्यों में बनावट और संवाद में धार है। गाँव और किसान के जीवन के अनुरूप बादल-सूखा-बारिश का प्रतीकात्मक प्रयोग हुआ है। पृथ्वी थिएटर्स की परिपाटी के अनुरूप यथार्थवादी पद्धति के साथ-साथ जीवन और समाज के सभी राग-रंग रखे गए हैं। इसलिए 'किसान' का प्रस्तुतीकरण लोकप्रिय रहा।

स्वरूप और विशेषताएँ—अपने स्वरूप और कार्य-प्रणाली के आधार पर **पृथ्वी थिएटर्स** को व्यावसायिक थिएटर मानना होगा। सारे भारत में गतिशील 100 कलाकारों के इस रंगमंडल ने 16 वर्षों (1944-1960) की अवधि में 130 नगरों में घूमते हुए 2,662 प्रदर्शन किए। यह रंगमंडल उत्तर भारत के ऐसे नगरों में घूमा, जहाँ थिएटर की न कभी परंपरा रही है और न प्रदर्शन के लिए उपयुक्त साधन। ऐसे स्थानों पर निष्ठा और उत्साह के साथ इसके प्रस्तुतीकरण का स्वागत हुआ। वह हिन्दी रंगमंच के इतिहास की विरल घटना है। देश के आम नगर के आम आदमी से सीधे संबोधित करने में कुशल सफल होने के कारण पृथ्वी थिएटर्स को एक आंदोलन कहना होगा। सोद्देश्य होने के कारण इसका असर और प्रयोजन केवल रंगमंच या मनोरंजन तक न था। वह कला, समाज, संस्कृति और राजनीति के धरातल पर जन चेतना और जनजागरण का प्रबल माध्यम सिद्ध हुआ।

अपने आकार-प्रकार में व्यावसायिक होते हुए भी यह रंगमंडल व्यावसायिक शर्तों पर नहीं चला। यँ कलाकारों के वेतन, रहने-खाने आदि के खर्चे, प्रस्तुतीकरण और टिकटों की बिक्री के हिसाब रहते थे, परन्तु वह पारसी थिएटर की तरह केवल अपने व्यवसाय और लाभ तक कभी बंधा नहीं रहा। पृथ्वीराज कपूर ने अपने गुप में शौकिया थिएटर का भाईचारा और मेल-मिलाप रखा। वे कलाकारों के सुख-दुख के साथी और मददगार थे। उनका लक्ष्य अपने प्रस्तुतीकरणों से मात्र प्रतिष्ठा और समृद्धि प्राप्त करना नहीं रहा, वे अपने समाज की आकांक्षाओं से इस कदर जुड़े थे कि उन्होंने लोगों की पुकार पर विभिन्न संस्थाओं को दस लाख रूपये दान में दिये। प्रदर्शन के बाद उन्हें दर्शकों के आगे झौली फैलाकर पैसा इकट्ठा करने में कभी संकोच नहीं रहा। व्यावसायिक सफलता और उसकी संभावनाओं को देखते हुए उनकी यह इच्छा पूरी न हो सकी कि बम्बई में एक अपना ऐसा थिएटर-हाल उपलब्ध हो, जहाँ वे नियमित रूप से अपने नाटक प्रस्तुत कर सकें विवश होकर वे बम्बई के प्रसिद्ध सिनेमा हाल रॉयल आपेरा हाउस में अपने नाटक खेलते थे।

इस संदर्भ में पृथ्वीराज कपूर की लम्बी रंगयात्रा को ध्यान में रखना जरूरी है। वे फिल्मी दुनिया के ग्लेमर को जान-समझ चुके थे। उनका थिएटर की ओर लौटना उनके जीवन की प्राथमिकता और प्रतिबद्धता को प्रमाणित करता है। जिस समय पृथ्वी थिएटर्स स्थापित किया गया वह राजनैतिक उथल-पुथल का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एवं सक्रिय दौर था। इतिहास के ऐसे चरण में पृथ्वीराज का राष्ट्रवादी होना प्रत्याशित कहा जाएगा। वे जिन्ना के 'टू नेशन थ्योरी', हिन्दू-मुसलमान अलग राष्ट्र हैं और देश का बंटवारा जरूरी है-के सिद्धान्त से बहुत अशांत थे जिसने अंग्रेजों की कूटनीति और मुस्लिम लीग की मिलीभगत से सारे देश का वातावरण विषाक्त कर रखा था। उनके नाटक अपने युग के सत्य को प्रतिध्वनित करते हैं। **पृथ्वीराज ने अपने नाटकों के प्रथम पृष्ठ पर आदर्श वाक्य लिखा- 'कला देश की सेवा में', यह मात्र प्रतीक न होकर उनके पूरे व्यवहार में मिला। वे कला के लिए अपना जीवन और जीवन की सार्थकता कला में मानते थे।** राष्ट्रीय भावना का उदार मानवीय रूप उनके विचारों का आधार था। वे गाँधी जी के विलक्षण व्यक्तित्व, उनकी भारतीय दृष्टि और आध्यात्मिक मूल्यों का अनुसरण करते रहे। उन्होंने सभी नाटकों को जीवन और समाज का पूरा परिप्रेक्ष्य प्रदान किया। इसलिए वे सामाजिक अन्याय और शोषण के पक्ष को उठाते हैं। अपने विचार और अनुभव को वे निर्भीक होकर प्रकट करते हैं। देश के विभाजन को लेकर वे मुस्लिम लीग की भर्त्सना करते हैं वहाँ भौतिकतावादी नई संस्कृति से उत्पन्न पूँजीवादी मूल्यों की ट्रेजिडी दिखाते हैं। नारी में नई चेतना और जागृति दिखाई है। वह उनके नाटकों में निर्णायक भूमिका अदा करती है। पृथ्वीराज के सामाजिक सरोकार और प्रगतिशील दृष्टि उनके नाट्य लेखन का आधार है।

व्यावसायिक कुशलता के लिए पृथ्वीराज ने नाट्य लेखन में अनूठी व्यावहारिक नीति अपनाई। उन्होंने लेखन के स्तर पर समन्वित प्रयास किए। दीवार, पठान, आहुति, कलाकार और पैसा के मुख्य पृष्ठ पर 'पृथ्वीराज रचित' प्रकाशित है और अन्दर अन्य साथियों के नाम जोड़े गए हैं-**दीवार**, लेखक-पृथ्वीराज, रमेश सहगल और इन्द्रराज आनंद। **पठान**, लेखक-लालचंद बिरिमल। **आहुति**, लेखक-लालचंद बिस्मिल। **कलाकार**, रामानंद सागर। **पैसा**, लेखक-लालचंद बिस्मिल। निस्संदेह इन नाटकों के रचयिता पृथ्वीराज कपूर हैं। इनकी मूल संवेदना, कथ्य, नाट्य स्थितियों और चरित्रों की रूपरेखा का निर्णय पृथ्वीराज करते होंगे परन्तु उनको नाटकीय आकार, भाषा संवाद या अन्य विस्तार उनके साथी लालचन्द बिस्मिल, रमेश सहगल, रामानंद सागर देते होंगे। पृथ्वीराज नाटक की टीम और अपनी भूमिका को लेकर सजग रहते थे। रिहर्सल के दौरान आलेख को बदलने-संवारने, नए सिरे से लिखने का कार्य सहयोगी लेखक करते थे। नाट्य-लेखन की इस प्रक्रिया में मंचन पक्ष साथ-साथ देखा-परखा गया, इसलिए ये नाटक व्यावसायिक धरातल पर सुगठित और मंचानुकूल थे, इसे यँ भी कहा जा सकता है कि ये पृथ्वीराज की अनूठी नाट्य-दृष्टि को उजागर करते थे।

चौथे दशक में हिन्दी नाटक में यथार्थवादी पद्धति का आग्रह बढ़ा जिसने एक बड़ी बहस का रूप धारण किया। एकांकीकारों ने इस दिशा में, कथ्य और शिल्प के स्तर पर, अवश्य सफलता प्राप्त की, परन्तु संपूर्ण नाटक का यथार्थवादी स्वरूप या स्तर विकसित नहीं हुआ था। वास्तव में 5वें दशक में पृथ्वीराज ने इस परिपाटी को गति और प्रतिष्ठा दी। इतिहास और पुराण की इतनी पुष्ट और पुरानी परंपरा

से मुक्त कर उन्होंने हिन्दी नाटक में युग की राजनीति और समाज की प्रतिध्वनि को व्यक्त किया। उनके सभी नाटकों में जन जीवन के प्रति गहरा सरोकार और परिवर्तन की चिन्ता दिखाई देती है। इसलिए उनकी नाट्य स्थितियाँ और पात्र आस-पास के जीवन के और पहचाने से लगते हैं। **जीवन और जगत् की वास्तविकताओं से उभरे कथ्य को यथार्थवादी होना तो जरूरी था, परन्तु पृथ्वीराज की दृष्टि, समग्रता तथा समन्वयवादी भावना के कारण इन नाटकों की परिणति आदर्शवाद में पाई गई है।** भारतीय मानसिकता को पहचानते हुए नाट्य स्थितियों और पात्रों का आधार यथार्थवादी है, परन्तु उनके विकास और समापन में भाव प्रवणता, अतिरंजना और आदेशपरक व्यवहार मिलेगा। कहीं-कहीं मैलोट्रोमा तक मिलेगा। पठान और आहुति के समापन खंड इसके प्रमाण हैं।

पृथ्वीराज के जहन में सदा भारत का उदार मानवीय रूप क्रियाशील रहा है जिसमें सम्प्रदाय, जाति, प्रदेश के भेदभाव से दूर आध्यात्मिक मूल्यों की प्रतिष्ठा हो। वे बर्नार्ड शॉ से बहुत प्रभावित और प्रगतिशील चिंतन से अनुप्रमाणित थे। उन्होंने किसानों के आर्थिक शोषण (दीवार), बंगाल के अकाल में सरमायेदारों की घिनौनी भूमिका और नजीर अकबराबादी की शायरी (पैसा) से अपने कथ्य को नये आयाम दिए हैं, परन्तु उत्तरार्द्ध में आशावादी स्वर के अनुरूप भारतीय मान्यताओं का पालन करते हुए तप, त्याग और प्रेम की महत्ता सिद्ध की गई है। पृथ्वीराज अपने बहुमुखी अनुभव, अध्ययन और चिंतन से अपने सामने भारत के औसत नगर के औसत दर्शक पहचानने में बहुत सफल रहे। इसलिए उनके आलेख संश्लिष्ट नहीं, एक आयामी, प्रत्यक्ष एवं सपाट हैं। वे अपने नाटकों में प्रगतिशील विचारों और मूल्यों के पक्षधर रहे हैं, परन्तु कहीं भी वे न बौद्धिक स्तर पर बोझिल या चिंतन के स्तर पर गरिष्ठ हुए हैं। उनके नाटकों का प्रारंभ किसी मंगलकारी प्रसंग से हुआ है, बीच में शादियाँ, पर्व, त्यौहार, रीतिरिवाज, नाच-गाने, झाकियों की तरह संजोए गए हैं। कॉमिक प्रसंगों पर ध्यान रखा गया। कार्य-व्यापार कभी सघन और कभी शिथिल रहता है। उनकी उदात्त भारतीय जीवन दृष्टि तथा देशव्यापी प्रदर्शनों की सफलता प्रमाणित करते हैं कि वे अपने प्रेक्षक के साथ संवाद स्थापित करने में सफल रहे, इसके लिए उन्होंने अपने आलेख में कोई समझौता नहीं किया।

दृश्य-संयोजन, भाषा-संवाद में तो पृथ्वी थिएटर्स ने विशेष क्षमता और सजगता प्रमाणित की है। इस क्षेत्र में कलात्मक दक्षता और प्रेषणीयता लाने के लिए पृथ्वीराज ने अपने अलावा अन्य साथियों की योग्यता और अनुभव का लाभ उठाया। नाटक की समस्या, कार्य-क्षेत्र, पात्र-सृष्टि आदि को सामने रखते हुए भाषा-संवाद को उपयुक्त एवं प्रभावी बनाया गया। सामान्यतया पृथ्वीराज ने हिन्दी उर्दू मिश्रित बोलचाल की भाषा को आधार बनाया, परन्तु देशकाल और पात्र के अनुरूप स्थानीय रंग से नाटकीय अनुभव को जीवंत बनाया। दीवार, पठान, आहुति, पैसा में पश्तो, उर्दू, अंग्रेजी का प्रयोग नई भंगिमा लाता है। पंजाबी का तो बहुत नाटकीय लाभ उठाया गया।

अपने समय और **समाज की समस्याओं** को यथार्थवादी धरातल पर संप्रेषित करने की कुछ अपनी अपेक्षाएँ और चुनौतियाँ आईं। पौराणिक और ऐतिहासिक नाटकों को मनोहारी और आकर्षक परदों के माध्यम से प्रस्तुत करने का युग समाप्त हो रहा था। पृथ्वीराज दर्शक और संप्रेषण के बारे में बहुत जान-सीख चुके थे। उन्हें **यथार्थवादी पद्धति की परिकल्पना थी। परदे अब नहीं चल सकते थे।**

कार्य और स्थान की अन्वितियों पर बल देते हुए आलेख के मुताबिक रंग सज्जा, दृश्यबंध, वेशभूषा अपनाई गई। पूरे प्रस्तुतीकरण में अतिनाटकीयता और चमत्कार के स्थान पर स्वाभाविकता का आग्रह बढ़ा। नाच-गाने या अवांतर प्रसंग भारी लगे। नाटक, सुगठित, छोटे, ढाई-तीन घण्टों तक के हो गए। काव्यात्मक और अलंकारिक भाषा के स्थान पर जीवन और परिवेश में इस्तेमाल होने वाली भाषा को अपनाया गया। कार्य, व्यापार, संवाद तथा अभिनय का स्वरूप स्वाभाविकता के निकट आया।

पृथ्वीराज की प्रस्तुति-परिकल्पना यथार्थवादी थी, परन्तु उस पर पारसी थिएटर की अति नाटकीयता का अप्रत्यक्ष, पर गहरा प्रभाव पड़ा था। अपने यथार्थवादी परिवेश में पारसी थिएटर की आडम्बरपूर्ण रंगरूढ़ियाँ नए आवरण में अपनाई गईं। इस बात का पूरा ध्यान रखा गया कि दृश्य, सज्जा, वेशभूषा तथा अन्य रंग उपकरणों के प्रदर्शन में भव्यता रहे। देब्लो तो नहीं रहे परन्तु पूरे नाटक में रोचक एवं रंजक दृश्यावलियों का यथास्थान विधान किया गया। मैलोट्रामा भी आ गया। पारसी थिएटर की तरह एक दानिशमंद पात्र की परिकल्पना की गई, पठान में गूंगा, आहुति में भिखारिन, कलाकार में नत्थू, उल्लेखनीय हैं। नेपथ्य गीत नाट्य स्थिति को मार्मिक बनाता है। पारसी थिएटर की शब्दावली खेल, सीन, एक्ट आदि अपना लिए गए। वास्तव में पारसी और पृथ्वी थिएटर व्यावसायिकता के धरातल पर समान होने के कारण एक ही दिशा में अग्रसर हुए। दोनों में थिएट्रिकल तत्त्वों के प्रति सजगता है, दोनों दर्शक और मंच प्रभाव को लेकर सतर्क हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि पृथ्वीराज ने उन प्रदर्शन रूढ़ियों का परिसंस्कार किया और सुरुचिपूर्ण तथा कलात्मक बनाया है।

पृथ्वी थिएटर्स मूलतः अभिनय-प्रधान रंगमंच था। पृथ्वीराज इसके नियामक थे। उन्होंने कई दायित्व कुशलता से सम्भाले और निभाए। आलेख में मुख्य भूमिका सदा उनके पास रहती थी और मंच पर वे अग्रणी रहते थे। इसका मूल कारण यह था कि वे एक प्रतिभाशाली अभिनेता थे। उन्हें अभिनय का लम्बा और विविध अनुभव था-रामलीला, पारसी थिएटर, शौकिया थिएटर, अंग्रेजी थिएटर, फिल्मों का अभिनय। अभिनय के लिए उनमें अदम्य प्राण शक्ति थी। विविध और विलक्षण अनुभवों ने उन्हें प्रौढ़ और समर्थ बना दिया। इसका प्रमाण है उनका यह सारगर्भित निष्कर्ष: 'मंच अभिनेता का स्वर्ग' है। इस 'स्वर्ग' को पाने और उसमें जीने के लिए वे आजीवन क्रियाशील रहे। रंगमंच और फिल्म दोनों क्षेत्रों में उन्होंने अपनी अद्वितीय क्षमता और सफलता के प्रमाण दिए। जीवन के प्रारंभ में रंगमंच से सम्बद्ध रहे। उसके बाद दो बार फिल्मों में ख्याति प्राप्त की और दो बार थिएटर की ओर लौटे। संघर्षशील युवा पृथ्वीराज का फिल्मों के ग्लैमर और समृद्धि की ओर जाना स्वाभाविक माना जाएगा। अवाक फिल्मों का जमाना था, पृथ्वीराज की उत्तरोत्तर प्रसिद्धि और प्रतिष्ठा उत्कर्ष की ओर बढ़ रही थी, तभी 1932 में एण्डरसन थिएटर कंपनी के निमंत्रण पर अपना सारा वैभव छोड़कर रंगमंच पर लौट आए। यह कंपनी एक वर्ष तक चली। अगले वर्ष पृथ्वीराज को विवश होकर फिल्मी दुनिया में लौटना पड़ा। 1940-44 के बीच पृथ्वीराज की श्रेष्ठ फिल्में आईं। जनवरी 1944 में उन्हें एक बार फिर थिएटर ने याद किया। इस समय पृथ्वीराज एक स्टार-एक्टर थे। उन्होंने फिल्मी संसार के समृद्धि और सम्मान के बंधनों को तोड़ कर पृथ्वी थिएटर्स की स्थापना की। प्रायः थिएटर के अभिनेता फिल्मों में जाते हैं और थिएटर को भूल

जाते हैं। पारसी थिएटर, इप्टा और रा.ना.वि. के अभिनेताओं के उदाहरण सर्वविदित हैं। पृथ्वीराज एक ऐसे अपवाद हैं जिन्होंने फिल्म छोड़कर रंगमंच को अपनाया। यह एक बार नहीं, दो बार किया। असल में पृथ्वीराज अच्छी तरह जान और महसूस कर चुके थे कि फिल्मों का अभिनय न प्राणवान होता है और न तृप्ति कर। अभिनय का संपूर्ण आस्वाद और संतोष केवल रंगमंच पर अवसर मिलने पर ही मिल सकता है। इसलिए अपने 'स्वर्ग' में लौटने में उन्होंने कभी भूल नहीं की।

'दीवार' में पृथ्वीराज ने सुरेश अर्थात् विदेशी सभ्यता के चकाचौंध में अपना विवेक खोजने वाले जमींदार के चरित्र को साकार किया। 'पठान' के शेरखान में पठान संस्कृति थी जिसे पृथ्वीराज ने बहुत संवेदना से प्रस्तुत किया। पेशावर में रहने के कारण वे इस तरह की जिंदगी को जी और जान चुके थे। निजता और सहजता में इस भूमिका को विशिष्ट और प्रभविष्णु बना दिया। 'आहुति' में पृथ्वीराज शरणार्थी रामकृष्ण की पीड़ा, विवशता, निराशा को एक विश्वसनीय आयाम इसलिए दे पाते हैं क्योंकि वे इन अनुभवों से गुजर चुके थे। सच्चे, भावुक और ईमानदार रामकृष्ण पर एक और बंटवारे की स्थितियों ने प्रहार किया, दूसरी और उसके मित्र ने। रामकृष्ण की त्रासदी को मार्मिक और हृदयस्पर्शी बनाने में पृथ्वीराज सफल रहे। 'गद्दार' में अशरफ और कलाकार में 'कलाकार' की अग्रणी भूमिका पृथ्वीराज ने की। पैसा में 'शांतिलाल' नाटक-केन्द्रीय पात्र है जिसकी जीवन यात्रा में कई मोड़ आते हैं। वह बहुत बदल जाता है पर ठोकर खाकर सम्भल जाता है। इस बहुरंगी व्यक्तित्व को पृथ्वीराज ने सूझबूझ से प्राणवान बनाया। अलग-अलग प्रकृति के इन चरित्रों को पृथ्वीराज ने जिस आत्मविश्वास और दक्षता से प्रस्तुत किया, वह उनकी अभिनय-संभावना को व्यंजित करता है।

पृथ्वीराज को अभिनय की सभी शैलियों का अनुभव प्राप्त करता था। वे रामलीला, शौकिया थिएटर, पारसी थिएटर, अंग्रेजों के व्यावसायिक थिएटर में कार्य कर चुके थे, कितने ही वर्ष वे फिल्मों में रहे। जब तक जितने प्रकार के मंच और प्रदर्शन शैलियों में वे अभिनय कर चुके थे, उन सब में मूलतः पारसी अभिनय पद्धति का अनुसरण हुआ है। इनमें अतिनाटकीय स्थितियों के लिए अतिरंजना और अतिअभिनय अपनाया गया। एण्डरसन चाहे व्यावसायिक थिएटर ग्रुप था, परन्तु उनकी पद्धति विक्टोरियन युग में अनुप्राणित थी। यहाँ भी पारसी प्रदर्शन रूढ़ियों का परिष्कार हुआ। पृथ्वी थिएटर्स में, इनसे भिन्न प्रकार की जीवन स्थितियाँ और चरित्र की चुनौती थी जिन्हें यथार्थवादी कहा जाता है। यहाँ आंतरिक अभिनय संवेदन से पूर्ण, सूक्ष्म तथा विश्वसनीय होना चाहिए। पृथ्वीराज में दोनों शैलियों का मिश्रण मिला है। इतने वर्षों के अभ्यास और अनुभव के कारण वे पुरानी शैली की आवेशपूर्ण भंगिमाओं और बुलंदी को छोड़ नहीं पाए, पर नए चरित्रों के अनुरूप उन्होंने अभिनय का आधार स्वाभाविकता पर रखा। उनमें दोनों पद्धतियों की संधि है, पर उनसे यथार्थवादी अभिनय शैली को नई दिशा मिली। आलेख के कारण उन्हें अभिनय को यथार्थवादी स्वरूप देना पड़ा, परन्तु दर्शक और प्रेषणीयता को देखते हुए, अतिअभिनय को, यथास्थिति अपनाते रहे। अंततः उनका अभिनय शाब्दिक और मुखर अधिक रहा, वे चरित्रों में अपेक्षित आंतरिक संवेदना नहीं ला पाए। पृथ्वीराज के आकर्षक व्यक्तित्व, गहरी आवाज तथा अनूठी संवाद-भंगिमाओं ने उनकी अभिनय-प्रतिमा को अद्वितीय, प्रभावी और सार्थक बनाया। उन्होंने अभिनय जगत् में कई कीर्तिमान स्थापित किए। 12वर्ष निरंतर वे शेरखान के चरित्र को मंच पर प्राणवान करते

रहे। 'दीवार' में उन्होंने 712 बार सुरेश के व्यक्तित्व को प्रस्तुत किया। इससे उनकी ख्याति और लोकप्रियता का अनुमान लगाया जा सकता है।

हिन्दी प्रदेश में रंगमंच की अपनी कोई दृढ़ परंपरा नहीं रही है। कुछ जीवट वाले व्यक्ति इसे जीवित रखने में अवश्य प्रयास करते रहे हैं। भारतेन्दु, माधव शुक्ल ऐसे ही कलाकार थे, जिन्होंने नाट्यलेखन और रंगकर्म को व्यावहारिक धरातल पर समन्वित रूप से ऐसा अपनाया कि हिन्दी रंगमंच को गई गति और प्रभा मिली। इसी शृंखला में पृथ्वीराज कपूर एक उल्लेखनीय नाम है जिसके थिएटर के प्रति समर्पित व्यक्तित्व और बहुमुखी रंगप्रतिभा ने हिन्दी रंगमंच को देशव्यापी प्रतिष्ठा दिलाई। पृथ्वी थिएटर की स्थापना हिन्दी रंगमंच की महत्त्वपूर्ण घटना है। जगह-जगह जिस लगन एवं उत्साह के साथ उसका स्वागत हुआ, वह हिन्दी रंगमंच का विरल प्रसंग है। इतने कलाकारों का कोई भी थिएटर ग्रुप 16 वर्ष तक सारे देश में सक्रिय नहीं रहा। पृथ्वी थिएटर्स ने भारतीय रंगमंच में नए कीर्तिमान स्थापित किए।

पृथ्वी थिएटर्स में आपस में चाहे कितने मेल-मिलाप का वातावरण था फिर भी यह मानना पड़ेगा कि वह एक व्यक्ति तक केन्द्रित रहा। **पृथ्वीराज इस व्यावसायिक मंडली के मुख्य अभिनेता, निदेशक, व्यवस्थापक तथा सर्वेसर्वा थे। नाट्य लेखन से लेकर मंच तक सभी प्रकार के दायित्व उन्होंने सम्भाल रखे थे।** अपनी प्रमुखता को लेकर वे सतर्क भी रहते थे। इसलिए कुछ लोगों को लगा कि पृथ्वी थिएटर्स की स्थापना से पृथ्वीराज को अहंतुष्टि मिली जो पहले नहीं मिल रही थी। अहं भावना का सर्जनात्मक संवेदनाओं के साथ गहरा रिश्ता है। पृथ्वीराज इसके अपवाद नहीं हैं, परन्तु क्या पृथ्वी थिएटर्स उनके लिए मात्र अहंतुष्टि का मंच था? क्या इसे वे केवल व्यवसाय समझते थे? नहीं, वह उनके लिए इतना कुछ था जिसे शब्दों में कहा नहीं जा सकता। वह उनका जीवन था, सर्वस्व था। उनका पहला लक्ष्य रहा। मंच-अभिनय जो उन्हें अनिवर्चनीय सर्जनात्मक सुख और तृप्ति देता था। दूसरा इसके माध्यम से देश के लोगों में सामाजिक और राजनैतिक चेतना का जागरण। पठान में 12 वर्ष तक लगातार उन्होंने शेरखान के चरित्र को मानवीय आयाम दिए। थिएटर में उनके प्राण अटके रहते थे। 56 फिल्मों में जितना कमाया, वह सारी पूँजी पृथ्वी थिएटर्स में झोंक दी। वैभव और प्रलोभनों से भरी फिल्मी दुनिया छोड़कर पृथ्वी थिएटर्स को जिंदा रखा। आखिरी वर्षों में कलाकारों आदि की व्यवस्था के लिए 20 हजार रुपये प्रति मास का खर्च उठाना असंभव हो रहा था। कर्जा बढ़ रहा था, स्वयं अस्वस्थ रहते थे इतनी चिन्ताओं और कठिनाइयों में वह कौन-सी अद्भुत स्फूर्ति थी जो इसे चला रही थी? निश्चय ही मंच के प्रीतिकर अनुभव और सामाजिक सरोकार ने उन्हें तत्पर रखा। यह मात्र अहंमन्यता नहीं, अहं का विस्तार और उन्नयन है।

हिन्दी रंगमंच के लिए एक नया अनुभव था कि संपूर्ण नाटक यथार्थवादी पद्धति में लिखे और प्रस्तुत किए जाने लगे। पृथ्वी थिएटर्स में यथार्थवाद का विशिष्ट तात्पर्य है लेखन और मंचन के स्तर पर स्वाभाविकता और विश्वसनीयता का निर्वाह। पृथ्वीराज ने स्थितियों व्यक्तियों को जीवन के पूरे परिपार्श्व में लिया। उन्होंने वर्तमान समाज की वास्तविकताओं को अवश्य अपना आधार बनाया, पर उनका उत्कर्ष और स्थापनाएँ भाव प्रवण एवं आदर्शवादी हैं। इस प्रकार पृथ्वीराज ने अपने युग की राजनीति और समाज में हस्तक्षेप करने वाले आलेख लिखकर यथार्थवाद की नई संभावनाएँ खोली।

पृथ्वी थिएटर्स ने पारसी थिएटर के जटिल रंगतंत्र से हिन्दी रंगमंच को मुक्त ही नहीं किया, यथार्थवाद प्रदर्शन पद्धति का विकास भी किया। आलेख का अनुरूप रंग परिकल्पना होने के कारण भी रंग-उपकरण सरल और सार्थक थे इसका प्रभाव अभिनय पद्धति और रंगचर्या पर भी पड़ा।

युग के ऐतिहासिक दबावों के साथ-साथ चल रहे दोनों आंदोलनों इष्ट और पृथ्वी थिएटर्स को ऐसा बांधा कि दोनों में आदान-प्रदान चलता रहा। दोनों में समकालीन यथार्थ और उसकी प्रस्तुति में अंतर था, पर दोनों थिएटर के माध्यम से सामाजिक बदलाव के लिए प्रयत्नशील रहे। दोनों देशव्यापी स्तर पर गतिशील रहे। दोनों थिएटर के प्रति अपनी-अपनी तरह से प्रतिबद्ध थे। इष्ट का विचारधारात्मक धरातल मार्क्सवाद था और पृथ्वी थिएटर्स का गाँधीवाद, पर प्रगतिवाद को भी अपनाया गया। इसलिए इष्ट के कई कलाकार पृथ्वी थिएटर्स में आसानी से शामिल हो गए।

पृथ्वी थिएटर्स में युग का इतिहास अपने सारे अन्तर्विरोधों के साथ प्रतिबिंबित हुआ। पृथ्वीराज ने व्यावसायिकता और प्रयोगबद्धता को जैसे संभालते हुए एक व्यावहारिक पर उपयोगी रास्ता निकाला। उन्होंने इकहरे आलेख और बोधगम्यता को सदा ध्यान में रखा। इसलिए दर्शकों ने उनके प्रस्तुतीकरणों को आदर से स्वीकारा। इतना स्नेह और सम्मान किसी भी ग्रुप का कलाकार को कभी नहीं मिला। पठान और दीवार श्रेष्ठ प्रस्तुतीकरण और श्रेष्ठ अभिनय के कारण उल्लेखनीय कहे जायेंगे। बिना कोई सस्ते समझौते किए पृथ्वी थिएटर्स, 16 वर्ष तक हिन्दी प्रदेश में लोकप्रिय रहा और वहाँ जनमानस का अंश बनकर वहाँ की आकांक्षाओं को प्रतिध्वनित करता रहा। उन्हें सार्थक थिएटर देता रहा। किसी भी व्यावसायिक थिएटर के लिए यह अपवाद है। यह उसकी एक अनूठी उपलब्धि है।

आज पृथ्वी थिएटर्स इतिहास की महत्वपूर्ण कड़ी बन चुका है। वह थिएटर को जन जीवन के निकट ले गया। वह हिन्दी रंगमंच के उज्ज्वल भविष्य की संभावना के प्रति आश्वस्त करता है। उनसे अनुप्राणित होकर रमेश मेहता जैसे नाटककारों ने थिएटर को प्रासंगिक एवं सजीव बनाया।

सहयोगी कलाकारों ने समीक्षात्मक दृष्टि रखते हुए भी पृथ्वी थिएटर्स के असाधारण योगदान को सदाशय भाव से सहारा। मुल्कराज आनंद, बलराज साहनी, बलवंत गार्गी ने अपने निबंधों में कई महत्वपूर्ण बिंदुओं को उठाया है। चतुरसेन शास्त्री, रामवृक्ष बेनीपुरी, राधेश्याम कथावाचक, नरोत्तम व्यास, सीताराम चतुर्वेदी और उपेन्द्रनाथ अशक ने इसकी उपलब्धियों को विवेचन किया है। आंतरिक संवेदन के स्तर पर कमजोर तथा व्यक्ति केन्द्रित होने के कारण धर्मवीर भारतीय के मत में 'पृथ्वी थिएटर्स में सब कुछ था- सिर्फ एक चीज नहीं थी यानी नाटक।'

पृथ्वी थिएटर (ii)

पृथ्वी थियेटर्स ने हिंदी रंगमंच को पारसी थियेटर्स की प्रदर्शन-पद्धति से मुक्त किया। अतिरंजन और अतिनाटकीयता के स्थान पर स्वाभाविकता और विश्वसनीयता को रंगमंच के केन्द्र में रखा। यह स्वाभाविकता नाट्यालेख अभिनय पद्धति दृश्यबंध प्रकाश-व्यवस्था में थी। परदे हटा दिए प्रकाश व्यवस्था बदल दी गयी, माइक हटा दिए गए। अर्थात् समग्र और आमूल परिवर्तन लाया गया। ध्यान रहे किसी भी

परम्परा से मुक्त होना परम्परा का त्याग नहीं उसका नावोन्मेष है। प्रकृत-शैली अपनाते हुए भी अभिनय और प्रदर्शन-तत्त्वों में पुरानी विशेषताओं की छाया मिल जाएगी। पारसी थियेटर इतना समृद्ध, सफल विकसित था, उसके प्रभाव का आ जाना असंभव नहीं कहा जाएगा। इसलिए पृथ्वी थियेटर 'शोमैनशिप' से बच नहीं पाए।

पृथ्वीराज निस्संदेह पृथ्वी थियेटर के केन्द्र में रहे। वे थियेटर के माध्यम से बहुत कुछ कहना और करना चाहते थे। जीवन, समाज और देश के सवालियों के प्रति सतर्क परन्तु संवेदनशील पृथ्वीराज नाट्य-लेखन के प्रति भी गंभीर एवं व्यग्र पाए गए। वे अपने नाटकों के मूल कथ्य, चरित्र, प्रमुख प्रसंग आदि के बारे में खाका बनाते रहते थे। फिल्मों की शूटिंग के दौरान उन्हें पर्याप्त समय मिल जाता था। अपने रिक्वैट-राइटर को सदा साथ रखते हुए वे नाट्यालेख तैयार करते रहते थे। रमेश सहगल, इन्दरराज आनंद, लालचंद बिस्मिल जैसे सधे-मंजे लेखक इन रेखाओं में रंगभरने और निखार लाने में सक्षम थे। उनके योगदान की उपेक्षा नहीं की जा सकती। पृथ्वीराज के व्यक्तित्व, अनुभव और विचार में इस माध्यम की गहरी जानकारी थी और वे इसकी संभावनाओं का भरपूर लाभ उठाना चाहते थे। वे प्रत्येक क्षेत्र में अग्रणी और क्रियाशील थे। पृथ्वी थियेटर अपनी वैचारिक संकल्पनाओं के अनुरूप ढालने में अनवरत प्रयत्नशील पृथ्वीराज सचमुच उसका नेतृत्व करते रहे थे। इसीलिए उन्हें अपनी छवि की चिंता रहती थी।

अपनी सोच और दृष्टिकोण में स्पष्ट एवं दृढ़, पृथ्वीराज अपने व्यवहार और आचरण में शालीन, ग्रहणशील एवं उदार थे। उनमें अगर बौद्धिकताओं के प्रति झुकाव नहीं रहा तो उन्होंने भावनाओं से खेलने में भी कभी दिलचस्पी नहीं दिखायी। वे सभी प्रकार की टकराहट से बचते रहे। उनमें नई प्रकार की परिवर्तनकामी विवेकशीलता थी। उनकी अंदरूनी ताकत का अनुमान लगाना आसान नहीं। उनकी सफलता का रहस्य इस तरह के रंगकर्म के प्रति समर्पण और प्रतिबद्धता रही। इसीलिए वे विज्ञापन पर खर्च नहीं करते थे। अक्सर हॉल फुल बुक हो जाते थे। आर्थिक सहायता या सरकारी अनुदान के अनेक अवसर आए परन्तु उन्होंने रास्ते को कभी नहीं अपनाया। रेलवे उन्हें किराए में अवश्य छूट देती रही।

इसके विपरीत वे अपने नाटकों के प्रदर्शन के बाद झोली फैलाकर निस्संकोच पैसा इकट्ठा करते थे। परन्तु अपने लिए नहीं, किसी संस्था या समाज की मदद करने के लिए। उन्होंने रंगकर्म की आवश्यकता और अर्थवत्ता के प्रति समाज में नई जागृति और आदरभाव पैदा किया। जनकवि 'शील' के शब्दों में 'वे सचमुच सांस्कृतिक योद्धा' थे। जहाँ पृथ्वी थिएटर समाज में सीधे नहीं जुड़ा रहा वहाँ पृथ्वीराज ने थिएटर को समाज का मंच बनाया और रंगकर्म को प्रगतिशील दिशा दी। उन्हीं के कारण यह ग्रुप व्यावसायिकता के नये प्रतिमान स्थापित कर सका। यह सच है कि वे कहीं इकहरे और कहीं सपाट नाट्यालेख से बच नहीं पाए। उनके नाटकों या प्रदर्शनों का मूल्यांकन करने से पूर्व उनके आदर्शवादी दृष्टिकोण और उससे जुड़ी ईमानदारी को नहीं भूलना चाहिए।

भारतीय रंगमंच के प्रकाश-स्तम्भ **शंभु मित्रा के शब्दों में**-“पृथ्वीराज जी के साथ मेरा परिचय 1949 में हुआ था। तब ऑपेरा हाउस में उनके बनाए हुए पृथ्वी थियेटरस दल का नाट्याभिनय

देखा-‘शकुन्तला’, ‘गद्दर’ और फिर ‘दीवार’। उस समय कलकत्ता में जो व्यावसायिक रंगमंच प्रचलित था उसकी तुलना में उनके नाटकों का चयन और उनकी प्रयोग-पद्धति कहीं अधिक आधुनिक समाज से जुड़ी हुई प्रतीत हुई थी-खासकर ‘गद्दर’ देखकर मैं मोहित हो गया था।... और पृथ्वीराज जी ने स्वयं मुझे मुग्ध कर दिया था। ‘पठान’ शब्द सुनने के साथ-साथ जैसे एक विशालकाय, उदार-हृदय, अतिथि-वत्सल व्यक्ति की छवि उभरती है, पृथ्वीराज जी स्वयं वैसे ही थे। मैंने अपने जीवन में ऐसे स्नेहिल, नम्र और सदाचारी व्यक्ति बहुत कम ही देखे हैं।

वे पूरे भारत के थे। इस भारतवर्ष की कितनी ही भाषाएँ उन्होंने सीखी थीं। आखिर के दिनों में पता लगाया कि तमिल सीख रहे थे। दूसरों की आँखें चौंधिया देने के लिए कोई यूरोपीय भाषा नहीं, इसी भारत की विभिन्न भाषाएँ सीख रहे थे। देश के लोगों से प्यार जो करते थे, तभी न भिन्न-भिन्न भाषाएँ सीखना चाहते थे। हम लोगों ने उनका अथाह प्यार पाया क्योंकि हम रंगमंच के लोग हैं।

उस महाप्राण विशालकाय पठान को बार-बार प्रणाम ।

X X X X X X X X X X X

पृथ्वी थियेटर्स के अभिनय को देखकर, अंदाजा लगाया जा सकता है कि बंगला का साधारण मंच कितना पुरातनपंथी है। पृथ्वी थियेटर्स में सबको अपने-अपने संवाद कंठस्थ करने पड़ते हैं। ‘प्राम्पटर’ पर निर्भर नहीं किया जाता। सिर्फ इसी एक कारण से पूरा अभिनय जितना स्वच्छन्द और जीवंत प्रतीत होता है, वैसा बंगला मंच में आज या और कभी होगा, ऐसा नहीं लगता। इतना जीवंत लगता है खेला जाने वाला नाटक।...कुल मिलाकर पृथ्वीराज के द्वारा किए गए सब प्रयास मुझे अनोखे प्रतीत हुए हैं।

(घ) (i) इष्टा

डॉ. सत्येन्द्र तनेजा

1936 से, लखनऊ में हुए प्रगतिशील लेखक संघ के अधिवेशन ने देश, विशेष रूप से हिन्दी साहित्य के प्रगतिशील चिंतन को एक मंच ही नहीं प्रदान किया, बल्कि वह एक ऐसा प्रेरणा-स्रोत बना जिससे एक नये अध्याय का सूत्रपात होता है। इस सम्मेलन के लिए प्रेमचन्द जैसे वरिष्ठ कथाकार का अध्यक्ष चुना जाना हिन्दी जगत के लिए गौरव का विषय तो होना ही था, इससे कहीं अधिक इस तथ्य का ऐतिहासिक महत्त्व है कि रचनाकार नई विचारदृष्टि से सशक्त हुआ। एक नए भाव-बोध का उदय हुआ। विशाल जन-समुदाय के साथ हो रहा अन्याय और शोषण का वह अब एक पर्यवेक्षक नहीं रह सकता, वह संघर्षशील जनता की सम्भावनाओं और आकांक्षाओं का भागीदार बना। प्रेमचन्द ने इस दृष्टिपथ को अपने साहित्य में अपनाकर एक बहुत बड़ी मिसाल कायम की जिसने सभी प्रगतिकारी रचनाकारों को अनुप्राणित किया। बदले वातावरण में नए तेवर की अभिव्यक्ति पत्र-पत्रिकाओं में हुई। हंस तो एक अर्से से नई चुनौतियों को अभिव्यक्ति दे रहा था। 'रुपाभ' (सं. नरेन्द्र शर्मा, सुमित्रानन्द) 'उच्छंखल' (सं. नरोत्तम नागर) 'प्रभा' (सं. शिवदानसिंह चौहान) 'जनता' (सं. रामवृक्ष बेनीपुरी) 'विप्लव' (सं. यशपाल) नए दृष्टिकोण को प्रकट करते हैं।

प्रदर्शनकारी कलाओं में जन समूह को आंदोलित करने की अधिक संभावनाएँ हैं परन्तु उनको सामाजिक संदर्भों के साथ जोड़ने में थोड़ा समय लगा। मार्च 1941 के 'हंस' में शिवदानसिंह चौहान ने 'भारत की जननाट्यशाला' निबन्ध में परंपराशील रंगपद्धतियों के नये तथा प्रयोजनबद्ध प्रयोग पर बल दिया और आग्रह किया कि राष्ट्रीय जननाटक समिति (पीपुल्स नेशनल ड्रामेटिक सोसायटी) का गठन किया जाए। प्रत्येक अंक में नाटक और रंगमंच पर सामग्री देकर हंस और प्रेमचन्द ने उल्लेखनीय भूमिका निभाई है। नाटक और रंगमंच की महत्ता सदा उनके जहन में रही है, इसीलिए उन्होंने अपने कई उपन्यासों में ऐसे प्रसंगों का नियोजन भी किया पर गोदान में वे वेश्याओं के सुधार के लिए 'नाटक मण्डली' जैसा असरदार तरीका अपनाना चाहते हैं।

5वें दशक के देश की परिस्थितियों में एकदम सक्रियता और सजगता आई। ऐसे कोलाहल भरे वातावरण में साहित्य विशेष रूप से नाटक और रंगमंच का समाजोन्मुख होना स्वाभाविक ही नहीं जरूरी भी है। प्रगतिशील लेखक संघ ने ऐसी गति और दृष्टि प्रदान की जिसका परिणाम हुआ 'भारतीय जन नाट्य संघ की स्थापना'। इसका दूसरा सम्मेलन 1938 में कलकत्ता में हुआ। और तीसरा सम्मेलन मई 1943 में बम्बई में हुआ। जब 'इष्टा' का विधिवत गठन किया गया।

भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी का प्रसार एवं प्रभाव राष्ट्रीय स्तर पर चाहे इतना नहीं बढ़ा परन्तु उसने छात्रों, मजदूरों और किसानों के ऐसे कुशल संगठन किए कि इनमें शोषण के विरुद्ध संघर्ष करने की जागृति और शक्ति बढ़ने लगी। 1940 में कलकत्ता में 'यूथ कलचरल इंस्टीट्यूट' की स्थापना की गयी जिसके तीन खण्ड थे-विचार गोष्ठी, नाट्यदल, नृत्य-गायन-दल। इनमें कई उत्साही कार्यकर्ता

आगे आने लगे। कई कलाकार और नवोदित प्रतिभाएँ एकत्रित होने लगीं। इनमें तृप्ति भादुड़ी (बाद में मित्रा) का नाम उल्लेखनीय है। जापानी बमबारी के बाद ये मंच दिसम्बर, 1942 में फासीवाद-विरोधी सांस्कृतिक आन्दोलन में परिवर्तित हो गये। इसी के तत्वावधान में दूसरा सम्मेलन 1944 में हुआ जिसमें बंगला के लेखकों एवं कलाकारों को अध्यक्ष ताराशंकर नंद्योपाध्याय ने सम्बोधित किया।

बंगाल दुर्भिक्ष के भीषण प्रभाव को देखते हुए कम्युनिस्ट पार्टी के जन संगठनों ने एक 'पीपुल्स' 'रिलीफ कमेटी' की स्थापना की, ताकि असहाय और पीड़ित जन समुदाय की सहायता की जा सके और यह वस्तुस्थिति लोगों को स्पष्ट हो जाये कि यह अकाल मानव निर्मित था। इसके अन्तर्गत एक 'कलचरल स्क्वैड' का निर्माण किया गया जिसने देश के प्रमुख नगरों-लखनऊ, आगरा, दिल्ली, लाहौर, अहमदाबाद का दौरा किया। पर्याप्त सहायता एकत्रित हुई लाहौर में तो यह दल 25 हजार रुपए इकट्ठा कर सका। यह निस्सन्देह स्वीकारा जा सकता है कि इस उत्तेजना पूर्ण वातावरण में 'भूखा है बंगाल' की स्वर-लहरियों ने दमन और अत्याचार के विरुद्ध न्याय और स्वतन्त्रता की भावनाओं को सर्वाधिक जगाया। 'कलचरल स्क्वैड' की लगाई हुई इस चिनगारी ने देश और भाषा के बन्धन मिटाकर एक देशव्यापी तीव्र 'इच्छा-शक्ति' उत्पन्न की जिसकी अभिव्यक्ति 'इप्ता' में हुई।

देश का पूरा परिदृश्य भावोत्तेजना से पूर्ण था, ऐसी मानसिकता में जीवन और साहित्य, समाज और कला, मंच और दर्शक की पुरानी रूपवादी मर्यादाएँ नहीं चल सकती थीं। साहित्य और प्रदर्शनकारी कलाओं पर ऐसे ऐतिहासिक दबाव पड़ रहे थे कि उनका जनता के बीच पहुँचना, जन-जागरण के लिए सक्रिय हिस्सेदार होना अनिवार्य हो गया था। बंगाल के कलचरल स्क्वैड के अतिरिक्त कई महत्त्वपूर्ण प्रयास हो रहे थे। जापानी आक्रमण पर सरदार जाफरी ने 'यह किसका खून है' नाटक लिखा जिसे 1942 में सुश्री अनिल डी सिलवा के निर्देशन में प्रस्तुत किया गया। श्रमजीवी टी. सरमालकर ने अपने मजदूर साथियों को केन्द्र में रखकर 'दादा' नामक मराठी नाटक लिखा जिसे प्रभाकर गुप्त ने 1 मई, 1942 को पेश किया। स्पष्ट कथ्य और सादी शैली के कारण इस प्रस्तुतीकरण ने बम्बई शहर में अनोखा तूफान सा ला दिया। मजदूर द्वारा मजदूर जीवन पर लिखे नाटक का अन्त एक मजदूर शैली में होता है। आन्ध्र प्रदेश की बुर्रा-कथा के अनेक प्रदर्शन हो चुके थे। पंजाब में शीला भाटिया के साथ अन्य कई कलाकार बोलियों, टप्पों, गिद्धा और हीर के नये प्रयोग से जन-जागरण में सक्रिय थे। मराठी में पवाड़ा और तमाशा ने जनसंघर्ष के लिए अनोखी प्रेरणा दी। इस पृष्ठभूमि से स्पष्ट है कि 'इप्ता' का उदय ऐतिहासिक उद्योगों के कारण हुआ।

मई 1943 में बम्बई में प्र.ले.सं: का तीसरा अधिवेशन हुआ। देश के विभिन्न प्रतिनिधियों ने नये संगठन के स्वरूप और विधान को लेकर दो दिन तक विचार विमर्श किया। 25 मई, 1943 को 'इण्डियन पीपुल्स थियेटर एसोसिएशन' (भारतीय जननाट्य संघ) की स्थापना हुई। इस अधिवेशन के लिए मनोनीत अध्यक्ष थे-बंगला के विख्यात कलाकार मनोरंजनदास। पर उनकी अनुपस्थिति में हीरेन मुकर्जी ने अध्यक्षीय भाषण दिया। उन्होंने व्यावसायिक थिएटर की लोभ-दृष्टि के स्थान पर 'पीपुल्स आर्ट' जन-कला पर बल दिया। स्वतन्त्रता और सामाजिक न्याय के लिए उन्होंने सांस्कृतिक जागरण और परम्परागत रंगपद्धतियों के सार्थक प्रयोग पर ध्यान दिलवाया इस सम्मेलन में एन.एम. जोशी को अध्यक्ष,

सुश्री अनिल डी सिलवा को महामंत्री, ख्वाजा अहमद अब्बास को कोषाध्यक्ष चुना गया। 25 मई 1943 की रात को एक सांस्कृतिक कार्यक्रम प्रस्तुत किया गया। इसमें बम्बई इकाई ने एक अंग्रेजी, एक मराठी और ख्वाजा अहमद का हिन्दी नाटक 'यह अमृत है' पेश किए। बंगला स्कवैड ने 'लेबोरटरी' लघु नाटक टैगोर के छाया-गीत तथा अन्य गीत रखे। अन्त में एक प्रभावशाली समवेत गायन हुआ- 'हम मजदूर हैं'।

कम्युनिस्ट पार्टी के समाचारपत्र 'पीपुल्स वार' के जुलाई, 43 के अंक में श्री अब्बास ने इस सम्मेलन की कार्यवाही की समीक्षात्मक रिपोर्ट लिखी। इस आलेख के शीर्षक से ही अब्बास के दृष्टिकोण का अनुमान लगाया जा सकता है। 'पीपुल्स थिएटर स्टार्स पीपुल' विचार-विमर्श के केन्द्र में वह जन-समूह रहा (व्यक्ति नहीं) जिसे स्वतन्त्रता और सामाजिक न्याय के लिए जन संघर्ष करना है। संस्कृति, साहित्य और कला की सभी प्रचलित रूढ़ियाँ मिटाकर जनसमूह के बीच पहुँचाना है ताकि ये जन-जागरण को गति और दृष्टि दें। इसके लिए आवश्यक है कि साम्राज्यवादी शक्तियों को समझते हुए संस्कृति और कला के प्रति नया यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाया जाये। इस सन्दर्भ में यह द्रष्टव्य है कि इस मंच पर लोकसंस्कृति पर बल दिया गया ताकि अनुभव सिद्ध मार्ग से जनता तक पहुँचा जाये और वह साम्राज्यवाद और फासीवाद के विरुद्ध लड़ने के लिए तत्पर हो जाये। नृत्य, संगीत और नाटक के परम्परागत उपकरणों को नये परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया गया। इसलिए प्रभाव और आस्वाद में सम्पूर्णता और प्रासंगिकता आयी।

1944 में विख्यात नर्तक-कलाकार उदयशंकर ने नगर के कोलाहल से दूर अल्मोड़ा में सांस्कृतिक केन्द्र स्थापित किया। उन्हीं दिनों यह दल, अपने एक दौरे पर बम्बई पहुँचा जब 'इप्टा' की गतिविधियाँ बहुत तेजी से युवा वर्ग को अनुप्राणित कर रही थीं। बम्बई 'इप्टा' के अधिवेशन पर, बंगाल-इकाई ने 'वायस आफ बंगाल', कार्यक्रम रखा। इस कार्यक्रम ने उदयशंकर और उनके कलाकारों को इतना प्रेरित किया कि उन्होंने बम्बई के मजदूरों के बीच छाया नाटक और रामलीला प्रस्तुत की। उनका तटस्थ रहना सम्भव न रहा। शान्तिवर्धा अवनीदास गुप्त और बाद में रविशंकर इस कोलाहल को सही दिशा और दृष्टि देने के लिए 'इप्टा' में शामिल हो गये। कलचरल-स्कवैड का अनुभव तो था ही, उसी रूपरेखा पर 'सेण्ट्रल कलचरल टूप' का गठन किया गया। इसमें शांतिवर्धन-नर्तक अवनीदासगुप्त-संगीतकार, विनय राय-गायक थे। विनय इस जत्थे के सचिव भी थे। इस टूप ने देश की उज्ज्वल प्रतिभाओं को आकृष्ट किया-भूपति नन्दी, उमादत्त, रेखा जैन, शान्ता गाँधी, दीना पाठक, रेड्डी, गौरीदत्त, उपेन्द्रनाथ अशक, रविशंकर और उनकी पत्नी जैसे उत्साही और समर्पित कलाकारों ने इसमें एक चारित्रिक शक्ति ला दी जो वस्तुतः उस युग की इच्छा शक्ति को मुखरित करती है। यह एक प्रतिनिधि भारतीय दल था जिसने सिद्ध किया कि कैसे कला को जन-जागरण का प्रभावी माध्यम बनाया जा सकता है।

दिसम्बर, 1944 में 'सेण्ट्रल टूप' ने 'भारत की आत्मा' नृत्य-नाटिका को बम्बई छात्रसंघ के सामने प्रस्तुत किया। जनवरी, 1945 को बम्बई 'इप्टा' के स्थापना समारोह पर 'सेण्ट्रल टूप' ने दूसरा सार्वजनिक प्रदर्शन किया अखिल भारतीय 'इप्टा' का पहला अधिवेशन सितम्बर, 1945 में बम्बई में हुआ। कार्यक्रम की शुरुआत हुई इकबाल के 'सारे जहाँ से अच्छा हिन्दोस्ताँ हमारा' से जिसका संगीत रविशंकर ने तैयार किया। गीत और संगीत ने वातावरण में ऐसा आवेश उत्पन्न किया कि पृथ्वीराज कपूर मंच पर पहुँच

गये। केन्द्रीय सांस्कृतिक जत्थे ने 'स्पिरिट ऑफ इण्डिया' ('भारत की आत्मा') नृत्य नाटिका तैयार की। यह देश भक्ति की शोभा यात्रा कही जा सकती है। इसके गीत बटुक ने लिखे थे और टिप्पणियाँ प्रेम धवन की थीं। केन्द्रीय जत्थे ने 'इमारटल इण्डिया' ('अमर भारत') नाम से दूसरी नृत्य नाटिका को प्रस्तुत किया। इसका आधार नेहरू की 'डिस्कवरी ऑफ इण्डिया' है। 45 मिनट की इस संगीत नाटिका का संगीत निर्देशन रविशंकर और अवनी दासगुप्त का, नृत्य-निर्देशन शान्ति वर्धन का, गीत प्रेम धवन का, सहयोग नरेन्द्र शर्मा और सचिन शंकर का था। दोनों नृत्य-नाटिकाओं में सुरुचि और सन्देश का उपयुक्त समन्वय था। इसमें पंजाब, गुजरात, बंगाल, आन्ध्र प्रदेश के लोकसंगीत और लोक-नृत्य के नये सार्थक प्रयोग किये गये। गीत-प्रेम-दशरत और विनय ने लिखे। नृत्य-संगीत के इन सोद्देश्य कार्यक्रमों का व्यापक प्रभाव पड़ा। इस देशव्यापी लहर की पत्र-पत्रिकाओं ने बहुत प्रशंसा की।

दिसम्बर, 1945 में यह जत्था बम्बई से अहमदाबाद, कलकत्ता, आसनसोल, पटना, कानपुर, दिल्ली, लाहौर आदि प्रमुख नगरों का दौरा करने निकला। युग की अपेक्षाओं और आकांक्षाओं के अनुरूप होने के कारण इस दल को आशातीत सफलता मिली। स्वाधीनता और स्वाभाविक न्याय की भावनाओं को जब मंच पर साकार होते देखा गया तो देशवासियों का सजग होना स्वाभाविक था। 'सेण्ट्रल टूप' ने बाद में तीन और नृत्य नाटक : नया भारत (46), आई एन. म्युटिनी (47), आजाद काश्मीर (47) तैयार किये। शास्त्र के चौखटे में बंधी संगीत और नृत्य कला को सामाजिक जागरण का प्रभावशाली अंक बनाकर सेण्ट्रल टूप ने विस्मयविमुग्ध किया। जन-आन्दोलन के लिए कला का यह सार्थक और सामाजिक प्रयोग भारतीय इतिहास का विरल उदाहरण है।

ऐतिहासिक दृष्टि से 'इप्टा' आन्दोलन की शुरुआत बंगाल-अकाल में सहायता कार्य के लिए 1942 में स्थापित 'कलचरल स्क्वैड' से माननी चाहिए जिसमें कवि-गायक विनय राय, उनकी बहन रेवा राय तथा अपरिचित फिल्म गायक प्रेमधवन के 'सुनो हिन्द के रहने वालो...' तथा 'भूखा है बंगाल' जैसे भाव सम्प्रेषी गीतों ने जनचेतना को सचमुच आन्दोलित कर दिया 'इप्टा' का 'सेण्ट्रल कलचरल टूप' इसी का विकसित और श्रेष्ठ रूप है। इसी प्रकार नाट्यकला के क्षेत्र में सरदार जाफरी ने 1942 में 'यह किसका खून है' नाटक लिखा। उसी वर्ष सुश्री अनिल डी. सिलवा के निर्देशन में बम्बई में प्रस्तुत किया गया। टी. सरमालकर द्वारा लिखित तथा प्रभाकर गुप्त द्वारा निर्देशित-मराठी नाटक 'दादा' के प्रभावशाली प्रस्तुतीकरण ने बम्बई के मजदूरों में जन-जागृति की लहर ला दी।

हिन्दी प्रदेश में इस देशव्यापी आन्दोलन को पहला मंच आगरा में मिला। 'कलचरल स्क्वैड' के तत्वावधान में विनय राय अप्रैल 1942 में आगरा आये। नगर में अनोखा उत्साह था, जिसको सार्थक अभिव्यक्ति दी राजेन्द्र रघुवंशी और बिशन खन्ना ने। इन्होंने आगरा 'कलचरल स्क्वैड' का गठन किया और स्थानीय बेकर पार्क में 1 मई, 1942 को इस संस्था का सभारम्भ किया। राजेन्द्र रघुवंशी कृत 'आज का सवाल' लघु नाटक के प्रदर्शन से। इसी वर्ष अलीगढ़ में हो रहे किसान सम्मेलन पर आगरा 'स्क्वैड' ने राजेन्द्र रघुवंशी की नृत्य-नाटिका-'लोहे की दीवार' का मंचन किया। अकाल-पीड़ितों की सहायता के लिए इस दल ने आगरा के आस-पास कई प्रदर्शन किये। 1942 में 43 की अवधि में बंगला स्क्वैड कई बार आगरा आता रहा, यही आगरा स्क्वैड 1944 में भारतीय जननाट्य संघ में परिवर्तित हो गया। यही

नहीं यहाँ 'विप्टा' (वीमन्स पीपुल्स थियेट्रिकल एसोसिएशन) और 'लिप्टा' (लिटिल पीपुल्स) थियेट्रिकल एसोसिएशन) की स्थापना की गयी। इससे इस दल को व्यापक सामाजिक स्वीकृति मिली और महिलाओं का सहयोग मिला।

इस दिशा में राजेन्द्र रघुवंशी ने अपने परिवार की महिलाओं को मंच पर लाकर अपनी समर्पण भावना का अद्भुत परिचय दिया। इससे उनके दल को सक्रियता और सफलता मिली। वे प्रतिबद्ध लेखक, निर्देशक, अभिनेता और रंगकर्मी रहे। उन्होंने राजनैतिक और सामाजिक प्रश्नों पर कई प्रकार के नाटक लिखे जिनमें-आज का सवाल, अभागे, मुसीबत है, पंचशील, आगन्तुक, विजय पर्व-पुकार, कालेशाह कई बार सफलता के साथ खेले गये। अनेक मौलिक नाट्य-लेखन में समस्या, घटना-क्रम और चरित्र-सृष्टि को लेकर विशिष्ट विन्यास और पक्षधरता देने में वे कोई संकोच नहीं करते। राजनीति और कला के संतुलन में एक सीमा तक सफल रहे। इसीलिए आगरा 'इप्टा' ने प्रेमचन्द, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, कृष्णचन्द्र, उदयशंकर भट्ट, अमृतलाल नागर, अमृता प्रीतम जैसे श्रेष्ठ साहित्यकारों की रचनाओं के नाट्यान्तर प्रस्तुत किये। राजेन्द्र रघुवंशी के साथ आगरा में डॉ. रामविलास शर्मा, रांगेय राघव भी सक्रिय रहे। रामविलास शर्मा के लघु नाटक हैं-'कानपुर के हत्यारे', 'हिमालय', 'राजा कठपुतली सिंह', 'घायल पंजाब और तुलसीदास' रांगेय राघव के उदय और आखिरी धब्बा। डॉ. रामविलास शर्मा ने 'जमींदार कुल बोरनसिंह', 'राजा जी दिल बैठा जाये', 'राजा कठपुतली सिंह' द्वारा नौटंकी का नया प्रयोग किया। ये हास्य एकांकी किसान सभाओं में प्रदर्शित किये गये। अमृतलाल नागर ने इसी शैली में 'नवाबी मसनद' और 'सेठ बांकेलाल' को लिखा और प्रस्तुत किया। इसी प्रवाह में 'ब्रज कला केन्द्र' आगरा के तत्वावधान में स्थानीय भाषा और परम्परा को निम्नलिखित गीत नाटकों में नये तात्पर्य दिये गये-गोवर्धन चरण, कृष्ण-अर्जुन युद्ध, सिद्धार्थ बचपन और प्रभात। आगरा में समवेत गायन का प्रचार रहा। उत्तर भारत में इप्टा का सर्वाधिक प्रसार आगरा में हुआ, उसकी सभी प्रवृत्तियों और परम्पराओं का यहाँ अनुसरण किया गया। आलेख-लेखन और प्रदर्शन-शैली के स्तर पर आगरा इप्टा ने बहुत नवीनता का परिचय तो नहीं दिया, परन्तु अपने अनुभव से स्थानीय प्रतिभा और परम्परा से उत्तरोत्तर विकास अवश्य किया।

कानपुर में 1943 में 'पीपुल्स कलचरल सेण्टर' की स्थापना की गयी जिसमें अन्य लोगों के अतिरिक्त पहले वेदप्रकाश कपूर और बाद में ललितमोहन अवस्थी प्रमुख कार्यकर्ता रहे हैं। शील इस आन्दोलन से सम्बद्ध रहे हैं, उन्होंने कई लघु नाटक लिखे हैं जिनमें 'किसान' उल्लेखनीय है। कानपुर में जन नाट्यसंघ के दो प्रादेशिक सम्मेलन हुए पहला-1947 में दूसरा 1958 में। इन अवसरों पर एक दर्जन नाटकों के अतिरिक्त 'नवान्न' के हिन्दी रूपान्तर का प्रस्तुतीकरण एक प्रमुख घटना है। उद्घाटन बलराज साहनी ने किया जो युवापीढ़ी को आकृष्ट कर सके। सामान्य स्तर पर 'इप्टा' की यह शाखा निष्क्रिय रही है। यही स्थिति वाराणसी 'इप्टा' की रही। लखनऊ में सर्वाधिक सम्मेलन हुए पर जन-नाट्य संघ की स्थापना 1953 में हुई। संस्थापक अमृतलाल नागर हैं। इसकी कोई उल्लेखनीय गतिविधियाँ नहीं हुईं। अवध इप्टा की स्थापना गुटबाजी को प्रकट करती है। मेरठ में 1953 में स्थापना के बाद इस शाखा ने कई नाटक खेले। यही स्थिति झाँसी की है। 'इलाहाबाद' की स्थिति भिन्न है। नेमिचन्द्र जैन और ओंकार शर्द के प्रयत्नों से 1943 में इप्टा का गठन किया गया। 1949 तक यह शिथिल रही। इस वर्ष छठा

अखिल भारतीय सम्मेलन हुआ जिसमें देश के कई कलाकार एकत्रित हुए और एक साथ कई प्रमुख नाटकों को देखने के अवसर मिले। स्पष्ट है कि विभिन्न सम्मेलनों में आयोजित सांस्कृतिक कार्यक्रमों में इप्टा के विभिन्न नगरों के दल उत्साह के साथ भाग लेते थे। परन्तु यह कितनी विडम्बनापूर्ण स्थिति है कि वे यह उत्साह स्थानीय लोगों में उत्पन्न नहीं कर सके।

राजस्थान कलाकेन्द्र, 'इप्टा' की शाखा होने का दावा करता है। इसके जत्थे सम्मेलनों में जाते रहे पर स्थानीय स्तर पर कोई गतिविधि नहीं हुई।

बिहार में 1943 में ही 'इप्टा' की शाखाएँ खुल गयी थीं। पटना 'इप्टा' पटना सिटी 'इप्टा' के अतिरिक्त मुजफ्फरपुर, भागलपुर, राँची सोनपुर, नवादा, हाजीपुर, गया, दानापुर, धनबाद, अर्थात् पूरे प्रदेश में शाखाएँ खुल गयीं। इसका महत्वपूर्ण कारण यह है कि बिहार 'इप्टा' की शाखाओं का संचालन भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की स्थानीय शाखाओं के हाथ में है। पार्टी सम्मेलन पर इप्टा का सक्रिय होना स्वाभाविक था, इस प्रकार बिहार इप्टा की शाखाएँ शिथिल नहीं हुईं। 1952 में प्रसिद्ध गायक अमरशेख के दौर से वातावरण बदला। 1953-54 और 56 के राज्य सम्मेलनों से उत्साह बढ़ा। 1956 के अधिवेशन में राहुल सांकृत्यायन के अध्यक्षीय भाषण ने नया विश्वास उत्पन्न किया। बहुमंचित और बहुप्रतिष्ठित 'पीर अली' यहाँ की उपलब्धि है। पार्टी दबाव के कारण बिहार में इप्टा की स्थिति चाहे भिन्न है पर वह निष्क्रिय नहीं हुई।

जन-नाट्यसंघ की स्थापना से अब तक बम्बई की अग्रणी स्थिति में कोई अन्तर नहीं आया। अपनी सभी सीमाओं में आज भी बम्बई, इप्टा सर्वाधिक सक्रिय है। बम्बई नगर का बहुमुखी, उदार स्वरूप राजनीति, कला और संस्कृति के लिए अनुकूल रहा है। प्र.ले.सं. का पहला अधिवेशन चाहे लखनऊ में हुआ परन्तु सक्रियता बम्बई में अधिक थी। गतिशील राजनीति और चिन्तन का भी वह केन्द्र होने के कारण वह कलाकारों को आकृष्ट करता रहा है। 1942 में अली सरदार जाफरी के नाटक 'यह किसका खून है' से यह धारा शुरू हुई। इप्टा के प्रथम सम्मेलन पर 1943 में ख्वाजा अहमद अब्बास द्वारा लिखित, निर्देशित 'यह अमृत है' प्रस्तुत किया। इस अवसर पर दो बंगला लघु नाटक खेले गए। अब्बास ने साम्प्रदायिक समस्या पर 'जुबैदा' लिखा जिसे 1945 में बलराज के निर्देशन में इप्टा के प्रथम अधिवेशन पर प्रस्तुत किया। इसमें इसी वर्ष चेतन आनन्द ने 'गाँव' नाटक का लेखन और निर्देशन किया। 1946 में उपेन्द्रनाथ अशक ने अपने लिखे 'तूफान से पहले' का निर्देशन किया। अब्बास का 'मैं कौन हूँ' (1947) लघु नाटक बहुत लोकप्रिय रहा। 'जादू की कुर्सी' (1948) का लेखन बलराज साहनी और निर्देशन मोहन सहगल ने किया। यह प्रहसन भी बहुत खेला गया। भूत गाड़ी (1948) रूपान्तरण और निर्देशक भीष्म साहनी बम्बई 'इप्टा' ने 1975 तक 62 नाटकों का मंचन किया जिसमें निम्नलिखित कलाकार और निर्देशक उल्लेखनीय हैं—हबीब तनवीर, दीना पाठक, हंगल, रमेश तलवार, सागर सरहदी, आर.एम. सिंह, एम.एस. सथ्यु।

बम्बई 'इप्टा' ने प्रारम्भिक वर्षों में लेखन और प्रदर्शन के स्तर पर कई कीर्तिमान स्थापित किये और दर्शकों तक अपने सन्देश को पहुँचाकर इस विधा को जनोपयोगी सिद्ध किया। परन्तु परवर्ती वर्षों में

स्थितियाँ बहुत उलझ गयीं जिसकी विडम्बनापूर्ण परिणति है कि जन आन्दोलन के लिए जनसाधारण को प्रेरित करने वाला जन नाट्य संघ 'संभोग से संन्यास तक' जैसे नाटक को प्रस्तुत करता है।

अक्टूबर 1943 में 'कलचरल स्क्वैड' दिल्ली आया और 'भूखे बंगाल को बचाओ' से जन साधारण को आन्दोलित कर गया। नवम्बर 1943 दिल्ली इष्टा की स्थापना हुई। अधिवेशन में 6000 उपस्थित दर्शक अपनी दिलचस्पी को व्यक्त कर रहे थे। दिल्ली के स्वरूप को देखते हुए इसके तीन दल हो गये। पहला हिन्दुस्तानी नाटक प्रदर्शित करने वाला, दूसरा बंगला नाटक तथा तीसरा केन्द्रीय दल। यहाँ का महिला संघ भी सक्रिय रहा और उसने बंगाल सहायता कोष के लिए कार्य किया। दिल्ली 'इष्टा' ने 'वालन्यूज पेपर' तथा मजदूर यूनियनों में कार्य कर अपनी पहचान और प्रतिष्ठा अर्जित की। 'वालन्यूज पेपर' आकर्षण का केन्द्र रहा। 'दीपशिखा' के मंचन पर प्रतिबन्ध से इष्टा को कुछ नाम और प्रचार मिला। यहाँ की प्रमुख घटना है 1958 की अखिल भारतीय इष्टा कान्फ्रेंस जिसमें खेले गये निम्न श्रेष्ठ नाटक प्रेरणावर्धक सिद्ध हुए 'मामा वरेरकर' और 'भगवान देखता रहा', इब्सन का—एक गुड़िया एक औरत, बुलगेरियन नाटक का हिन्दुस्तानी रूपान्तर—मिनिस्टर। गोर्की का 'लोअर डैथ' और रवीन्द्रनाथ ठाकुर का 'रक्तकरबी', बंगला में खेले गये। नृत्य नाटक भी हुए और गायन दल भी थे। कुल मिलाकर यह एक प्रभावशाली समारोह सिद्ध हुआ। बाद में 'काटवाला' और 'गालिब के उड़ेंगे पुर्जे' नाटक सफल रहे। प्रथम दौर में निरंजन सेन, विश्वनाथ, इन्द्रघोष सक्रिय थे और बाद में एस.एम. मेहदी और अजीज कुरैशी। दिल्ली इष्टा भी कोई अपने स्वरूप और चरित्र का निर्वाह कर सकी। आजकल दिल्ली इष्टा अभिनय रंगशिल्प आदि का प्रशिक्षण केन्द्र बना हुआ है ताकि जन-जागरण के लिए वह धन एकत्रित कर सके।

बंगाल की स्थिति भिन्न रही। क्योंकि स्वाधीनता संग्राम के साथ-साथ जापान की गोलाबारी और दुर्भिक्ष जैसे भयानक संकटों का सामना करना पड़ा। इसलिए 1940 के बाद इस आन्दोलन को गति और अभिव्यक्ति मिलती रही गायन, समूह गायन, नृत्य-नाटक और नाटक में। कलचरल स्क्वैड और सेण्ट्रल कलचरल टूप में इसके योगदान को भुलाया नहीं जा सकता। बंगला में और हिन्दुस्तानी में विजन भट्टाचार्य कृत नवान्न इष्टा आन्दोलन की सर्वश्रेष्ठ नाट्य कृति और प्रस्तुति है। इतने उज्ज्वल इतिहास के होते हुए बंगाल इष्टा को टूटने में देर न लगी। यह नहीं, वहाँ के कलाकार-निर्देशकों ने प्रगतिशील चिन्तन के प्रभाव को नकार दिया।

'इष्टा' की स्थापना मई, 1943 में मुम्बई में हुई थी पर यह आन्दोलन लगभग 3 वर्ष तक चला, मुख्य रूप से मुम्बई, कलकत्ता, दिल्ली, आगरा और पटना में। हिन्दी प्रदेश के कुछ नगरों में यह उत्साह स्वाधीनता के बाद प्रस्फुटित हुआ। इसमें कोई सन्देह नहीं कि अपने व्यापक मानवीय दृष्टिकोण के कारण इष्टा ने देश की युवा प्रतिभा को प्रभावित और प्रवाहित किया। उदयशंकर के अतिरिक्त रविशंकर, शान्तिवर्धन, अवनी दासगुप्त, बलराज साहनी, राजिन्द्र सिंह बेदी, उपेन्द्रनाथ अशक, ख्वाजा अहमद अब्बास, हबीब तनवीर, नेमिचन्द्र जैन, कृशनचन्द्र, साहिर, इंगल, बलवन्त गार्गी, शीला भाटिया जैसी कई तरुण विभूतियों को इस धारा ने आप्लावित किया। रचना का अपना धर्म होता है दर्शक या पाठक तक पहुँचने का। इतिहास की उस चुनौती से कोई लेखक मुँह नहीं मोड़ सकता था, उसके दबाव में

जनमानस तक पहुँचने की आकांक्षा उस युग की आवश्यकता थी। इसलिए अधिकांश लेखक-कलाकार निर्व्याज भाव से इस आन्दोलन के हिस्सेदार बनने के लिए आगे आये। विभिन्न कला-माध्यमों की एक मंच पर इतनी प्रतिभाओं का एकत्रीकरण इतिहास की विरल घटना ही कहना चाहिए। 'नवान्न' अपने समय की इच्छा शक्ति की प्रखर अभिव्यक्ति है। परन्तु युद्ध की समाप्ति, देश की स्वाधीनता और कम्युनिस्ट पार्टी के संकीर्ण दखल ने ऐसा मोह भंग उत्पन्न किया कि यह आन्दोलन का रूप धारण करने से पहले बिखर गया। यह एक कटु सच है कि सब अनुकूल परिस्थितियाँ होते हुए भी इप्ता एक जन-नाट्य आन्दोलन नहीं बन सका। हिन्दी नगरों में अपने पूरे स्वरूप के साथ इसका उभार आगरा में हुआ। पर यहाँ सारी कोशिश एक व्यक्ति तक केन्द्रित है। हिन्दी प्रदेश के नगरों में कोई पारस्परिक आदान-प्रदान नहीं हुआ जिसके आधार पर इसके आन्दोलन होने के प्रमाण मिले हों। इप्ता के कार्यकर्ता और कलाकार उच्च मध्यम वर्ग के थे। इस आन्दोलन के प्रति उनकी समर्पण भावना रोमाण्टिक अधिक थी। वे श्रमिक वर्ग के बीच गये पर इप्ता को उनका हिस्सा न बना सके। इस वर्ग के आचरण की असलियत स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद खुली जब इप्ता अपने हास को रोक न सकी।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद ही इप्ता का मूल्यांकन दूसरे धरातल पर होगा। अब तो स्थिति यह है कि नगर की अन्य रंगमण्डलियों की तरह इप्ता भी एक संस्था है जो अपना इतिहास नहीं बदलना चाहती पर वर्तमान में समझौता करने से पीछे नहीं हटती। बम्बई, कलकत्ता, और दिल्ली इप्ता अब जिस तरह का थिएटर कर रहे हैं, उन पर तो विचार करने की स्थिति नहीं रही। ऐसे निराशाजनक वातावरण में पटना इप्ता की वैचारिक और रंगमंचीय समर्पण-भावना प्रशंसनीय है।

यह जानकर आश्चर्य होता है कि इप्ता आन्दोलन को लेकर हिन्दी नाटककार इस सीमा तक तटस्थ था जैसे कोई सरोकार न हो। उपेन्द्रनाथ अशक और विष्णु प्रभाकर इप्ता से सम्बद्ध रहे। शेष पूरा नाट्य-जगत अछूता रहा। लक्ष्मीनारायण मिश्र, वृन्दावनलाल वर्मा, सेठ गोविन्ददास, हरिकृष्ण प्रेमी, जगदीशचन्द्र माथुर, रामकुमार वर्मा, पृथ्वीराज शर्मा, भुवनेश्वर जैसे कितने नाटककार इस लहर से किनारा किए रहे।

'इप्ता' के ऐतिहासिक योगदान को नकारा नहीं जा सकता। हिन्दी का नाटककार ऐतिहासिक कथानकों से अपने वर्तमान तक पहुँचने में असमर्थ था या सामाजिक-पारिवारिक प्रश्नों को उठा रहा था। उसे इप्ता ने जन प्रवाह से जोड़ते हुए सामाजिक यथार्थ के प्रति आवश्यक परिप्रेक्ष्य प्रदान किया। अन्याय और शोषण के ज्वलन्त प्रश्नों और उनके लिए अपेक्षित वैचारिक दृष्टि प्रदान करने में इप्ता का उल्लेखनीय महत्त्व है। आजादी के बाद इप्ता का अवश्य विघटन हो गया। परन्तु उसकी मान्यताओं का अनुशासन करने वाली कई मंडलियाँ हैं।

'इप्ता' ने अपने समय के कलाकारों में बड़ी प्रखरता और तीव्रता से यह विश्वास उत्पन्न किया कि कला और जन तथा जनजागरण से पारस्परिकता रहनी चाहिए। उसने संगीत, नृत्य और नाट्य के प्रचलित व्याकरण और रूपवादी संस्कारों को तोड़ा और सीधी-साधी शैली में अपने प्रयोजन को व्यक्त किया। अपने कला में 'इल्यूजन' के पक्ष को कम और 'रिएल्टी' के पक्ष पर अधिक बल दिया। 'भारत की

आत्मा', 'अमर भारत' और 'नवान्न' की प्रदर्शन-पद्धति में सुरुचि और सन्देश का आग्रह है। इस प्रगतिशील नाट्य दृष्टि ने 1947 के बदली अपेक्षाओं के अनुरूप नया प्रकार ग्रहण किया वह है नुक्कड़ नाटक आज देश में 300 मंडलियाँ नुक्कड़ नाटक के जरिए जनवादी प्रयोजनों का पालन कर रही हैं। जनमानस के साथ संवाद का रिश्ता स्थापित करने में ये अधिक सफल हैं।

भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी, प्रगतिशील लेखक संघ और 'इप्टा' के बारे में निर्विवाद रूप से स्पष्ट है कि तीनों एक दूसरे से जुड़े बंधे हैं। मुम्बई में मई, 1943 में तीनों का सम्मेलन एक साथ हुआ। रविशंकर के अनुसार 'सेण्ट्रल कलचरल टूप' का खर्चा कम्युनिस्ट पार्टी उठा रही है। अधिकांश नगरों में तीनों के कार्यकर्ता या कलाकार अलग-अलग नहीं थे। भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के मजदूर, छात्र और किसान संगठनों में होने वाले सांस्कृतिक कार्यक्रमों ने ही इप्टा की संभावना को जगाया। गतिशील लेखक संघ ने इस सांस्कृतिक कार्यक्रमों को एक और मंच प्रदान किया। इस प्रकार इप्टा की अनुभव यात्रा कम्युनिस्ट पार्टी के संगठनों से हटकर नहीं सोची जा सकती। जैसे समवेत, गायन, इसकी हमारे यहाँ परम्परा नहीं है। इन्हीं सम्मेलनों में प्रेमधवन के गीतों ने जब सम्मिलित स्वर और शक्ति पकड़ी तब सामूहिक जागृति और चेतना का उदय मिल जाता।

प्रतिबद्धता का बहुचर्चित प्रश्न उठाना आवश्यक है। रचनाकार की प्रतिबद्धता चिन्तन से है, विचार से है, पार्टी उसका माध्यम हो भी सकती है और नहीं भी हो सकती। 1941-44 में प्र.ले. सं. और इप्टा ने मार्क्सवाद के जरिए वह चिन्तन और वह मंच प्रदान किया जिसने साम्राज्यवाद के विरुद्ध लड़ने के लिए कलाकर्म को जन-जीवन और जन-मानस से जोड़ा। कला के प्रचलित औजारों का यह नया सार्थक प्रयोग रोमांचित करने वाला था परन्तु राजनीति और कला के इस जोखिम भरे रिश्ते को निभाने के लिए ब्रेख्त बनना पड़ता है। प्रतिबद्धता में दोष नहीं है, वह तो एक तरह अवधारणागत दृढ़ता (कन्विक्शन) है। इब्सन, बर्नार्ड शॉ, और ब्रेख्त में अपने विचार और प्रयोजन को लेकर स्पष्टता और दृढ़ता रही है। अपने देश की सांस्कृतिक और साहित्यिक परम्पराओं को देखते हुए यह मानना पड़ेगा कि वामपंथी पार्टियों और वामपंथी चिन्तन व्यावहारिक रूप में कारगर दिशा निर्देश नहीं कर सके। कई गुत्थियों उलझी रही हैं, इसलिए विचार के स्तर पर इनमें चाहे प्रखरता है, पर व्यवहार के स्तर पर अन्तर्विरोध है।

'इप्टा' की इच्छा शक्ति भारतेन्दु में मिलती है जिन्होंने अकेले 10-15 वर्षों में हिन्दी प्रदेश के प्रमुख नगरों में एक आन्दोलन सा-खड़ा कर दिया। नाट्य-लेखन और रंगकर्म को लेकर उनका कितना स्पष्ट और दृढ़ विश्वास था कि इसे सामाजिक परिवर्तन का हिस्सा बनाना है। बलिया में 'सत्य हरिश्चन्द्र' की प्रस्तुति के लिए उन्होंने बजाज की दुकान से थान उठाकर काम निकाला था अपने प्रयोजन के प्रति स्पष्ट भारतेन्दु ने लेखन और प्रदर्शन कर्म को अलग-अलग खण्डों में नहीं सोचा। इप्टा चाहे सफल नहीं रहा परन्तु उसने अन्तर्वस्तु और जीवन से जुड़े काल मूल्यों पर बल दिया। उसने अपने प्रेरणावर्धक इतिहास से हिन्दी नाटक और रंगमंच को ऐसी अन्तर्दृष्टि प्रदान की है कि आने वाले सभी प्रगतिकामी रचनाकार उसे अपने-अपने रंगविधान में प्रस्तुत करेंगे।

(ii) इप्टा

40 के दशक के स्वाधीनता संग्राम की जटिल परिस्थितियों को 'इप्टा' जैसे रंग आन्दोलन को समझने के लिए ध्यान में रखना जरूरी है। कांग्रेस के 1942 में 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव और उसके साथ हुई गिरफ्तारियों ने मुक्ति के संघर्ष और साहस में तेजी ला दी। दूसरे विश्वयुद्ध के कारण विनाश और संहार की खबरों ने फासीवाद के विरुद्ध माहौल बना रखा था, इधर जापान के इस युद्ध में कूद पड़ने और चटगाँव पर आक्रमण करने से फासिस्टों के विरोध में सभी पार्टियाँ एकजुट हो गईं। बंगाल के अकाल में अनगिनत मासूम लोगों की दिल दहला देने वाली मौत ने गहरा आघात पहुँचाया। यह दुर्घटना ब्रिटिश शासन की निपट लापरवाही के कारण हुई जबकि देश में यथेष्ट अन्न उपलब्ध था। ऐसे अवसर का भरपूर लाभ उठाते हुए मुनाफाखोर सेठ-व्यापारी तिजोरी भरने में लग गए।

इस प्रकार साम्राज्यवाद, फासीवाद, पूँजीवाद, सामंतवाद से उत्पन्न अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध आवाज उठाई जाने लगी। वास्तव में अकाल के भयावह दृश्यों ने देशभर के लेखकों, कलाकारों-बुद्धिजीवियों की अन्तश्चेतना को सर्वाधिक उद्वेलित किया। 1938 में हुई प्रगतिशील लेखक संघ की बैठक में 'यूथ कलचरल इन्स्टीट्यूट' (1940) की स्थापना की गई। उसी के तहत 'पीपल्स रिलीफ कमेटी' और कलचरल स्क्वाड का गठन हुआ। इस सांस्कृतिक टोली के नेता विख्यात कवि-गायक विनय राय थे जिनके हृदयस्पर्शी गीतों-'भूखा है बंगाल', 'सुनो हिन्द के रहने वालों' ने दर्शकों को अभिभूत कर दिया। लाहौर दिल्ली, आगरा, लखनऊ, अहमदाबाद, बम्बई (मुम्बई) के दौरे ने जनचेतना और जन जागरण की लहर ला दी। कला-कर्म की इस नयी संभावना ने इप्टा के लिए जन-संघर्ष का मार्ग प्रशस्त कर दिया। इस प्रकार इस मंच द्वारा देशव्यापी छटपटाहट को अभिव्यक्ति मिलने लगी।

सन् 1941 में बंगलूर में 'इण्डियन पीपल्स थियेटर एसोसिएशन' की एक इकाई का गठन हुआ, सचिव थीं सुश्री अनिल डी सिल्वा। अगले वर्ष वे मुम्बई आ गईं। इस सार्थक नाम को प्रस्तावित करने का श्रेय प्रसिद्ध वैज्ञानिक होमी भाभा को देना होगा। सन् 1942 में सरदार जाफरी ने 'यह किसका खून है'-नाटक लिखा जिसका निर्देशन अनिल डी सिल्वा ने किया। इस नाटक का संबंध एक घटना से है। चटगाँव पर जब जापान की बमबारी चल रही थी उस वक्त एक मजदूर नेता मार डाला गया था। इस पर किसानों ने विद्रोह किया था। 25 मई, 1943 के सम्मेलन में 'भारतीय जन नाट्य संघ' (इप्टा) की औपचारिक स्थापना की गयी। इस सम्मेलन पर प्रभाकर गुप्त और डी.एस. गावनकर के निर्देशन में सरमालकर के नाटक 'दादा' का मंचन किया गया। इसका संबंध भी मजदूरों की जिंदगी से था। मनोनीत अध्यक्ष मनोरंजनदास की अनुपस्थिति के कारण अध्यक्षीय भाषण साम्यवादी नेता हीरेन मुखर्जी ने दिया। इस प्रकार जनवादी गतिविधियाँ दिशाबद्ध होने लगीं।

'इप्टा' का दूसरा राष्ट्रीय सम्मेलन सितम्बर 1945 को मुम्बई में हुआ। कार्यक्रम की शुरुआत इकबाल के 'सारे जहाँ से अच्छा' गीत से हुई जिसका संगीत रविशंकर ने तैयार किया था। सेंट्रल टुप ने अपनी नई तैयारी की नृत्य-नाटिका-'अमर भारत' प्रस्तुत की। स्वाधीनता-संग्राम के उस दौर में राष्ट्रीय भावनाओं का आवेग बड़ी तेजी से बढ़ रहा था, इप्टा ने उसे समाजवादी तात्पर्यों से समन्वित कर

कला-कर्म को एक नया आयाम दिया। इस प्रयोजन को देशव्यापी स्वीकृति और मान्यता मिलने लगी। इस उमंग भरे वातावरण ने एक नए सांस्कृतिक माहौल को जन्म दिया। ऐसी सूरत में देशभर की नई प्रतिभाओं ने इस मंच से जुड़ने को अपना गौरव माना और मुम्बई एकत्रित होने लगीं जिनमें उल्लेखनीय हैं-रविशंकर, अवनीदास गुप्त, शातिवर्धन, प्रेमधवन, संलिल चौधरी, चेतन आनंद, नरेंद्र शर्मा, सचिन शंकर, दशरथ लाल, ख्वाजा अहमद अब्बास, बलराज साहनी, शंभु मित्र, विनयराय, राजेन्द्र, रघुवंशी, बलवंत गार्गी, तृप्ति भादुड़ी (मिश्र), दमयन्ती साहनी, अली सरदार जाफरी, कृष्ण चन्द्र, अमरशेख, शैलेन्द्र, नेमिचन्द्र जैन, रेखा जैन, शांता गाँधी आदि। इप्टा ने 'सेन्ट्रल कलचरल स्क्वाड' का गठन किया जिसका बाद में नाम बदल कर 'सेंट्रल टूप' रखा गया।

नाट्य-लेखन के स्तर पर इप्टा जितनी प्रतिबद्ध थी, उससे कहीं अधिक मौलिक और अर्थवान अपनी प्रस्तुति परिकल्पना में साबित हुई। लोक नाटक और लोकसंगीत की पारम्परिक रंग-रूढ़ियों या विधियों को आधुनिक परिप्रेक्ष्य में आकार दिया गया। इससे जात्रा, नौटंकी, तमाशा, पवाड़ा, तेरुकुतू, बुरीकथा, माच, नाजा, ख्याल, भवाई आदि लोक-शैलियों को नया जीवन मिला। एक ढर्रे से बंधी इनकी पुरानी रूढ़ियों में नए अर्थ फूँके गए। इस प्रक्रिया-संप्रेषण और प्रभाव-क्षमता में अद्भुत शक्ति आ गई, साथ ही अभूतपूर्व प्रयोग हुए। निरंजनसेन के शब्दों में-“आंध्र की इकाई ने मिट्टी के घड़ों के उपयोग का एक विचित्र तरीका निकाला जिसमें लाउड स्पीकर की भाँति स्वर फैलता है। बंगाल की इकाई ने रंगमंच, पटी पार्श्व, और सैट के लिए बोरों के कपड़ों का इस्तेमाल निकाला। दिल्ली की इकाई ने छाया-नाट्य का आरंभ किया। इसने रंग के प्रभाव को आजाद किया और बिजली की मदद के बिना छाया नाटक पेश करने का तरीका निकाला। सेण्ट्रल टूप ने बोरे के कपड़ों से साज-सज्जा-सेटिंग का साधन निकाला। इप्टा ने यथार्थवादी और प्रतीकवादी सैटों, लाइट के प्रभावों और लाउड स्पीकर पर नाटक करने के प्रयोग किए। इस तरह के प्रयोग रूस में क्रांति के समय प्रसिद्ध नाट्य-निर्देशक मेयर होल्ड ने भी किए थे।

धीरे-धीरे इप्टा ने अपनी एक ऐसी शैली विकसित कर ली जो विशाल जन समुदाय पर प्रत्यक्ष और प्रबल प्रभाव छोड़ जाए। सामयिक सवालों-समस्याओं से निकले इप्टा के नाटकों से रंग-संस्कारों में बदलाव आया। कुछ प्रमुख नाटक इस प्रकार हैं-‘ये किसका खून है’ (अली सरदार जाफरी), ‘आज का सवाल’, ‘आधा सेर चावल’, ‘घायल पंजाब’ (राजेन्द्र रघुवंशी), ‘यह अमृत है’, ‘जुबेदा’, ‘मैं कौन हूँ’ (ख्वाजा अहमद अब्बास), ‘जादू की कुर्सी’, ‘मशाल’ (बलराज साहनी), ‘बेकारी’, ‘संघर्ष’ (शील), ‘तूफान से पहले’ (उपेन्द्रनाथ अशक), ‘कानपुर के हत्यारे’, ‘सीता का जन्म’, ‘तुलसीदास’ (डॉ. रामविलास शर्मा)। इनके अतिरिक्त बंगला के नाटक : विजन भट्टाचार्य कृत-‘जबान बंदी’, ‘नवान्न’। 1944 में शंभु मित्रा ने बंगाल में ‘जबान बंदी’ खेला। बंगाल के अकाल से उभरे इस नाटक में ब्रिटिश शासन की क्रूरताओं और असहाय जनता की त्रासदी का मार्मिक दृश्यांकन किया गया। इसका हिंदी अनुवाद- ‘अंतिम अभिलाषा’ के नाम से नेमिचन्द्र जैन ने किया। पहले मुम्बई में और बाद में इलाहाबाद में इसका असरदार मंचन हुआ।

हिंदी प्रदेश में ऐसी गतिविधियों की शुरुआत अप्रैल 1942 से होने लगी थी। जाने-माने कवि-गायक विनयराय अपनी सांस्कृतिक टोली लेकर अप्रैल 1942 में आगरा आए। इसकी आशातीत

सफलता से प्रेरित होकर राजेन्द्र रघुवंशी ने मई 1942 में 'आगरा कल्चरल स्क्वाड' का गठन किया। इस पहल में बिशन खन्ना उनके साथ थे। इस अवसर पर उनका नाटक 'आज का सवाल' खेला गया। सन 1942 के भारतीय किसान सम्मेलन के मौके पर 'आगरा स्क्वाड' ने 'लोहे की दीवार' नामक नृत्य-नाटिका प्रस्तुत की। राजेन्द्र रघुवंशी द्वारा लिखे इस नाटक के 50 प्रभावी प्रस्तुतीकरण हुए। धीरे-धीरे आगरा इप्टा ने अग्रणी भूमिका अर्जित कर ली। एक स्थायी ग्रुप के तहत सन् 1944 से 47 में यह अजमेर, रतलाम, भरतपुर, टूंडला, फिरोजाबाद, कानपुर, लखनऊ, इलाहाबाद, बनारस, मैनपुरी, बस्ती, शाहजहाँपुर आदि नगरों-देहातों में अपने कार्यक्रम से जन-जागृति में जुटा रहा। इस दल का नेतृत्व राजेन्द्र रघुवंशी ने किया परन्तु उनके साथ बिशन खन्ना, वीरपाल सिंह, निरंजन सिंह, कुमारी रमा एवं उमा, लोकगीत लेखक कामता प्रसाद, तबला वादक, भूरालाल, गायक ए.सी. पांडेय, पुजारी उद्धव कुमार, अहमद अली आदि कलाकार भी शामिल थे।

उत्तर प्रदेश में गीत और नाटक के माध्यम से जनवादी चेतना पैदा करने में समर्पणशील मन्नु लाल त्रिपाठी 'शील' का नाम उल्लेखनीय है। पहले वे गाँधीवादी आंदोलन से संबद्ध रहे, उनके संबंध पृथ्वी थियेटर्स से भी रहे परन्तु प्रगतिशील विचारों के कारण इप्टा के साथ पूरी प्रतिबद्धता निभाई। कानपुर के नाटककार विश्वनाथ त्रिपाठी 'विश्व'-और अमरनाथ भट्टाचार्य के सतत् प्रयासों से 'विश्व' के लिखे नाटक 'स्वतंत्रता की बलिवेदी', 'हिन्दी हिन्दू हिन्दुस्तान' जैसे नाटकों ने शहर में सामाजिक जागृति लाने के प्रयास किए। डॉ. रामविलास शर्मा का नाटक 'कानपुर के हत्यारे' उस दौर में बहुत लोकप्रिय रहा। इसी तरह भैरव जोशी, डी.के. राय, कुमारी चन्द्रलेखा के नृत्य-नाटक 'गोवर्धन-धारण', 'कृष्णार्जुन युद्ध', 'सिद्धार्थ', 'बचपन और प्रभात' यथेष्ट जनप्रिय रहे। अलीगढ़-इप्टा और रायबरेली-इप्टा गुप्त रूप से किसान आन्दोलन से जुड़ी थीं। 1943-47 के आंदोलन में इप्टा की शाखाएँ लखनऊ, इलाहाबाद, वाराणसी, झांसी, बस्ती, गोरखपुर में भी स्थापित हुईं। इनके कार्यक्रमों में ब्रिटिश-शासन के साथ सत्ता से मिली-भगत कर रही पूँजीवादी-सामंतवादी ताकतों के विरोध में भी जुलूस, नारे, समूहगान और नाटक खेले गए।

विनय राय के नेतृत्व में सेण्ट्रल टूप 1946 में पटना आया; वहाँ के पटना मेडिकल कॉलेज में 'अमर भारत' नामक बैले का मंचन हुआ। इससे पहले जगदेव गुप्त और राहुल जी के प्रगतिशील भोजपुरी नाटक जनमानस में उथल-पुथल पैदा कर रहे थे। इप्टा की लहर से अनुप्रेरित मुजफ्फरपुर, भागलपुर, राँची, धनबाद, गया आदि में - शाखाएँ सक्रिय होने लगीं। बिहार में इप्टा आंदोलन पर्याप्त सक्रिय रहा।

इसमें कोई संदेह नहीं कि इप्टा की स्थापना में कम्यूनिस्ट पार्टी (सी.पी.आई.) की मुख्य भूमिका रही परन्तु उसका स्वरूप लचीला और दृष्टिकोण उदार होता गया। इस संदर्भ में पार्टी के सचिव पी.सी. जोशी के योगदान को अनदेखा नहीं किया जा सकता। इस तरह इप्टा में पार्टी के कुछ सदस्य थे पर अधिकांश लेखक-कलाकार इस आंदोलन के उदार-प्रगतिशील दृष्टिकोण के कारण इससे जुड़ते गए।

आजादी के बाद देश की परिस्थितियों और पार्टी की नीति से इन स्वतन्त्र रचनाकारों का मोहभंग हुआ और वे अलग होते गए। आजादी के पहले आंदोलन प्रबल था, देशभर में आदर-भाव था परन्तु संगठन की ओर इतना ध्यान नहीं गया। आजादी के बाद संगठन तो दृढ़तर होता गया पर इष्टा को अब आंदोलन कहना उपयुक्त न होगा। कैफ़ी आजमी के शब्दों में—“इष्टा एक शख्स के बूते पर नहीं, एक विचारधारा के बूते पर चलती है।” पहले वह एक आंदोलन था आज वह एक समृद्ध परम्परा है।